प्रकाशक--
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

मूल्य--१२) बारह रुपया

मुद्रक—
प० मदन मोहन शुक्ल 'मदनेश'
साहित्य-मन्दिर प्रेस, प्रा० लिमिटेड, लखनऊ।
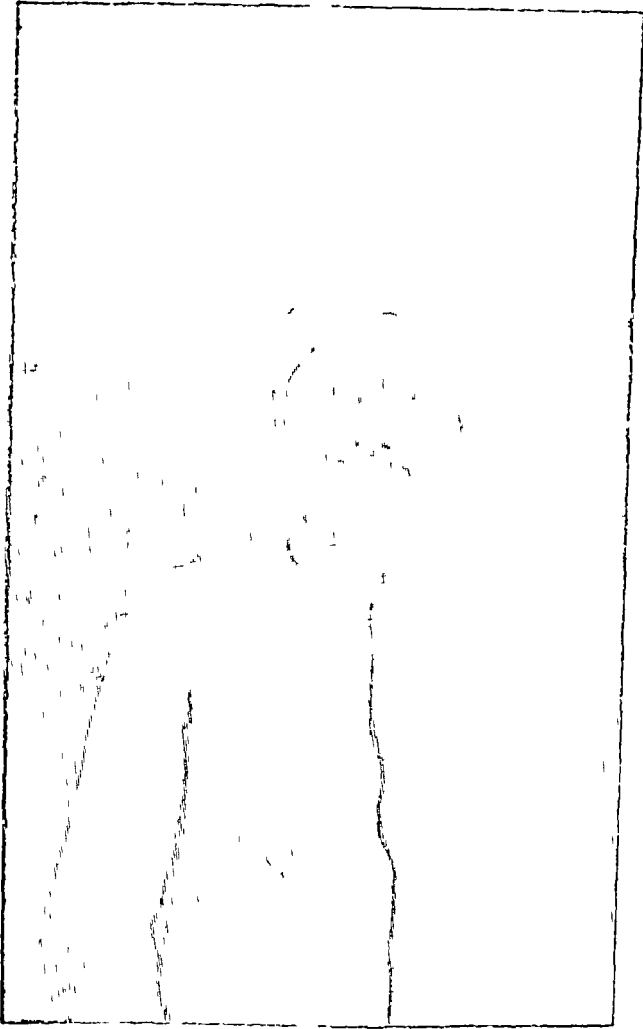
दानवीर स्वर्गीय सेठ भोलानाथ सेकसरिया

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ-शुगर-फैक्ट्री की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्च कोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में संग्रथित होंगे। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी साहित्य के भण्डार की समृद्धि करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय।

लखनऊ विश्वविद्यालय की ओर से साहित्य, विज्ञान और विविध शास्त्रों के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी योजना के अन्तर्गत प्रथम प्रकाशन है। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० भगीरथ मिश्र हमारे विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यापक हैं। इन्होंने अपने चार-पाँच वर्ष के परिश्रम, गम्भीर अध्ययन और खोज के उपरान्त यह ग्रन्थ लिखा है। इसमें हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास के साथ-साथ, संस्कृत और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की पृष्टभूमि के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का मूल्यांकन भी है। आधुनिक काव्य की विविध समस्याओं का भी इसमें अध्ययन है। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी, समालोचक और कवि—सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। फिर भी, इस ग्रन्थ को काव्यशास्त्र के क्षेत्र में, मैं तो पृष्ठभूमि-मात्र ही कहूँगा। हिन्दी में प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के क्रमिक विकास से सम्बन्धित अध्ययन की अभी आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सर्वमान्य काव्यादर्शों और सिद्धान्तों को निकाल कर उन्हें स्पष्ट करने और साथ ही साथ उठते हुए साहित्य की निजी स्वतन्त्र विचारधाराओं पर सहानुभूति-पूर्वक मनन करने से ही आधुनिक काव्य को प्रगति देने वाला काव्य-शास्त्र निर्मित हो सकता है।

हमें आशा है कि डॉ० मिश्र इसी मनोयोग से इस क्षेत्र की अन्य आवश्यक समस्याओं पर भी अपने अध्ययन प्रस्तुत करेंगे और इस प्रकार हिन्दी के भण्डार की पूर्ति करते हुये समुचित गौरव एवं ख्याति प्राप्त करेंगे।

नरेन्द्र देव

आचार्य श्री नरेन्द्र देव

एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट०

भूतपूर्व उपकुलपति

लखनऊ विश्वविद्यालय

वक्तव्य

काव्य जीवन का चित्र होता है। जीवन के स्वरूप और आदर्श युग-युग में बदलते रहते हैं। इस नियमानुसार स्वभावतः हमारे हिन्दी-साहित्य और काव्य का स्वरूप और आदर्श भी परिवर्तित हुआ है। हिन्दी-साहित्य का आरम्भ और विस्तार विदेशी शासन के अन्तर्गत हुआ जिसके कारण उसका पूर्ण स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया और अनुभूति एव ज्ञान के विविध और विस्तृत विषयों का उसमे समावेश नहीं हो सका, विशिष्ट विचार और भाव-धाराओं का ही उसमे विस्तार हुआ। आज, जब हम स्वतन्त्र हैं, और हमारे साहित्यिक विकास के अवरुद्ध मार्ग खुल गये हैं, तब हमारे साहित्य का रूप और उसमे अंकित आदर्श व्यापक, जीवनोन्मुख और स्वाभाविक होने चाहिए। साहित्य-सृजन और साहित्य-मनन के दृष्टिकोण मे उस परिवर्तन की आवश्यकता है जो नव-निर्मित साहित्य में नया जीवन, नयी स्फूर्ति, नई आशा और आकांक्षाये तथा उज्वल आदर्श भर सके। नवीन परिवर्तन की आवश्यकता रहते हुए भी प्राचीन साहित्य का ज्ञान आवश्यक है। पूर्ववर्ती साहित्य के विविध रूपों और विशिष्ट भाव-धाराओं का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि उनके ज्ञान-लाभ से ही हम नवीन मार्गों का अनुसंधान और नूतन विचार-वीथियों का निर्माण कर सकते हैं। इसीलिए आधुनिक विद्यार्थी को हिन्दी-साहित्य की विविध भाव-धाराओं का तथा साहित्य-शास्त्र के इतिहास का जानना अपेक्षणीय है।

भारतीय काव्यशास्त्र पर संस्कृत भाषा मे वडी व्यापक और गम्भीर दृष्टि से विचार हुआ है। रस और ध्वनि सिद्धातों तथा शब्दशक्ति का विशद विवेचन भारतीय साहित्य अथवा काव्य-शास्त्र की अपनी विशिष्ट और अनुपम देन है। साहित्य-सिद्धान्तों का अध्ययन साहित्य-सृष्टि और साहित्य-ज्ञान के लिए विशेष उपादेय सिद्ध हुआ है। हिन्दी काव्यशास्त्र, संस्कृत के सिद्धातों मे वहुत अधिक प्रभावित रहा। प्राचीन हिन्दी में इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए। परन्तु, अभी तक हिन्दी मे कुछ विखरे लेखों को छोड़ कर इस विषय का क्रमिक इतिहास मेरे देखने में नहीं आया, हाँ, संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय तो कुछ आधुनिक लेखकों ने हिन्दी में अवश्य दिया है। डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' नामक, प्रस्तुत ग्रन्थ इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है।

वक्तव्य

काव्य जीवन का चित्र होता है। जीवन के स्वरूप और आदर्श युग-युग में बदलते रहते हैं। इस नियमानुसार स्वभावतः हमारे हिन्दी-साहित्य और काव्य का स्वरूप और आदर्श भी परिवर्तित हुआ है। हिन्दी-साहित्य का आरम्भ और विस्तार विदेशी शासन के अन्तर्गत हुआ जिसके कारण उसका पूर्ण स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया और अनुभूति एव ज्ञान के विविध और विस्तृत विषयों का उसमे समावेश नहीं हो सका, विशिष्ट विचार और भाव-धाराओं का ही उसमे विस्तार हुआ। आज, जब हम स्वतन्त्र हैं, और हमारे साहित्यिक विकास के अवरुद्ध मार्ग खुल गये हैं, तब हमारे साहित्य का रूप और उसमे अंकित आदर्श व्यापक, जीवनोन्मुख और स्वाभाविक होने चाहिए। साहित्य-सृजन और साहित्य-मनन के दृष्टिकोण मे उस परिवर्तन की आवश्यकता है जो नव-निर्मित साहित्य में नया जीवन, नयी स्फूर्ति, नई आशा और आकांक्षाये तथा उज्वल आदर्श भर सके। नवीन परिवर्तन की आवश्यकता रहते हुए भी प्राचीन साहित्य का ज्ञान आवश्यक है। पूर्ववर्ती साहित्य के विविध रूपों और विशिष्ट भाव-धाराओं का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि उनके ज्ञान-लाभ से ही हम नवीन मार्गों का अनुसंधान और नूतन विचार-बीथियों का निर्माण कर सकते हैं। इसीलिए आधुनिक विद्यार्थी को हिन्दी-साहित्य की विविध भाव-धाराओं का तथा साहित्य-शास्त्र के इतिहास का जानना अपेक्षणीय है।

भारतीय काव्यशास्त्र पर संस्कृत भाषा मे बडी व्यापक और गम्भीर दृष्टि से विचार हुआ है। रस और ध्वनि सिद्धातों तथा शब्दशक्ति का विशद विवेचन भारतीय साहित्य अथवा काव्य-शास्त्र की अपनी विशिष्ट और अनुपम देन है। साहित्य-सिद्धान्तों का अध्ययन साहित्य-सृष्टि और साहित्य-ज्ञान के लिए विशेष उपादेय सिद्ध हुआ है। हिन्दी काव्यशास्त्र, संस्कृत के सिद्धातों से बहुत अधिक प्रभावित रहा। प्राचीन हिन्दी मे इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए। परन्तु, अभी तक हिन्दी मे कुछ बिखरे लेखों को छोड़ कर इस विषय का क्रमिक इतिहास मेरे देखने में नहीं आया, हाँ, संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय तो कुछ आधुनिक लेखकों ने हिन्दी में अवश्य दिया है। डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' नामक, प्रस्तुत ग्रन्थ इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय की ओर से साहित्य, विज्ञान और विविध शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी योजना के अन्तर्गत प्रथम प्रकाशन है। इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० भगीरथ मिश्र हमारे विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यापक हैं। इन्होंने अपने चार-पॉच वर्ष के परिश्रम, गम्भीर अध्ययन और खोज के उपरान्त यह ग्रन्थ लिखा है। इसमें हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास के साथ-साथ, सस्कृत और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की पृष्टभूमि के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का मूल्याकन भी है। आधुनिक काव्य की विविध समस्याओं का भी इस मे अध्ययन है। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी, समालोचक और कवि—सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। फिर भी, इस ग्रन्थ को काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे, मैं तो पृष्ठभूमि-मात्र ही कहूँगा। हिन्दी मे प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के क्रमिक विकास स सम्बन्धित अध्ययन की अभी आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दी काव्य के सर्वमान्य काव्यादशा और सिद्धान्तों को निकाल कर उन्हे स्पष्ट करने और साथ ही साथ उठते हुए साहित्य की निजी स्वतन्त्र विचारधाराओं पर सहानुभूति-पूर्वक मनन करने से ही आधुनिक काव्य को प्रगति देने वाला काव्य-शास्त्र निर्मित हो सकता है।

हमें आशा है कि डॉ० मिश्र इसी मनोयोग से इस क्षेत्र की अन्य आवश्यक समस्याओं पर भी अपने अध्ययन प्रस्तुत करेगे और इस प्रकार हिन्दी के भण्डार की पूर्ति करते हुये समुचित गौरव एवं ख्याति प्राप्त करेगे।

नरेन्द्र देव

आचार्य श्री नरेन्द्र देव
एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट०
भूतपूर्व उपकुलपति
लखनऊ विश्वविद्यालय

उपोद्घात

काव्य-साहित्य के गंभीर अनुशीलन के लिए काव्य-शास्त्र का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। काव्य का मर्म समझने के लिए यह ज्ञान जितना साहित्य के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है उतना ही एक उदीयमान कवि के लिए भी। कवियों का निर्माण नहीं होता, वरन् वे जन्मजात होते हैं; ऐसी साधारण उक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा अथवा स्वाभाविक शक्ति जिस व्यक्ति में होती है, वही कवि होता है। कथन सत्य है, परन्तु वीज रूप मे स्थित प्रतिभा को पोषित करने के लिए व्युत्पत्ति के रूप में काव्य-शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है। काव्य का शास्त्र अथवा काव्य के नियमों की समझ, स्वाभाविक प्रतिभा को उभारने और उसके प्रकाश के लिए उसी प्रकार अपेक्षित है जिस प्रकार ठोस भाषा-विवेक के लिये भाषा व्याकरण। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का कहना है कि स्वाभाविक शक्ति, लोक-शास्त्र और काव्यों के निरीक्षण और मनन से प्राप्त निपुणता और किसी काव्य-मर्मज्ञ से प्राप्त शिक्षा-द्वारा अभ्यास, ये बातें काव्य-सृजन में हेतु होती हैं —

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

पुष्ट और प्रौढ़ शैली, अभिव्यक्ति की निपुणता और रमणीयता, विचार और भावों का निबन्धन तथा औचित्यानौचित्य का विवेक, ये काव्यगुण, शास्त्र के अध्ययन और लोक-निरीक्षण से ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि के लिये काव्य-शास्त्र का अध्ययन वाछनीय है। उधर काव्यपारखी तथा काव्य-विनोदियों के लिये भी भाव और विचारों के आकलन में तथा अभिव्यक्ति-शैली को समझने में इस शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व है। किसी हुनर या कला के कौशल की प्रशंसानुभूति के लिए उस कला का सम्यक् शास्त्र-ज्ञान अपेक्षित है। काव्य-शास्त्र की यही उपयोगिता है कि वह काव्य-सौंदर्य की कवि-द्वारा सृष्टि मे तथा कलात्मक ढंग से कहे हुये भाव और विचारों की स्पष्ट अनुभूति और बोध में सहायक हो।

काव्य किसे कहते हैं, उसकी सत्ता के लिये किस गुण-विशेष में काव्यत्व निहित रहता है, भाव, अलंकार, छंद, गुणदोष, शब्द-प्रयोग आदि इस प्रकार की समस्याओं और विषयों के विवेचन में संस्कृत भाषा में काव्य-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र अथवा अलंकार

शास्त्र आदि नामों से बोधित काव्य विधा पर अनेक मत प्रचलित हुए हैं। और उन विभिन्न मतों के पोषक साहित्याचार्यों ने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। मुख्यत ये मत रस-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध हैं। रस सम्प्रदाय के आदि आचार्य नाट्यशास्त्रकार महामुनि भरत थे तथा इस मत के अन्य प्रमुख पोषक साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ। भामह, उद्भट और रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के प्रचारक हुए हैं। दंडी और वामन गुण-सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। आचार्य कुन्तक वक्रोक्तिवाद के व्याख्याता हैं और आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्ताचार्य ने ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रचलन किया है। काव्य की आत्मा रूप में भाव और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को लेकर चलने वाले इन विभिन्न आचार्यों ने काव्य शास्त्र के विविध विषयों की सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक दृष्टि से गम्भीर विवेचना की है जो संसार के साहित्य शास्त्र में अपना सानी नहीं रखती।

हिन्दी काव्य-साहित्य का इतिहास ईसा की बारहवीं शताब्दी से ही, प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों से अलग स्वतन्त्र रूप में आरम्भ हो जाता है। बारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी काव्य की विविध विचार और भावमयी धारा उत्कृष्ट गरिमा के साथ बही है, जिसने समस्त उत्तरी भारत को रस से सिक्त और अभिव्यंजना सौन्दर्य से मुग्ध किया था। परन्तु काव्य शास्त्र अथवा साहित्य शास्त्र विषय का हिन्दी में प्रतिपादन ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से ही आरम्भ होता है। सोलहवीं शताब्दी से पूर्व के हिन्दी आचार्यों ने काव्य शास्त्र के समस्त विषयों को लेकर संस्कृत आचार्यों के विभिन्न वादों के समन्वय रूप में अपने ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया। उन्होंने किसी सम्प्रदाय के पूर्व-आचार्य का सहारा लेकर काव्य शास्त्र के कुछ विषयों का ही प्रतिपादन किया है। इन आचार्यों में विशेष महत्ता की बात एक यह रही है कि काव्य शास्त्र विषयक लक्षणों के प्रतिपादन के साथ, काव्य उदाहरण उनके स्वनिर्मित हैं।

हिततरंगिणीकार कृपाराम हिन्दी अलंकार शास्त्र के आदि आचार्य हैं। केशवदास, मतिराम, चिन्तामणि, महाराज जसवन्त सिंह, कुलपति मिश्र सुखदेव मिश्र भूषण, देव, भिखारी दास, रसलीन तथा दूलह मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रमुख काव्यशास्त्राचार्य हुए हैं। वास्तव में हिन्दी साहित्य के भक्तियुग के बाद साहित्य शास्त्र विषयों पर लिखने वाले इतने आचार्य कवि हुए कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की लगभग दो शताब्दियाँ 'काव्यरीतिकाल अथवा 'अलंकारशास्त्रकाल' ही कहलाने लगी हैं।

हिन्दी के रीतिकालीन युग के बाद आधुनिक काल में हिन्दी का सम्पर्क पाश्चात्य यूरोपीय साहित्यों से हुआ और काव्यशास्त्र की परम्परागत समस्याओं के साथ

नवीन समस्याओं और नवीन दृष्टकोणों का हिन्दी में समावेश हुआ। इस युग के आलोचक के समक्ष संस्कृत के काव्य-लक्षण और मध्यकालीन हिन्दी काव्य के कुछ स्वतन्त्र काव्यादर्श तो थे ही, साथ ही अँग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी आदि विविध विदेशी साहित्यों के आदर्श भी थे। इन दोनों के समन्वय रूप में काव्य-शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन करने वाले हिन्दी के कुछ आधुनिक आचार्य भी हुए हैं। इनमें स्व० प० रामचन्द्र शुक्ल, स्व० डॉ० श्यामसुन्दरदास, श्री गुलाबराय आदि प्रमुख आचार्य हैं। कला काव्य में रागतत्व, काव्य में कल्पना तत्व काव्य की दार्शनिकता अभिव्यंजना जीवन और काव्य का सम्बन्ध, काव्य में युग-चेतना, आदि अनेक काव्य-समस्याओं पर विद्वानों के मौलिक लेख भी प्रस्तुत हो रहे हैं।

काव्य-शास्त्र के विविध अंगों का क्रमिक विकास, काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की विश्लेषणात्मक समालोचना काव्यशास्त्र के आचार्यों का परिचय तथा उनके रचना काल, ऐसे विषयों का प्रतिपादन करनेवाले काव्यशास्त्र के इतिहास की कमी, बहुत समय से हिन्दी संसार में खटक रही थी। हर्ष का विषय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डॉ० भगीरथ मिश्र ने इसकी पूर्ति का श्रीगणेश किया है। 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' इस ग्रन्थ का विषय है। लेखक ने हिन्दी के काव्यशास्त्र-आचार्यों का कालक्रमानुसार परिचय, उनके ग्रन्थों का विवरण और उनकी आलोचना दी है। हिन्दी के काव्यशास्त्राचार्यों का विवरण और विवेचन प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य की एक शास्त्रीय धारा का इतिहास लेखक ने सामने रख दिया है। यह ग्रन्थ काव्य के विविध अंगों के विकास का इतिहास नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसका रूप एक क्रमिक इतिहास का-सा न रहता। हिन्दी काव्यशास्त्र, चाहे वह मध्यकालीन हो, चाहे आधुनिक, उसमें स्वतन्त्र नवीन सिद्धान्तों का समावेश न्यून है। आधुनिक हिन्दी में प्रचलित अनेक विचारात्मक वाद काव्यशास्त्र की समस्याओं से सम्बन्धित नहीं हैं। वे सामाजिक और राजनैतिक भावधारा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों पर भी लेखक ने इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला है। ग्रन्थ का वह भाग जिसमें लेखक ने आरम्भ से लेकर आज तक के कवियों की रचनाओं के आधार पर उनके काव्यादर्श और काव्य सौन्दर्य-धारणा को स्पष्ट किया है मेरी दृष्टि में सबसे अधिक मौलिक और विशेष रूप से रोचक एवं महत्वपूर्ण है। छन्द प्रयोग के सम्बन्ध में भी लेखक के विचार नवीन हैं।

काव्यशास्त्र का यह विषय वास्तव में बहुत विस्तृत था। इसलिये लखनऊ विश्वविद्यालय की पीएच० डी० उपाधि के लिये प्रस्तुत किये इस थीसिस में मुझे इसका विषय सीमित करना पड़ा। काव्यांगों के अलग अलग विषयों को लेकर उनके

क्रमिक विकास का इतिहास डॉ० मिश्र की लेखनी द्वारा प्रस्तुत करने की मुझे आशा है। प्रस्तुत ग्रन्थ, डा० मिश्र के परिश्रम, विस्तृत अध्ययन और गम्भीर मनन का ग्रन्थ फल है जिस पर उन्हें पीएच० डी० की उपाधि मिली है। इस सफलता के लिए डॉ० मिश्र मेरी बधाई के पात्र हैं। इनकी सफल लेखनी से अन्य महत्त्वपूर्ण तथा गवेषणात्मक ग्रन्थों का सृजन हो, ऐसी मेरी मंगल कामना है।

—दीनदयालु गुप्त

डॉ० दीनदयालु गुप्त
एम० ए० एल-एल० बी० डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

साहित्य के इतिहास एक प्रयास में निर्मित नहीं होते। युगों के बीच अनवरत रूप से प्रयत्न करने वाले गवेषकों की सङ्कलित सामग्री के आधार पर इतिहास बनते हैं और फिर-फिर नया रूप ग्रहण करते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास निर्माण में अभी अधिक प्रयत्न नहीं हुए इसलिये अभी तक जो इतिहास हैं वे अधिकांश नींव की ही सामग्री प्रस्तुत करते हैं और वह भी पूरी नहीं। हिन्दी का साहित्य बहुत अधिक विस्तृत है, और ऐतिहासिक रूप में उसको समेटने का प्रयत्न तब किया गया है जब कि दश शताब्दियों के बीच निर्माण के साथ-साथ उसका अधिकांश नष्ट विनष्ट और लुप्त भी हो गया। और अब भी यदि कुछ सामग्री मिल सकी है तो इसका श्रेय जनता और जनशासकों की, इस साहित्य की ओर अभिरुचि को ही दिया जा सकता है। आधार के लिए उपयोगी कच्ची सामग्री देने वाले साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में महत्वपूर्ण शिवसिंह 'सरोज' और मिश्र बन्धु 'विनोद' हैं तथा अधिकांश इनके आधार पर कुछ पक्की सामग्री देने वाले ग्रन्थ डा० श्यामसुन्दर दास, प० रामचन्द्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा के इतिहास हैं। इस, शताब्दियों में विस्तृत साहित्य के साथ एक बार के प्रयत्न में पूर्ण न्याय कर सकना असम्भव है, जब कि आधारभूत प्राचीन सामग्री दिनोंदिन क्षीण होती जाती है*। ऐसी दशा में मुझे यह आवश्यक जान पड़ा कि हिन्दी साहित्य की एक एक धारा अथवा उसके एक एक युग के इतिहास निर्माण का कार्य जितनी शीघ्र हो सके प्रारम्भ कर देना चाहिए और इसी धारणा का प्रतिफल, हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास पर प्रस्तुत यह निबन्ध है।

यह कह देना भी यहाँ पर आवश्यक है कि मुझे इस बीच में यह निश्चय होगया है कि प्राचीन साहित्यिक सामग्री जितनी शीघ्रता से क्षीण तथा 'आधुनिकों' की दृष्टि में अनावश्यक सिद्ध हो रही है उतनी शीघ्रता से साहित्य के प्रेमी और विद्वान उसका उपयोग और नव निर्माण नहीं कर रहे हैं; अतः मुझे इस निबन्ध में निश्चिन्त स्वाभाविक गति को छोड़कर द्रुत गति ग्रहण करनी पड़ी जिससे प्राचीन सामग्री के महत्व को समझ कर उसका उपयोग अन्य दिशाओं में भी किया जाय। साथ ही, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह भी प्रथम प्रयास है। अतः इस निबन्ध में 'काव्य शास्त्र का इतिहास' की पूर्णता का

---

*हर्ष की बात है कि अब काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उद्योग से 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' निकल रहा है।

भी दावा नहीं किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य है कि इसमें इस विषय पर सभी उपलब्ध और आवश्यक सामग्री का परिचय एवं उसके महत्व को अंकित करने का एक प्रयास किया गया है जिसके द्वारा हिन्दी साहित्य प्रेमियों के सामने कुछ नितान्त नवीन लेखक और उनके ग्रन्थ तथा कुछ अपरिचित अथवा अर्द्ध-परिचित ग्रन्थों के विवरण आ सकेंगे।

इस विषय को लेकर विशेष रूप से इस दिशा में लिखा जाने वाला प्रथम ग्रन्थ डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास" (Evolution of Hindi Poetics) है पर उसमें काव्य शास्त्र का इतिहास कुछ ही पृष्ठों में है और वह भी पृष्ठभूमि के रूप में। उसका मुख्य विषय अलङ्कारों के विकास का अध्ययन है जिसमें डा० रसाल ने एक एक अलङ्कार को लेकर भिन्न भिन्न हिन्दी आचार्यों के मत से उसके लक्षण लिखे हैं अतः उनका ग्रन्थ प्रस्तुत निबन्ध के विषय से नितांत भिन्न है। दूसरा ग्रन्थ जो इस विषय से सम्बन्धित है वह डा० छैलबिहारी का "आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से रस की व्याख्या" (Interpretation of Rasa from the Point of view of Modern Psychology) है पर इसका भी विषय हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास से भिन्न है। तीसरा ग्रन्थ जिसमें काव्य शास्त्र से सम्बन्धित एक अंग का अध्ययन किया गया है वह डॉ० जानकीनाथ सिंह का 'हिन्दी पिंगल' है, पर इसमें भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रधान नहीं है और फिर पिंगल के ग्रन्थों का अध्ययन इस निबन्ध में इस लिए छोड़ दिया गया है कि यह विषय काव्य के व्याकरण से सम्बन्धित है और काव्य प्रकाश साहित्य दर्पण आदि ग्रन्थों में पिंगल का विषय नहीं लिया गया। इसके और कारण निबन्ध की भूमिका में दिए गये हैं[1]। इस प्रकार यत्र-तत्र ग्रन्थों की भूमिका में पायी जाने वाली अधूरी काव्यशास्त्र के इतिहास की सामग्री के अतिरिक्त और कोई सामग्री एक साथ एक ग्रन्थ में क्रम से उपलब्ध न थी। साथ ही साथ हिन्दी की उच्च कक्षाओं में 'काव्य शास्त्र' का विषय लगभग सभी विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम में है अतः 'हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास' की बड़ी आवश्यकता थी। अंग्रेजी में आज सेंट्सबरी का 'आलोचना का इतिहास' (History of Criticism by G Saintsbury) तथा 'लोसाई क्रिटिसी' (Loci Critici) और 'डे' का संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास (Studies in the History of Sanskrit Poetics by S K De) ऐसे ग्रन्थ हैं जो अंग्रेजी भाषा में पाश्चात्य काव्य शास्त्र तथा संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास क्रमशः प्रस्तुत करते हैं। अतएव हिन्दी काव्यशास्त्र

---

१ विषय प्रवेश, पृ० ७

का इतिहास लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई, क्योंकि काव्य-शास्त्र के कोरे सिद्धान्त जान लेना और भाषा में उन सिद्धान्तों की चर्चा किस प्रकार से होती रही है, यह न जानना विषय का अधूरा और अव्यवहारिक ज्ञान ही प्राप्त करना है। अपनी भाषा के काव्य शास्त्र के इतिहास के पढ़ने पर हम काव्य-शास्त्र की समुचित व्याख्या और उसके लिए आवश्यक दृष्टि प्राप्त करते हैं। अतः इस कमी की पूर्ति करना भी आवश्यक था।

हिन्दी काव्य शास्त्र के लेखकों पर कुछ प्रकाश हिन्दी साहित्य के इतिहास में डाला गया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में ७४ रीति-ग्रन्थकार कवियों एवं उनके ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय है, पर है यह समस्त साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ही। उसके अन्तर्गत वर्ण्य विषय का नाममात्र ही पाया जाता है। विवेचन तो दूर रहा, परिचय भी पूरा नहीं है। 'मिश्रबन्धु विनोद' के चारों खण्डों में १०० के लगभग कवियों के नाम मिलते हैं जिनमें से २०-२५ के विवरण को छोड़कर शेष का तो नामोल्लेख मात्र है। उनके वर्णन में नाम रचना-काल ग्रन्थ, वर्ण्य विषय के परिचय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हाँ, यह आवश्यक है कि अधिकांश लेखकों के नाम इसमें मिल जाते हैं। शुक्ल जी के इतिहास में रीतिग्रन्थकार के रूप में एक साथ क्रमबद्ध वर्णन रीतिकालीन काव्य शास्त्र के लेखकों का मिलता है पर 'मिश्रबन्धु विनोद' में काव्य शास्त्र के लेखकों का विवरण अलग नहीं है अन्य लेखकों के साथ ही बीच-बीच में ये विवरण आये हैं। हाँ, द्वितीय भाग में पूर्वालङ्कृत और उत्तरालङ्कृत प्रकरणों के रूप में इस काल के लेखकों के नाम दिए गये हैं, पर वर्णन में सभी प्रकार के कवि आये हैं। अतः यहाँ भी एक साथ क्रमबद्ध तथा पूर्ण विवरण नहीं प्राप्त होता। प्रस्तुत निबन्ध में इन इतिहासों और खोज रिपोर्टों के आधार पर तथा अन्य व्यक्तिगत एवं राज-पुस्तकालयों से प्राप्त सूचना के सहारे, १५७ ग्रन्थों के नाम और अधिकांश के अपनी आँखों देखे विवरण प्राप्त कर, ऐतिहासिक क्रम से उनके वर्णन दिए गये हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में दिए गये ग्रन्थों में से बारह तो ऐसे हैं जिन ग्रन्थों के अथवा लेखक और ग्रन्थ दोनों के, नामों तक का उल्लेख अभी तक के किसी साहित्य के इतिहास में नहीं है और न कोई अन्य विवरण कहीं से मिलता है। उदाहरण के लिए गोप के 'रामचन्द्र भूषण' और 'रामचन्द्राभरण' ग्रन्थों का विवरण कहीं नहीं मिलता। इनके 'रामालंकार' ग्रन्थ का उल्लेखमात्र ही 'मिश्रबन्धु विनोद' में हुआ है। लेखक को ये ग्रन्थ दतिया और टीकमगढ़ के राज पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप में देखने को प्राप्त हुए। कृष्णभट्ट देवऋषि की 'शृंगार रस माधुरी', रस खाँ का 'नायिका भेद', उजियारे कवि के 'रसचन्द्रिका' और 'जुगुलरस प्रकाश' जनराज का 'कविता रस विनोद' तथा सेवादास का

'रघुनाथ अलंकार' एवं 'रस दर्पण' ग्रन्थों का उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता। प्रस्तुत निबंध के लेखक को ये ग्रंथ डॉ० भवानी प्रसाद याज्ञिक के सौजन्य द्वारा याज्ञिक संग्रहालय' से प्राप्त हुए, और उन्हीं हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर ही इनका विवरण दिया गया है। आचार्य चिन्तामणि के 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य प्रकाश', 'काव्य विवेक' 'रस मंजरी आदि ग्रन्थों का तो उल्लेख मात्र मिलता है, पर उनके ग्रन्थ 'शृंगार मंजरी' का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं है। लेखक ने दतिया राज-पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में इस ग्रन्थ को देखा और उसी के आधार पर इसका विवरण प्रस्तुत निबंध में दिया गया है। इसी प्रकार काव्य शास्त्र पर लिखे गये एक वृहत् और महत्वपूर्ण ग्रन्थ "रामदास कृत कविकल्पद्रुम' का भी विवरण अप्राप्य है इसका भी विवेचन लेखक ने दतिया-राज पुस्तकालय में देखी प्रति के आधार पर किया है। नारायण कवि की "नाट्य दीपिका हिन्दी में लिखी, नाटक पर प्रथम पुस्तक है, पर इसका भी कहीं उल्लेख नहीं है। लेखक ने दतिया के किले में स्थित पुस्तकालय से इसकी प्रति प्राप्त की और इसका विवरण दिया है।

इन नवीन ग्रन्थों के अतिरिक्त सात आठ ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी हैं, जिनका हिन्दी के इतिहासों में नामोल्लेख मात्र तो मिलता है, पर महत्वपूर्ण होते हुए भी उनका विवरण नहीं मिलता है। अब लेखक ने मुद्रित या हस्तलिखित रूप में इन ग्रन्थों को देखकर इनका आवश्यक विवरण उपस्थित किया है। ये ग्रन्थ हैं—चिन्तामणि का कविकुल कल्पतरु, याकूबखाँ का रसभूषण, राय शिवप्रसाद कृत रसभूषण रणधीरसिंह का काव्यरत्नाकर, जगतसिंह का साहित्यसुधानिधि, रसिकसुमति का अलंकारचन्द्रोदय, सोम कवि की नवलरस चन्द्रोदय और लछिराम का रावणेश्वर कल्पतरु। ये ग्रन्थ भी दतिया और टीकमगढ़ के राज पुस्तकालयों याज्ञिक संग्रहालय तथा पं० कृष्णबिहारी जी के पुस्तकालय से प्राप्त हुए। इनमें कविकुलकल्पतरु तथा रावणेश्वर कल्पतरु तो मुद्रित हैं अन्य सब हस्तलिखित हैं।

इसके साथ ही प्राप्त ग्रन्थों की प्रतियों में और इतिहासकारों के लेखों में दिये हुए रचना काल में कहीं कहीं भेद मिला है जैसे समनेशकृत 'रसिकविलास' का रचनाकाल मिश्रबन्धु विनोद[१] में सं० १८४७ दिया हुआ है, जब कि हस्तलिखित प्रति में जो दतिया में प्राप्त हुई थी रचनाकाल सं० १८२७ वि० दिया हुआ है (सवनु ऋषि जुग वसु ससी) इसी प्रकार रतनेश या रतन कवि के 'अलंकार दर्पण' का रचना काल, शुक्ल जी के

---

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ ८१०।

इतिहास में[1] सं० १८२७ दिया हुआ है जब कि प्राप्त प्रति में वही १८४७ वि० है। इस प्रकार जहाँ भी सम्भव हो सका है वहाँ पर ग्रन्थ का स्वयं देखकर तब उस पर कुछ लिखा गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि उपयुक्त सामग्री नितान्त नवीन है जिसकी सूचना इतिहास ग्रन्थों में या तो है ही नहीं और यदि है भी तो अधूरी है या त्रुटि-पूर्ण है।

जिस सामग्री का उल्लेख या विवरण इतिहास ग्रन्थों में मिलता है, उसका भी विवरण प्रस्तुत निबन्ध में उन्हीं इतिहास-ग्रन्थों से नहीं ले लिया गया वरन् मूल ग्रन्थों का—मुद्रित या हस्तलिखित रूप में जैसे भी वे प्राप्त हो सके हैं—लेखक ने आद्योपान्त पूर्ण अध्ययन करने के उपरान्त ही उनका विवेचन या विवरण उपस्थित किया है। हाँ जो ग्रन्थ कहीं से भी नहीं मिल सके उनका विवरण अवश्य इतिहासों के आधार पर है। पर ऐसे ग्रन्थ बहुत कम हैं और जहाँ से विवरण लिया गया है उसका यथास्थान उल्लेख उस पृष्ठ के नीचे दी गई टिप्पणी में कर दिया गया है। अत इस भाग में भी अध्ययन के अधिकांश आधार, मूल ग्रन्थ हैं, उनकी अन्य ग्रन्थों में प्राप्त व्याख्या या आलोचना ही केवल नहीं। सहायक ग्रन्थों के अतिरिक्त १५७ मूल ग्रन्थ की प्राप्ति और अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन में क्या कठिनाई हो सकती है, यह प्रत्येक विद्वान् और अन्वेषक समझ सकता है। पर इतना कथन आवश्यक है कि लेखक को इस सामग्री के जुटाने में दतिया, टीकमगढ़, चरखारी छतरपुर, रीवाँ के राज पुस्तकालयों तथा प० वासुदेव (दतिया) श्री रिछोरियाजी (बरुआसागर), डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक (लखनऊ), प० कृष्णबिहारी मिश्र (सीतापुर) आदि सज्जनों के निजी पुस्तकालयों के द्वार खटखटाने पड़े हैं और इसके लिये लेखक राज पुस्तकालय के अधिकारियों तथा उपरोक्त साहित्य प्रेमी सज्जनों का हृदय से आभार मानता है।

सामग्री की नवीनता और मौलिकता के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। अब सामग्री के उपयोग और विवेचन के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख आवश्यक है। प्रस्तुत निबन्ध छ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के रूप में भूमिका है। इसके अन्तर्गत पाश्चात्य तथा संस्कृत ग्रन्थों में प्राप्त काव्यशास्त्र-विषयक धारणा के द्वारा विषय की सीमा और स्वरूप निश्चय करने का प्रयत्न है। अत इस भाग में तो अंग्रेजी और संस्कृत में पाये जाने वाले अनेक ग्रन्थों के आधार पर विषय का

---

१. हिन्दी शुक्ल जी का इतिहास, पृ० ३५३।

स्पष्ट किया गया है। हाँ इसके बीच पाश्चात्य और संस्कृत की धारणाओं की जो तुलना की गई है वह लेखक का मौलिक प्रयास है और उसमें किसी भी ग्रन्थ से सहायता नहीं ली गई।

द्वितीय अध्याय, हिन्दी काव्यशास्त्र के 'प्रारम्भ और विकास' पर है। इसके अन्तर्गत हिन्दी में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा और उनके आधारों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है, और इसके पश्चात् हीं ग्रन्थों की विषयानुसार कालक्रम से सूची उपस्थित की गई है। इन काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन को हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालों में विभक्त कर उनका अध्ययन किया गया है। प्राचीन हिन्दी के ग्रन्थों में काव्यशास्त्र की सामग्री पर भी प्रकाश डाला गया है जिसका उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहासों में नहीं हुआ। इसके लिखने में श्री राहुल सांकृत्यायन की हिन्दी काव्यधारा गुलेरी जी के प्राचीन हिन्दी पर लेख तथा श्री रामसिंह तोमर के 'वीर' साप्ताहिक में छपे लेखों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है, लेखक इन सबका परम कृतज्ञ है। इसके पश्चात् भक्तिकालीन लेखकों, विशेष कर केशव दास का विवेचन है। केशव का विवेचन लेखक का अपना और मौलिक विवेचन है। इसमें थोड़ी सहायता 'केशव का काव्य कला' से प्राप्त हुई है पर कहीं भी केशव का विवेचन इसके पूर्व इस विषय पर इतना विस्तृत नहीं मिलता जितना इस निबन्ध में दिया गया है।

रीतिकालीन ग्रन्थों का अध्ययन दो अध्यायों में विस्तृत है। द्वितीय में प्रारम्भ और विकास का अध्ययन है और तृतीय में उत्कर्ष का। देव के समय (सं० १७५० के लगभग) तक इसका विकास और इसके पश्चात् सं० १९०० वि० तक काव्यशास्त्र का उत्कर्ष रहा और जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस भाग में भी विवेचन लेखकों के मूल ग्रन्थों के आधार पर ही है जिसमें ग्रंथ के रचना-काल, विषय विवरण, विवेचन तथा महत्त्व पर अपना मत प्रकट किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के दो खण्ड हैं। एक खण्ड में तो काव्यशास्त्र पर प्राचीन परम्परा के रूप में लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन है और दूसरे खण्ड में नवीन दृष्टिकोण से काव्यशास्त्र के अंगों पर लिखे गये ग्रन्थों का विवेचन है। इसमें अनेक लेखों से लेखकों के सिद्धान्त और उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यह विवेचन लेखक का अपना विवेचन है और यह आलोचना की आलोचना है। शुक्ल जी और 'सुधांशु' जी के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेखक ने विस्तृत व्याख्या कर यथाशक्ति उन्हें स्पष्ट करके रखने का प्रयत्न किया है।

पंचम अध्याय की आधार सामग्री पूर्व-परिचित है, पर इस सामग्री के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष नवीन हैं। इसके भी दो भाग हैं। रीति-परम्परा के ग्रन्थों में तो अधिकांश संस्कृत के आधार पर हिन्दी के उदाहरणों से युक्त हिन्दी में लक्षणों के अनुवाद से ही पाये जाते हैं, अतः उनके द्वारा हिन्दी लेखकों के काव्य संबंधी मौलिक और निजी विचार कम स्पष्ट हो पाये हैं। इस अध्याय के प्रथम भाग में हिन्दी कविता के प्रारम्भ से लेकर अब तक कवियों की अपनी रचनाओं में पाये जाने वाले काव्य शास्त्र पर क्या विचार हैं और कविता के विषय में उनके क्या सिद्धांत हैं—इन बातों का अध्ययन उपस्थित किया गया है। प्राचीन हिन्दी के काव्यों, तथा जायसी, सूर, तुलसी, सेनापति-घनानन्द आदि के कविता-सम्बन्धी अपने विचारों को उनकी कविता के बीच से ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया गया है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी काव्य शास्त्र के बीच इन विचारों का अधिक महत्व है। इसके पूर्व किसी के द्वारा ऐसा प्रयत्न मेरी समझ में नहीं किया गया है। इस विकास का एक व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करना काव्य-सम्बन्धी युग-युग में बदलते आदर्शों के विकास को सामने रखना है। रीति काल तक के काव्यादर्शों का अध्ययन प्रथम खण्ड में करने के उपरान्त, द्वितीय खण्ड में आधुनिक कालीन काव्यादर्शों के स्वरूप का अध्ययन है। इसमें काव्य शास्त्र के विविध प्रसंगों को लेकर उन पर आजकल के कवियों की जो धारणायें हैं उनको स्पष्ट करने का अपना प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय का यह अंश आधुनिक कविता में काव्यशास्त्र के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

छठवें अध्याय में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इन समस्याओं को लेकर विद्वान यदि अपने विचार प्रकट करें, तो काव्य शास्त्र का आधुनिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो सकता है। लेखक ने अपने विचार इन समस्याओं पर प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ ही साथ आधुनिक काव्य में प्रचलित अनेक वादों का काव्यशास्त्र के साथ जो सम्बन्ध है उसे भी बतलाने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के मत से ये 'वाद' प्रवृत्तियाँ हैं, काव्यशास्त्र के पूरे सिद्धान्त नहीं। इसके अतिरिक्त काव्य के प्रकार और उनकी परिभाषायें भी दी गई हैं और सबके अंत में उपसंहार के रूप में काव्य शास्त्र पर तथ्यपूर्ण ग्रन्थों की आवश्यकता तथा काव्य शास्त्र के महत्व को सामने रखकर इस निबन्ध की समाप्ति हुई है।

चतुर्थ और पंचम अध्यायों में यत्र तत्र आवश्यक उद्धरणों की सामग्री के अतिरिक्त जिसका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है, लेखक ने विवेचन, वर्गीकरण, सिद्धान्त और निर्णय आदि में किसी का आधार न लेकर स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किये हैं। अतः ये

अध्याय विस्तृत न होकर संक्षिप्त ही हैं। प्रस्तुत निबन्ध की मौलिकता और नवीनता पर मुझे इतना ही कहना है। विशेष जो कुछ है, सब सामने है।

इस प्रकार प्रथम, दूसरे और तीसरे अध्याय में यत्र-तत्र बिखरी सामग्री के आधार पर काव्य शास्त्र या हिन्दी-साहित्य के आदि से आधुनिक काल तक का इतिहास उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ अध्याय में हिन्दी काव्य में स्वच्छन्द रचनात्मक ग्रन्थों में पाये जाने वाले काव्यादर्शों का विकास दिखाते हुए, उसी की पृष्ठभूमि देकर, और आधुनिक कालीन काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर कवियों के विचार प्रस्तुत कर, वर्तमान काव्यशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। प्रथम तीन अध्याय सूचनात्मक अधिक हैं तो अन्तिम तीन अध्याय विवेचनात्मक। उनमें यदि इतिहास की सामग्री सुरक्षित होती है, तो इनमें आधुनिक साहित्य की गति विधि, प्रवृत्ति और काव्यशास्त्र-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट होती हैं और साहित्य के रचयिताओं को एक ऐसा दृष्टिकोण मिलता है जो काव्यशास्त्र के महत्व को स्पष्ट करे। अतः इस निबन्ध के अन्तर्गत इन छहों अध्यायों की आवश्यकता थी। इस निबन्ध का प्रारम्भ यद्यपि सं० १९९८ में ही कर दिया गया था पर सामग्री की प्राप्ति में कठिनाई और विलम्ब के कारण ही इतने दीर्घ काल में यह पूरा हो सका। लेखक का यह प्रयत्न, लघु और अपूर्ण ही है, पर उसे आशा है कि अन्य लेखक एक एक काल या धारा का इतिहास लिखकर शीघ्रातिशीघ्र प्राचीन सामग्री का उपयोग करेंगे।

इस ग्रन्थ के लिखने में अनेक सज्जनों लेखकों, और विद्वानों से सहायता प्राप्त हुई है, लेखक उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है। विशेष रूप से वह लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, प्रोफेसर डा० दीनदयालु जी गुप्त का आभार मानता है जिनके पथ प्रदर्शन और प्रोत्साहन से ही यह ग्रंथ पूरा हुआ है। साथ ही साथ वह डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और मित्रबन्धुओं का भी कृतज्ञ है जिन्होंने अपने सुझावों, विवेचनों, विचारों और सम्मतियों से इस ग्रंथ को मूल्यवान् बनाया। अन्त में सबसे अधिक वह लखनऊ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव जी का ऋणी है जिन्होंने न केवल अपने वक्तव्य से इस ग्रंथ का गौरव बढ़ाया है, वरन् इसे लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रथम हिन्दी प्रकाशन के रूप में स्थान देकर, हिन्दी साहित्य के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया है।

पुस्तक में मुद्रण-सम्बन्धी भूलों के लिए लेखक विद्वानों और पाठकों का क्षमा प्रार्थी है। पुस्तक के इस रूप में प्रकाशित होने का मूल भूत श्रेय सेठ श्री शुभकरन सकसरिया,

तथा भी दधीचि जी को है, जिनके दान और प्रयत्न से ही यह प्रकाशन सुलभ हो सका है। लेखक इनका हृदय से आभारी है। आशा है ये इसी प्रकार विश्वविद्यालय क हिन्दी-प्रकाशन का सहायता देते रहेंगे। यदि इस ग्रथ स साहित्यिकों को कुछ परितोष हो सका, तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

भगीरथ मिश्र

द्वितीय संस्करण

'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' अपने द्वितीय संस्करण में विज्ञ पाठकों के सम्मुख आ रहा है। काव्य-शास्त्र और साहित्य—दोनों ही के अध्येताओं ने इसका स्वागत किया, यह मेरे लिए हर्ष और गौरव की बात है।

इस द्वितीय संस्करण में इस बीच उपलब्ध प्राचीन सामग्री और निर्मित नवीन सामग्री को भी सम्मिलित कर दिया गया। ग्रन्थ का कलेवर न बढ़े इस दृष्टि से कहीं-कहीं संक्षेप में ही परिचय और विवेचन को प्रस्तुत किया गया है। जिन प्राचीन परम्परा के ग्रंथों के विवरण को इसमें सम्मिलित कर लिया गया है वे हैं —

चिंतामणि कृत शृंगार मंजरी का विवेचन, करनकवि कृत रस कल्लोल गोविंदकृत कर्णाभरण, चन्ददास कृत शृंगार सागर शिवनाथ कृत रसवृष्टि रामसिंह कृत रसशिरोमणि सेवादास कृत रघुनाथ अलंकार व रसदर्पण प्रतापसाहि कृत काव्य विलास, नवीन कृत रंग तरंग, चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत रसिकविनोद, सेवक कृत वाग्विलास, लछिराम कृत रामचन्द्र भूषण, ब्रजेश कृत रसरसांग निर्णय आदि।

काव्य-शास्त्र का स्वरूप सतत विकासशील है। अतः प्रत्येक संस्करण में उसका इतिहास भी विकसित ही होता जायेगा। सहृदय समालोचकों और विज्ञ पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन यह है कि वे मुझे अपने बहुमूल्य सुझावों तथा नवीन सामग्री से अवगत कराते रहने की कृपा करें, तभी यह इतिहास-लेखन का काम अधिक पूर्ण हो सकेगा। इस बीच कुछ महानुभावों ने मुझे सामग्री और सुझावों को भेजने की कृपा की थी मैं उनका कृतज्ञ हूँ और उनका यथास्थान पुस्तक में नामोल्लेख भी कर दिया गया है। अनुक्रमणिका तैयार करने में मुझे अपने प्रिय शिष्य श्री प्रभाकर शुक्ल से तत्पर सहायता मिली है इसके लिए मेरी शुभ कामनायें उनके साथ हैं। आशा है कि 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' अपने नवीन संस्करण में अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

भगीरथ मिश्र

माघ पूर्णिमा २०१५ वि

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश (१—३१)

द्वितीय अध्याय

हिंदी काव्यशास्त्र का प्रारम्भ और विकास (३३—१०३)

तृतीय अध्याय

रीति ग्रन्थों का विस्तार और उत्कर्ष (१०५—१७४)

चतुर्थ अध्याय

काव्यशास्त्र पर आधुनिक साहित्य (१७५—३३७)

पचम अध्याय

कवियों की स्वच्छन्द रचनाओं में प्राप्त काव्यादर्शों का अध्ययन(३३८ ४०४)

षष्ठ अध्याय

परिशिष्ट सहायक ग्रंथ-सूची

अनुक्रमणिका

गुणादानपर कश्चिद्दोषादानपरोऽपर ।
गुणदोषाहृतित्यागपर कश्चन भावक ॥
—राजशेखर ।

यद्यपि जाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्र ॥
—केशवदास ।

यदपि दोष बिनु गुन सहित अलकार सो लीन ।
कविता बनिता छबि नही रस बिन तदपि प्रवीन ॥
—भूपति ।

सरस कविन के चित्त को बेधत द्वै सो कौन ।
असमझवार सराहिबो, समझवार को मौन ॥
—लोकोक्ति ।

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥
—तुलसीदास ।

———

१

विषय-प्रवेश

काव्यशास्त्र का स्वरूप, विषय और सीमा

संस्कृत भाषा में काव्य और साहित्य शब्द बहुधा समान अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं[1]। 'साहित्य-दर्पण' में काव्य के दृश्य और श्रव्य भेदों के पश्चात्, श्रव्य के गद्य एवं पद्य दो भेद बताकर गद्य को भी काव्य की सीमा में रखा गया है। यह गद्य रसात्मक वाक्य अवश्य है किन्तु विस्तृत विवेचन, विश्वनाथ तथा अन्य आचार्यों के द्वारा, पद्य काव्य का ही किया गया है क्योंकि काव्य के लक्षण पद्य काव्य में ही विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं। काव्य के विविध स्वरूपों का व्यापक विवेचन करने वाले नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश प्रभृति ग्रन्थों को अलंकार-ग्रन्था

१—साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणन्नखादन्नपिजीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

में साहित्य शब्द व्याकरणाचार्य भर्तृहरि द्वारा काव्य के अर्थ में ही लिखा गया है क्योंकि जन-साधारण के लिए साहित्य शास्त्र के ज्ञान की सम्पन्नता असम्भव है जबकि काव्य का आस्वादन सभी के लिए सम्भव है। अतः साहित्य का अर्थ यहाँ काव्य ही हो सकता है। इसी प्रकार साहित्य-दर्पण, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों के नामों में भी इस बात की पुष्टि होती है।

डा० भगवानदास अपने लेख 'रस मीमांसा' में इस प्रकार लिखते हैं—

'हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्' । तथा
'सह एव सहितम् तस्य भावः साहित्यम्' ॥

के नाम से ही निर्दिष्ट किया जाता है और इन सभी के विषय को अलंकार-शास्त्र की संज्ञा दी जाती है। किन्तु कुछ व्यावहारिक रूपों में यह विदित हो जाता है कि अलंकार-शास्त्र में अलंकार के विशेष विवेचन का ही अभिप्राय निकलता है। काव्य के स्वरूप एवं उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्यशास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है क्योंकि इसके अन्तर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी समाविष्ट रहते हैं। साहित्य-शास्त्र से भी काम चल सकता है,[1] किन्तु आजकल साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अन्तर है। साहित्य शब्द को बहुधा हम शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं रमणीय सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। अतः साहित्य शास्त्र से काव्यशास्त्र शब्द हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक सार्थकता के साथ करता है।

इस प्रकार हम काव्यशास्त्र का प्रयोग उस वैज्ञानिक निरूपण के लिए कर सकते हैं जिसमें काव्य अथवा कविता के स्वरूप, भेद, समस्याओं आदि पर व्यापक रूप से

साहित्य शब्द का अब रूढ़ अर्थ है—ऐसा वाक्य समूह, ऐसा ग्रन्थ जिसको मनुष्य दूसरों के सहित गोष्ठी में अथवा अकेला ही सुने पढ़े तो उसको रस आवे स्वाद मिले, आनन्द हो तृप्ति तथा आप्यायन भी हो। बिना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है।"

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृष्ठ ३

नोट—साहित्य कहीं-कहीं काव्यशास्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

(१) *साहित्य—(सहित + य—भाव इत्यादि)* सं० स्त्री समता, मिलना, शब्दशास्त्र, काव्यशास्त्र सम्बन्ध विशेष, एक क्रियान्वयित्व।"

—प्रकृतिवाद (बंगला शब्दकोष-साहित्य शब्द के अर्थ)।

(२) राजशेखर के समय (९०० ईसवी के लगभग) इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के अर्थ में होने लगा था।

—अलंकार पीयूष उत्तरार्द्ध पृष्ठ १

पर अधिकांश यह काव्य का ही पर्याय है देखिए काव्य प्रभाकर, ११ मयूख पृ० ६२२, में निम्नलिखित वाक्य

बहुधा साहित्य और काव्य ये दोनों शब्द एकार्थवाची ही लेखन में आते हैं।

१—*जिस शास्त्र में काव्य का तत्त्व रहस्य मर्म मूल-रूप तथा उसके अवांतर भेद* सब परस्पर स्फुट रूप में जान पड़ें और जिससे कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति आवे तथा अपनी कविता करने में सहायता मिले, वह साहित्य-शास्त्र है।"

डा० भगवानदास के रस मीमांसा लेख से द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३

विचार किया गया हो। इसमें किसी भी भाषा की कविता के आधार पर उसका स्वभाव निरूपण, प्रवृत्ति-निर्धारण आदि से लेकर ऐसे सर्वकालीन सर्वव्यापी सिद्धान्तों तक का समावेश हो सकता है जो कि भविष्य में होने वाली रचनाओं के पथ-प्रदर्शक बन सकें। और यथार्थ में काव्यशास्त्र के उद्देश्य भी दो ही होते हैं—एक तो उपस्थित काव्य के सौन्दर्य को स्पष्ट करके उसके द्वारा सामान्य से अधिक आनन्द प्राप्त कराना, दूसरा, दोषों से बचाते हुए उत्तम काव्य-सृष्टि की प्रबल प्रेरणा भर देना। पहला उद्देश्य तो पाठक के लिए है और दूसरा लेखक या कवि के लिए। काव्यशास्त्र का प्रारम्भ भी इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर हुआ है। अब हम पाश्चात्य साहित्य और संस्कृत साहित्य में प्राप्त इसके स्वरूप, विषय एवं समस्याओं का संक्षेप में अध्ययन कर विषय का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे।

पाश्चात्य साहित्य में काव्यशास्त्र का समानार्थी शब्द 'पोइटिक्स' (Poetics) है। 'पोइटिक्स' की परिभाषा भी बहुत स्पष्ट नहीं है और उसके अन्तर्गत विषयों का ही निर्देश किया गया है किन्तु प्राप्य परिभाषाओं ने ऊपर कहे गये काव्यशास्त्र के दो उद्देश्यों की ओर ही लक्ष्य स्पष्ट होता है। काव्यशास्त्र की यह परिभाषा[1], कि 'पोइटिक्स' काव्य-कला के नियमों व सिद्धान्तों पर विचार करने वाला विज्ञान है जहाँ पर कवि की दृष्टि से काव्यशास्त्र का उद्देश्य बताती है वहाँ पर दूसरी यह परिभाषा, कि[2] 'पोइटिक्स साहित्यिक आलोचना की वह शाखा है जो कविता पर विचार करती है,' पाठक की दृष्टि से इस पर प्रकाश डालती है।

अर्वाचीन शास्त्र काव्यशास्त्र पर लिखे ग्रन्थों में सबसे प्राचीन 'अरिस्टॉटिल' का 'पोइटिक्स' समझी जाती है और सम्भवतः 'पोइटिक्स' शब्द का उद्गम भी वहीं से है।

1 "Poetics: A treatise on poetry as an art; A theory of poetry"

—Webster's New International Dictionary

"Poetics or Alankarashastra means the science of Poetry. It embraces in its sphere, theory of poetry, the origin, form and variety of poet's work, its faults and merits and a description of several embellishments which distinguish poetic from unpoetic composition.

—Foreword (by Dr. M. Krishnamachariar M.A., M.L. Ph. D. M. R. A. S.) of Bhamaha's Kavyalankar

2. "Poetics: That part of literary criticism which treats of poetry: also a treatise on poetry."

—The Oxford English Dictionary Vol. VII.

इसमें 'अरिस्टॉटिल, अपने पूर्व लिखे गए, विशेष रूप से 'होमर' के, काव्य के आधार पर काव्य की व्यापक विशेषतायें, वर्गीकरण, तुलनात्मक महत्व एवं प्रभाव पर विचार करता है। अलंकार-शास्त्र पर लिखी गई 'रिटरिक', (Rhetoric) उसकी 'पोइटिक्स' (Poetics) से भिन्न पुस्तक है जिसमें वह केवल गद्य पर ही विचार करता है और जिसमें मुख्य विषय, शैली, भाषा, गति, अलंकार आदि हैं। इस प्रकार उसके विचार से काव्य शास्त्र (Poetics) का विषय, अलंकार शास्त्र (Rhetoric) के विषय से भिन्न है क्योंकि इस अलंकार-शास्त्र का सम्बन्ध कविता से न होकर गद्य से ही था और काव्यशास्त्र, कविता (पद्य) के स्वरूपों पर ही विवेचना करने वाला शास्त्र माना गया है।

यथार्थ में काव्यशास्त्र और अलंकार-शास्त्र के सम्बन्ध में ही नहीं, वरन् काव्य शास्त्र और छन्द शास्त्र (Metrics) तथा काव्यशास्त्र व शैलीशास्त्र (Stylistics) के सम्बन्धों पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इन पर भी विभिन्न मत मिलते हैं और एक दूसरे के सम्बन्ध में तथा प्रत्येक की सीमा में अस्पष्टता हो रही है।

कुछ विद्वान्, शैली शास्त्र को शैली विषयक व्यापक सिद्धांत के रूप में मानते हैं। उनके विचार से शैली, भाषा में भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया है और इस प्रकार वे भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर विचार करने वाले शास्त्र को शैलीशास्त्र मानते हैं। यह दो प्रकार का है—प्रथम, जो गद्य की शैली पर विचार करता है उसको अलंकार शास्त्र (Rhetoric) और द्वितीय जो पद्य की शैली पर विचार करता है उसे काव्यशास्त्र (Poetics) कहते हैं[1]। इस दृष्टि से काव्यशास्त्र में काव्य के अभिव्यक्ति-सम्बन्धी बाह्य अङ्ग पर ही केवल विचार हो सकता है, काव्य के विषय, उद्देश्य, सौन्दर्य इत्यादि पर कुछ विचार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के द्वारा अलंकार शास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों समान महत्व

---

1 "Stylistic is the general theory of style and this general theory divides itself into theory of prose style (rhetoric, or if that have an oratorical or any special significance Prosaics) and the theory of poetic style (Poetics)

"The definition and classification of disputed terms may be stated somewhat as follow— Stylistic is the general theory of style the discussion of it should recede that of Rhetoric and Poetics, and should cover the various elements and lities of style common to and belonging to both Rhetoric (or Prosaics) is that ion of the theory of style which treats of the expression of thought addressed understanding, as opposed to Poetic which treats of the expression of thought of the imagination

Methods and Materials for Literary criticism by C. M. Gaylay pp 245-247

के मान गये हैं और शैली का विचार दोनों के अन्तर्गत होता है। यथार्थतः काव्यशास्त्र में अन्य समस्याओं के साथ-साथ भाषा और प्रकाशन प्रणाली पर भी विचार किया जाता है जिसे हम शैली कहते हैं किन्तु शैली-शास्त्र जब हम एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में मान लेते हैं तो वह गद्य एवं पद्य दोनों की शैलियों को समाविष्ट कर सकता है, पर उसके अन्तर्गत प्रतिपादित पद्य-शैली को हम सम्पूर्ण काव्यशास्त्र नहीं मान सकते, क्योंकि इसके भीतर काव्य की आत्मा, रस, भाव, चमत्कार के रहस्य आदि पर भी विचार हुआ है, जो शैली से भिन्न है।

छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में भी मतभेद है। कुछ विद्वान्[1] छन्दशास्त्र को काव्यशास्त्र से नितान्त भिन्न मानते हैं और उसको इसका समकक्ष शास्त्र समझते हैं। साथ ही कुछ के मत से छन्दशास्त्र, काव्यशास्त्र के क्षेत्र से बाहर नहीं है क्योंकि यह काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत शब्दों के गति विधान का अध्ययन करता है। हम इस सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए छन्दों के कार्य को, दो रूपों में देख सकते हैं। क्योंकि छन्दशास्त्र कविता की छन्द-सम्बन्धी गति का विवेचन करता है अतः यह विवेचन दो रूपों में हो सकता है। पहला तो मात्रा, गण, स्वराघात इत्यादि के आधार पर विविध छन्दों के स्वरूप निर्णय करने वाला है और दूसरा मात्रा अथवा गणों के विशेष समन्वय के द्वारा सम्पादित प्रभाव पर विचार करके यह निर्धारित करने वाला है कि अमुक प्रकार के छन्द का, भाव के निरूपण और अनुभूति को उकसाने में, किस प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। उपर्युक्त स्वरूपों में से पहला तो स्वभावतः कविता के व्याकरण से सम्बन्धित है और वह काव्यशास्त्र के क्षेत्र से बाहर है पर उसका दूसरा स्वरूप न्यायतः काव्यशास्त्र का एक आवश्यक अंग हो सकता है। अतः यदि छन्दशास्त्र मात्रा व गणों के विविध स्वरों के, अनुभूति पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार करता है तो वह काव्यशास्त्र के अन्तर्गत है, अन्यथा नहीं।

अभी तक छन्दशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ—विशेषतया, संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थ—केवल मात्रा और गणों की संख्या के अनुसार निर्धारित विभिन्न स्वरूपों और उनके नामकरण पर ही मात्र हैं अतः वे स्पष्टतया काव्यशास्त्र के क्षेत्र से अलग हैं। पर अलंकार-विषयक धारणा, संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्यों में, पाश्चात्य धारणा से भिन्न है। अलंकार शास्त्र का सम्बन्ध यहाँ पर सदा ही कविता से ही समझा गया है, गद्य से नहीं वरन् प्राचीन

1 Poetik Rhetorik and Stilistick by W Wackernagel

2. See Methods and Meterials for literary criticism by C. M Gaylay pp245-246

है। अलंकारशास्त्र यूनानी लोगों के व्यावहारिक जीवन में काम आनेवाला शास्त्र था। अपनी बात को प्रभावशाली ढंग पर कह कर दूसरे को अपना पक्षपाती बना लेना, सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर देना, शब्द की शक्ति पर विश्वास करना इत्यादि ही इस शास्त्र के उद्देश्य थे। काव्यशास्त्रकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनकी व्यापक धारणा यह है कि अलंकारशास्त्र का प्रादुर्भाव सिसली द्वीप में हुआ था और[1] 'एम्पीडोकिल्स' उसका आविष्कार था। यह कवि और दार्शनिक दोनों था और, 'अरिस्टोटिल' का विचार है कि, वह सबसे अधिक होमर के समान था। 'सोफिस्ट' के प्रभाव से अलंकारशास्त्र के व्यावहारिक रूप का खूब प्रचार हुआ, क्योंकि मुकदमेबाज यूनानी इसके द्वारा मुकदमे जीतते थे। धीरे धीरे यही शास्त्र, गद्य-शैली-निर्माण की ओर मुड़ा और इस प्रकार काव्यशास्त्र का प्रतिद्वन्द्वी हो कर रहा। आलोचना के दृष्टिकोण से 'प्लेटो' और 'अरिस्टोटिल' का भी महत्व है किन्तु जहाँ तक काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और काव्य की व्यापक मीमांसा का सम्बन्ध है, इनका स्थान महत्व का नहीं हो सकता है। और इस प्रकार काव्यशास्त्र का सबसे प्रथम लेखक 'अरिस्टोटिल' ही है जिसके ग्रन्थ से ही पश्चिमीय मीमांसा में इस शास्त्र का आरम्भ होता है।

अरिस्टॉटिल

पाश्चात्य साहित्य में काव्य के अनेक अङ्गों पर वैज्ञानिक रीति से विचार करने वाला पहला विद्वान् 'अरिस्टॉटिल' है। 'पोइटिक्स' विषय का इसी से सम्बन्ध है और इस विषय पर पश्चिमीय साहित्य में सबसे लेकर अब तक यह काव्यशास्त्र अवगाहन के लिये परमाथ प्रकाशगृह का काम देता है। 'अरिस्टॉटिल' का महत्व इस अध्ययन में दुहरा है। प्रथम तो इस विचार से कि उसकी धारणा का आधार लेकर ही 'पोइटिक्स' का विषय पश्चिम में पनपा और विकसा है, दूसरे इस विचार से कि वह न केवल पाश्चात्य साहित्य में वरन् संस्कृत साहित्य के आचार्यों से भी[2] पूर्वकालीन ठहराया गया है। 'अरिस्टॉटिल' का समय ईसा

---

1 "Empedocles, according to some tradition was the inventor of Rhetoric—who certainly was a native of the island where Rhetoric arose—the chief speaker among the old philosophers"

A History of criticism by George Saintsbury p 13

2. But all these details cannot lead to any certain result as to the age of the Natyashastra. They however make it highly probable that the Natyashastra is not much older than the beginning of the Christian era"

P IX Introduction to Sahitya Darpana by P V Kane

के पूर्व चौथी शताब्दी[1] है। काव्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन, राजनीति, धर्म और विज्ञान पर भी उसकी पुस्तकें हैं। काव्यशास्त्र पर लिखी पुस्तक 'पोइटिक्स' दो भागों में निर्मित है। पहले भाग में नाटक और महाकाव्य और दूसरे में प्रहसन तथा अन्य रचनाओं का विश्लेषण है, पर अब पहला भाग ही मिलता है। 'अरिस्टॉटिल' की दूसरी पुस्तक 'रिटरिक' अलंकार पर है, जो शैली-अलंकार समझाने की कला आदि का विवेचन करती है। कविता के सम्बन्ध की बातें उसमें नहीं हैं। काव्य-कला पर उसकी पुस्तक 'पोइटिक्स' है।

इस पुस्तक में वह केवल काव्य-कला पर ही नहीं, वरन् काव्य की अनेक शाखाओं, काव्य की शक्ति, निर्माण-विधान, कविता के अंग तथा अन्य आवश्यक विषयों की व्याख्या करता है।[2] 'अरिस्टॉटिल' के मत से कविता, नाटक और संगीत सभी अनुकरण के ढंग हैं और एक दूसरे से अपने विषय, साधन और अभिव्यक्ति के ढंग के कारण इनमें भिन्नता है। उसके मतानुसार काव्य का प्रादुर्भाव दो कारणों से होता है एक अनुकरण की प्रवृत्ति और दूसरा अनुकरणात्मक कार्यों व रचनाओं में मनुष्य की अभिरुचि। ये दोनों ही बातें मनुष्य के स्वभाव के अन्तर्गत हैं। इसी में काव्य का महत्व एवं उसकी आवश्यकता अमर है। इसके अनन्तर वह काव्य के तीन स्वरूप, दुःखान्त नाटक (Tragedy) प्रहसन (Comedy) और महाकाव्य, (Epic) की व्याख्यायें भी करता है। ट्रेजडी के छः भाग हैं—कथावस्तु (plot) चरित्र (Character) भाषा (Diction) विचार (Thought), अभिनय (Spectacle) और संगीत (Melody) इन भागों में से प्रत्येक पर विस्तार से विचार किया गया है। ये विभाग निर्माण की दृष्टि से हैं। इनके साथ ही साथ कवि के उद्देश्य और दुःखान्त नाटक की अवस्थाओं पर भी 'अरिस्टॉटिल' विचार करता है। प्रबन्ध काव्य और महाकाव्य के प्रश्न में भी वह इन्हीं अंगों पर प्रकाश डालता है। 'अरिस्टॉटिल' के मत से महाकाव्य का नाटक से भेद, विस्तार और छन्द-

---

"He has been variously assigned to periods ranging from the 2nd century B. C. to the 2nd century A. D that he is the oldest writer on dramaturgy music, and kindred subjects whose work has survived, is generally admitted"—

S. K. De's Sanskrit Poetics Part I., P 23

1 Aristotle philosopher psychologist, logician moralist, political thinker biologist, the founder of litrary criticism—was born at Stagira a Greek Colonial town on the north-western shores of the Aegeon in 384 B. C.

Encyclopædia Britanica, the 14th Edition, Vol. 2 P 349

2 Aristotle on the Art of Poetry By I. Bywater P 1.

प्रयोग में ही[1] रहता है। आगे कार्य के कार्य व प्रभाव पर विचार करने के उपरान्त वह नाटक और महाकाव्य की तुलना करता है। महाकाव्य इस बात में नाटक से बढ़कर है कि वह शिष्ट, एवं शिक्षित समाज का ही सम्बोधित करता है जिन्हें अभिनय व भाव प्रदर्शन इत्यादि की आवश्यकता नहीं, किन्तु नाटक सब प्रकार के समाज के लिए हो सकता है, वह पढ़ा भी जा सकता है और देखा भी जा सकता है और इस प्रकार 'अरिस्टॉटिल' के विचार से भावों की यथार्थता, कार्यसिद्धि की सरिलता, और अनुकरण की विशेषता आदि बातें नाटक को महाकाव्य की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करती हैं।

इस प्रकार नाटक और महाकाव्य का कुछ विस्तृत विवेचन और काव्य-कला-सम्बन्धी व्यापक विचार अरिस्टॉटिल की 'पोइटिक्स' में हमें मिलते हैं। अरिस्टॉटिल के ये प्राचीन तम लेख पश्चिमीय काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक वैज्ञानिक रूप हैं। इस विचारक का अनुकरण का सिद्धान्त, कला पर विचार, और काव्य के वर्गीकरण एवं उनकी विशेषतायें कहाँ तक सत्य और स्थायी हैं, यह गम्भीर प्रश्न है। इसमें मतभेद सम्भव है। पर उसकी मान्यताओं का महत्व इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमीय साहित्य अब भी उसको आधार-स्तम्भ मानता है। यह विवेचना यद्यपि पूर्ण और व्यापक नहीं फिर भी एक विद्वान्[2] के इन शब्दों में कि यह सम्भवतः काव्यशास्त्र का सबसे पहला ऐसा प्रामाणिक रूप है कि जिसके अनेक संशोधन और परिवर्तन भी उसे उससे अच्छा नहीं कर पाये— हमें इसका महत्व दिखलाई देता है। उसी विद्वान् के शब्दों में हम कह सकते हैं कि वह आलोचना के क्षेत्र में विजयी सिकन्दर है, और उसकी अपने क्षेत्र की विजय जो यद्यपि उसके शिष्य के दूसरे क्षेत्र की विजय से समानता नहीं रखती, आज दिन तक व्यावहारिक रूप से, विस्तृत होकर भी अक्षुण्ण है[3]।

'अरिस्टॉटिल' के उपरान्त भी काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र अलग अलग विषय

---

1 "There is however a difference in the Epic as compared with Tragedy (1) in its length and (2) in its metre

Aristotle on the Art of Poetry By I Bywater P 91

२—जाज सेंटसबरी।

3 "He is the very Alexander of criticism and his conquests in this field unlike those of his pupil in another remain practically undestroyed though not unextended to the present day

— A Histrory of Criticism by G Saintsbury Vol 1 P 59

रहे। काव्यशास्त्र सम्बन्धी 'अरिस्टॉटिल' के विचार भी पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि एक तो उसकी दूसरी पुस्तक अप्राप्य है और दूसरे उसके सामने ग्रीक साहित्य को छोड़कर दूसरा साहित्य न था जिसके आधार पर वह लिखता, किन्तु उसके बाद भी विद्वानों ने काव्य-शास्त्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया। ईसवी सन् के प्रारम्भ के बाद हम ग्रीक साहित्य तथा आलोचना के इतिहास में बड़े-बड़े नाम—जैसे 'पॉरसायरी' 'अरिस्टॉकस' 'डायोनीसियस' 'टैसिटस' 'कैसियस' 'लांजीनस' और 'प्लूटार्च' इत्यादि, सुनते हैं, किन्तु इनमें किसी में भी हमें विशेष व्यापक काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों का दर्शन नहीं होता। व्यावहारिक रूप से और इधर उधर एकाध काव्य के सम्बन्ध के उपयोगी कथनों के अतिरिक्त विशेष महत्व का विवेचन प्राय अप्राप्य है।

इन सबमें 'लांजीनस' ही एक ऐसा लेखक है जो 'अरिस्टॉटिल' के बाद काव्य को आनन्दानुभूति की दृष्टि से देखता है। वह 'प्लेटो' के समान न केवल आदर्शवादी नैतिक दृष्टिकोण ही रखता है और न'अरिस्टॉटिल'की भाँति'दार्शनिक दृष्टिकोण ही। 'अरिस्टॉटल की भाँति वह गद्य और पद्य में कोई मौलिक विभेद नहीं मानता। उसके विचार से रमणीय शब्द ही विचार को विचित्र प्रकाश देते हैं। उसका यह विचार अभिव्यंजनावाद के अत्यन्त निकट है। अपने ग्रन्थ 'आन दी सब्लाइम' '(On the sublime) में वह काव्यशास्त्र पर विचार करता है। वह कला के स्वभाव की परीक्षा करता है और फिर किस प्रकार से हमारे मन में उच्च भाव आते हैं इस का विश्लेषण करता है। 'प्लेटो' के समान ही वह यद्यपि विश्वास करता है कि कविता का सम्बन्ध आवेश से होता है तथापि वह उसके समान न कवि को अनभिप्रेत व्यक्ति समझता है और न उसके आवेश पर अविश्वास ही करता है। वह यह मानता है कि कविता मनोभावों पर प्रभाव डालती है। इस प्रकार 'अरिस्टॉटिल' के विचारों को 'लांजीनस' ने कुछ और अधिक स्पष्ट और विस्तृत ही करके प्रकट किया है।

लटिन का काव्यशास्त्र

ग्रीक साहित्य का पूरा भंडार सामने रखकर 'लैटिन' के विद्वानों के लिए और अधिक व्यापक और [illegible] काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धांत निर्माण करने का अवसर था, क्योंकि अनेक साहित्यों को सामने रखकर हम जिस निर्णय पर पहुँचते हैं वह अपने गर्भ में सार्वभौम एवं सार्वकालिक सत्य धारण करने की क्षमता रखता है। किंतु रोमन लोगों ने ग्रीक साहित्य को नये और मौलिक साहित्य के रूप में ग्रहण न करके उसे एक पथप्रदर्शक साहित्य के रूप में ग्रहण किया। 'जार्ज सेंट्सबरी' ने लिखा है कि भाषा की दृष्टि से लैटिन

ग्रीक से बहुत ही निकट से सम्बन्धित है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से उसकी बेटी और शिष्या दोनों ही एक साथ है[1]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'लैटिन' में भी नितांत स्वच्छन्द रूप से काव्यशास्त्र पर विचार बहुत कम हुआ है। अधिकांश भाग साहित्य का ही विचारों का दोहन है। 'सिसरो' ने भी, जो कि एक प्रसिद्ध विचारक और आलोचक हो गया है, काव्यशास्त्र को अपने विचार का विषय नहीं बनाया। वह एक वक्ता था और वक्तृत्व कला का विचार उसके लिए विशेष महत्व का था। व्यावहारिक जीवन के लिए भी वक्तृत्वकला का महत्व था अतः उसके द्वारा भी अलंकार-शास्त्र (Rhetoric) पर ही विशेष विचार रहा और उसका सम्बन्ध काव्य से कुछ भी नहीं माना गया। 'सुनेका', 'प्लाइनी', 'मारशल' यहाँ तक कि 'क्विण्टिलियन' भी जिसने 'लैटिन' साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बनाया है और जिसने अलंकार, शब्दों की गति, इतिहास, व्याकरण पर भी लिखा है, काव्यशास्त्र के व्यापक सिद्धांतों पर मौन है[2]।

हाँ 'हॉरेस' अपने ग्रन्थ 'दि आर्ट पोइटिका' में काव्यालोचना-सम्बन्धी कुछ महत्व पूर्ण बातों पर विचार करता है और यही अकेला रोमन है जिसने काव्य-सिद्धांतों पर पूर्णतया विचार किया है। 'हॉरेस' एक शिक्षक की दृष्टि से लिखता है। उसका कथन है कि यदि वह स्वयं बहुत बड़ा कवि नहीं हो सकता, तो वह दूसरों को बड़ा कवि बना सकता है। वह काव्यशास्त्र के अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करता है जैसे—कला का सामञ्जस्य के साथ निरूपण, प्रकृति-चित्रण, लेखक की प्रतिभा और शैली के अनुकूल विषय-निर्वाचन, शब्द-भण्डार का महत्व, शब्दों की शक्ति, भाषा की स्वाभाविकता, छन्द इत्यादि। 'अरिस्टॉटिल' नाटक में घटनाओं पर जोर देता है किन्तु 'हॉरेस' पात्र पर अधिक जोर देता है। इस विषय में यद्यपि भारतीय नाट्य-शास्त्र से अधिकांश में, उसका मत भिन्न है किंतु वह भारतीय विचारधारा के साथ भी आजाता है जब वह नाटक को पाँच अङ्कों में विस्तृत करने के लिए कहता है और अरोचक एवं कुरूप वस्तुओं का रंगमंच पर प्रदर्शन वर्जित करता है। वह शिष्टता और सौन्दर्य पर अधिक जोर देता है। 'हॉरेस' का अधिकांश लेख नाटकीय काव्य पर ही है परन्तु उसका पूर्ण विवेचन उसने नहीं किया है। इसलिए सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से उसका भी विशेष महत्व नहीं है। 'हॉरेस' के

---

1 "Latin as a language was an extremely close connection of Greek and as a literature was daughter and pupil in one

—A History of criticism by G Saintsbury Vol 1 P 355

२—'हिस्ट्री आव् क्रिटिसिज़्म प्रथम भाग। जे आर्ज सेंट्सबरी, पृ० २२१

पश्चात् 'दाँते' के पूर्व काई भी ऐसा महत्व का लेखक नहीं हुआ जिसने काव्य के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला हो।

'दाँते' एक बहुत बड़ा कवि और विचारक तो था ही साथ-ही-साथ वह एक बड़ा साधक भी था। वह सर्वोत्कृष्ट कविता से ही सन्तुष्ट न होकर यह भी जानना चाहता था कि सर्वोत्कृष्ट कविता किन बातों पर निर्भर है, कौन बातें उसे उत्कृष्ट बनाती हैं और उसके आकर्षण व सौन्दर्य के मूलस्रोत क्या हैं[1]? इन सभी उलझनों के फलस्वरूप ही हमें 'दाँते' में कुछ मौलिक विश्लेषण प्राप्त होते हैं। यद्यपि उसके ग्रन्थ 'डि वल्गारी एलोक्विओ' (De vulgari Eloquio) में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का बहुत पूर्णता से विवेचन नहीं मिलता, फिर भी उसमें बहुत सी आवश्यक तथा महत्व की बातों पर विचार है। पहली पुस्तक में वह काव्य की भाषा पर विचार करता है। 'दाँते' के विचार से काव्य की उत्कृष्टता उसके अर्थ में नहीं, वरन् उसकी अभिव्यक्ति में रहती है। अत: उसके विचार से काव्य में सबसे सुन्दर और चुने हुए साहित्यिक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु उत्कृष्ट भाषा का प्रयोग तभी करना चाहिए जब कि विषय भी उच्च और उदात्त हो क्योंकि एक कुरूप स्त्री रेशम और सोना पहन कर और भी कुरूप लगती है।

उत्कृष्ट भाषा के लिए उत्कृष्ट विषय हो। युद्ध, प्रेम, चारित्रिक सौन्दर्य, शील इत्यादि ऐसे ही विषय हैं। प्रेम को काव्य के विषयों में सम्मिलित करके 'दाँते' ग्रीक और 'लैटिन' परम्परा के विरुद्ध ही जाता है क्योंकि अधिकांश प्राचीन आलोचक इसे काव्य के लिये उपयुक्त विषय नहीं समझते थे। इसके साथ ही साथ वह, किस प्रकार की भाषा और छन्द एक विशेष शैली के लिए उपयुक्त होते हैं, इस पर भी अपने विचार प्रकट करता है। इस प्रकार वह लगभग काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर कुछ न कुछ कहता है। रचना के ढंग और कवि का उद्देश्य भी उसकी व्याख्या से अछूते नहीं हैं। 'दाँते' उत्तम काव्य के लिये नियम भी निर्धारित करता है। यद्यपि वह गद्य पर भी कुछ विचार प्रकट करता है पर अधिकांश उसका विषय कविता ही है। इस प्रकार से 'दाँते' का महत्व काव्यशास्त्र में केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं है वरन् अपने मौलिक विवेचन के कारण भी वह उच्च स्थान प्राप्त करता है। उसने कविता के सम्बन्ध की यथार्थ समस्याओं पर प्रकाश डाला है पर उसका प्रयत्न 'अरिस्टॉटिल' के दार्शनिक विवेचन से भिन्न है। 'जार्ज सेंट्सबरी' भी

१— हिस्ट्री आव् क्रिटिसिज़्म' प्रथम भाग। ले० जार्ज सेंट्सबरी, पृ० ४४१

कि यह बहुत बाद की रचना है।[1] अतः सबसे प्रथम आचार्य जिनका काव्यशास्त्र पर विवेचन प्राप्य है और जिनका उल्लेख और सिद्धांत की व्याख्या बाद के आचार्यों ने भी की है भरत मुनि हैं। उनका नाट्यशास्त्र सर्वप्रथम ग्रन्थ है। भरत के परवर्ती महत्वपूर्ण लेखक की भी एक लम्बी सूची है। कुछ विशेष प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं –भट्टि का अलंकार, भामह के काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का अलंकार-सारसंग्रह वामन का अलंकारसूत्र रुद्रट का काव्यालंकार, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर की काव्यमीमांसा, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवितम्, धनञ्जय का दशरूपक, भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण, और शृंगारप्रकाश मम्मट का काव्यप्रकाश, रुय्यक का अलंकारसर्वस्व, जयदेव का चन्द्रालोक, भानुदत्त के रस-मञ्जरी एवं रस-तरङ्गिणी, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण और पंडितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर। इनमें से अधिकतर लेखकों ने काव्यस्वरूप, काव्य का महत्व, ध्वनि के साधन, काव्य की उत्कृष्टता, शब्द-शक्ति, काव्य के गुण-दोष, अलंकार, रस आदि सिद्धांतों पर अपना विचार प्रगट किया है। काव्य के सिद्धांतों के विचार से ये लेखक पाँच वर्गों में समाविष्ट किये जा सकते हैं —रसवर्ग, अलंकार वर्ग, रीति वर्ग, वक्रोक्तिवर्ग तथा ध्वनिवर्ग। इन वर्गों के अतिरिक्त कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो निर्विशेषत किसी एक विशेषवर्ग से सम्बन्धित नहीं हैं, किन्तु उन्होंने काव्यशास्त्र के विषयों का सभी सिद्धांतों के प्रकाश से विवेचन किया है।

यथार्थतः उक्त सिद्धांतों के विकास का मूल कारण संस्कृत आचार्यों का काव्य की उत्कृष्टता का रहस्य अथवा काव्य की आत्मा खोजने का प्रयत्न है।[2] कोई भी आचार्य

१—देखिये साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० २। लेखक पी० वी० काणे।

2. "Perhaps the most Important question which the Alankarsastra discussesd is 'what is essence or soul of poetry ?' on the answer which a rhetorician gives to this question, depends the definition of poetry

Out of these discussions, which were carried on regarding the essence of poetry five schools of thoght emerged viz. the Rasa School, the Alankara School, the Riti school the Dhwani school and the Vakrokti school. The names of great Rhetoricians are associated with the five shools of Poetics as either the founder or the chief promulgators. These names respectively are Bharata (Rasa) Bhamaha (Alankara) Vamana (Riti) Anandvardhan (Dhawani) and Kuntala (Vakrokti) These five schools are not strictly speaking mutually exclusive But they are differentiated on account of emphasis which they lay on this or that aspect o poetry

P III Introduction to Kavya Prakash of Mammata by A B Gajendr Gadkar Professor of Sanskrit Elphinston College Bombay

जिन्होंने अपना नया मत या नवीन सिद्धांत स्थापित किया है अपने पूर्ववर्ती आचार्य के पूर्ण विरोध में नहीं पड़ा होता। उसका मुख्य उद्देश्य यही प्रतिपादन करना होता है कि काव्य की आत्मा यथार्थ में अमुक वस्तु में है, काव्य के सौन्दर्य का रहस्य उसमें छिपा है। इसके अतिरिक्त और बातें तो उसके बाह्य स्वरूप और आभूषण हैं अथवा काव्य का शरीर मात्र हैं, आत्मा नहीं। उदाहरणार्थ ध्वनि-सिद्धांत का उद्देश्य रस अथवा अलंकार को अप्रतिष्ठित या अपदस्थ करना नहीं है वरन् यह बतला देना है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' अर्थात् ध्वनि ही काव्य की आत्मा है, अन्य बातें उसके बाह्य अङ्ग हैं, आत्मा नहीं।

रस-सिद्धान्त

रस पर सबसे पहले प्रमुख लेखक भरत मुनि हैं, जो काव्यशास्त्र के भी सर्व प्रथम आचार्य हैं और उनका नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र का (विशेषतया नाटक और रस पर) सर्व प्रथम प्राप्य और महत्व का ग्रन्थ है किन्तु भरत के पूर्व भी रस की चर्चा थी ऐसा भरत के ग्रन्थों से भी प्रकट है। लोग भरत के द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक और काव्य शास्त्रीय महत्व के अतिरिक्त रस से परिचित थे[1]। भरत के नाट्यशास्त्र में अधिकांश नाटकोपयोगी अनेक बातों का विशद वर्णन है। उसमें नाट्य-मण्डप, अभिनय के प्रकार, गति, मुद्रा, रस, विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव, नायक-नायिका-भेद, प्रेम की विभिन्न अवस्थायें इत्यादि अनेक बातों का वर्णन है। नाटक में भरत आठ ही स्थायी भावों को मानते हैं क्योंकि नवें भाव 'शम' को, जो काव्य में बाद को मान्य हुआ है, अभिनय सम्भव नहीं है। नाटकीय प्रदर्शन की परिस्थितियाँ स्थायी भाव 'शम' के विरोध में पड़ती हैं।[2] 'नाट्यशास्त्र' इस बात पर जोर देता है कि नाटक का प्रमुख ध्येय

---

1 "That the rasa-doctrine was older than Bharata is apparent from Bharata's one citation of several verses in the arya and the anustubha metres in support of or in supplement to his own statements, and in one place he appears to quote two arya verses from an unknown work on rasa.

The idea of rasa, apart from any theory thereon was naturally not unknown to old writers; and Bharata's treatment would indicate that some system of rasa, however undeveloped, or even a Rasa School particularly in connection with the drama must have been in existence in his time"

History of Sanskrit Poetics By S. K. De, Vol II (1925), P. 21-22.

2. "The environment of a dramatic representation is antogonastic to the Sthayibhava Sham (tranquility) (P. CXLVIII Int. to S. by P. V. Kane)

के द्वारा अर्थ स्पष्ट होता है। फिर भावकत्व या रस-भावना के द्वारा साधारणीकरण होता है अर्थात् भाव और रस व्यक्ति विशेष के न रहकर सर्वसाधारण के हो जाते हैं और नायक के स्थायीभाव और विभाव दर्शकों के अपने स्थायीभाव और विभाव बन जाते हैं। उसके पश्चात् तीसरी अवस्था भोजकत्व की आती है जिसमें विभावों के द्वारा रसानुभूति होती है। इस प्रकार भट्टनायक के विचार से स्थायीभाव जब अभिधा और भावकत्व या भावना शक्तियों के द्वारा भोग की आनन्दावस्था को प्राप्त होता है तभी वह रस कहलाता है। यह अलौकिक आनन्द है और ब्रह्मानन्द की कोटि का होता है।

अभिनव गुप्त, भट्टनायक के साधारणीकरण को मानते हैं पर उनका विचार है कि भावकत्व और भोगीकरण दो शक्तियों को मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि रस व्यंजना और रसास्वाद में दोनों बातें क्रमशः आजाती हैं। भरत के सूत्र "काव्यार्थान् भावयन्तीति भावः" के अन्तर्गत ही भाव की भावकत्व शक्ति छिपी हुई है। इस प्रकार से वे कुछ अंश में भावना या भावकत्व को मानते हैं किन्तु उसकी व्याख्या दूसरे रूप में करते हैं,[1] और रस की प्रतीति ही रस की अन्तिम अवस्था मानते हैं। भोग की अवस्था उसके पश्चात् कोई और है, यह वे नहीं मानते हैं। अभिनवगुप्त के विचार से भट्टनायक का भोग, रसास्वाद या रसानुभूति से भिन्न दूसरी वस्तु नहीं। इस प्रकार से दर्शकों के हृदय में जो मनोविकार वासना के रूप में उपस्थित रहते हैं वेही, जब विभाव के संयोग से व्यंजनावृत्ति के साधारणीकरण या विभावन व्यापार से जाग्रत होते हैं तभी रसास्वाद की अवस्था होती है। अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। अभिनवगुप्त, विद्वान, दार्शनिक और विचारक थे और इनके द्वारा रससिद्धान्त इस प्रकार पूर्ण प्रतिपादित होकर काव्य और नाटक पर समान रूप से लागू हुआ[2]। इसके बाद प्रमुख लेखक भानुदत्त और विश्वनाथ हैं। विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते

---

1 "thus partially admitting bhavana or bhavakatwa but explaining it some what differently Abhinavagupta turns to the power assumed as bhoga or bhogikarana by Bhatta Nayaka History of Sanskrit Poetics by S K De vol II P 165

2. "In other words what was already well established in drama by Bharata and others thus found its way into ‸ poetry profoundly modifying, as it did, the entire conception of Kavya."

"Rudrabhatta states (1,5) in the same way that Bharata and others have al ready discussed rasa in connection with the drama, while his own object is to apply it to the case of poetry "

History of Sansk it Poetics by S K De Vol. II P 160

है। 'वाक्यं रसात्मक काव्यं' पर विश्वास करते हुए, ये रस के पूर्ण पक्षपाती हैं। इनके अतिरिक्त मम्मट और जगन्नाथ अपने 'काव्य प्रकाश' और 'रसगंगाधर' में रस को चाहे सर्वोपरि न मानें, पर रसध्वनि को उत्तम काव्य में परिगणित करते हैं। इस प्रकार रस की काव्य में महत्व-वृद्धि स्पष्ट है।

रसों में भी कुछ लोगों ने शृंगार को सर्वोत्कृष्ट मानकर उसी को लेकर लौकिक शृंगार का वर्णन किया है। संयोग-वियोग दो भागों में बाँटकर शृंगार के रूप का विश्लेषण एवं नायक-नायिका भेद भी लिख गये हैं जिसका बहुत कुछ हिन्दी के आचार्यों पर भी प्रभाव पड़ा है।

इसके साथ ही साथ रस सिद्धांत का एक नया रूप हमें रूपगोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' में मिलता है जिसमें वैष्णव भक्ति सिद्धान्तों के आधार पर रस की व्याख्या की गई है और भक्ति की व्याख्या भी रस सिद्धान्त के अनुसार हुई है। इसमें भक्ति को रस मानकर उसके पाँच प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य मान गये हैं, किन्तु ये सभी भाव कृष्ण के प्रति ही होते हैं। इस माधुर्य भाव को 'भक्ति-रसराट्' कहते हैं, इस भक्ति रस के विभिन्न स्वरूपों का आगे चलकर हिन्दी काव्य की कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

अलंकार

अलंकार-वर्ग भी बहुत पुराना है। बात तो यह है कि भरत ने भी अपने 'नाट्यशास्त्र' में अलंकारों का वर्णन किया है, किन्तु उनकी संख्या केवल चार मानी है। वे हैं—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यों तो बाद के आचार्यों ने रस और ध्वनि के साथ सभी अलंकारों को लिया है जैसे मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज, जगन्नाथ, आदि पर अलंकार वर्ग से तात्पर्य उन लेखकों का है जिन्होंने रस और ध्वनि सिद्धान्तों के प्रतिष्ठित हो जाने के पहले अथवा बाद में भी, अलंकार को ही काव्य की उत्कृष्टता का प्रमुख साधन माना है। अलंकार का भी काव्य में अपना महत्व है, यह तो सभी मानते हैं पर अलंकार ही काव्य का मुख्य आकर्षण है, इसको भी बहुतेरे आचार्यों ने माना है। यथार्थ में प्रारम्भ में रस नाटक का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हो जाने पर अधिकांश आचार्य काव्य की मुख्य शोभा अलंकार को ही मानकर चले और इसलिए अलंकार-शास्त्र के नाम से संस्कृत काव्यशास्त्र प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि उसको अलंकारों का विवेचन लेकर ही आरम्भ किया गया। काव्य शरीर के लिए अलंकारों का बहुत बड़ा महत्व अवश्य है पर वे काव्य का सर्वस्व नहीं।

अलंकार-वर्ग के सबसे पहले आचार्य भामह हैं। पर भामह से अलंकार का विवेचन प्रारम्भ नहीं होता है। 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में भामह ने यथार्थ में काव्यशास्त्र का ही

कथन किया है किन्तु अलंकार पर विशेष जोर दिया है, क्योंकि भामह के अनुसार वक्रोक्ति या कथन का बाँकपन ही काव्य का सौन्दर्य है। 'काव्यालंकार' के प्रथम परिच्छेद में काव्य का उद्देश्य, कवि के लिए आवश्यक गुण, काव्य की परिभाषा, अनेक आधारों पर काव्य के वर्गीकरण, जैसे गद्य और पद्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश वृत्तदेवादिचरितशंसि, उत्पाद्यवस्तु, कलाश्रय, शास्त्राश्रय तथा सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा, अनिबद्ध इत्यादि का वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुणों की चर्चा है तथा कुछ अलंकार भी आये हैं, पर अलंकारों का वर्णन तीसरे परिच्छेद में जाकर समाप्त होता है। चौथे और पाँचवें परिच्छेद में काव्यदोष और छठे में कवि शिक्षा का विवेचन है।

भामह के बाद दूसरे आचार्य दण्डी हैं। ये कविता का मुख्य गुण, अलंकार मानते हैं। 'काव्यादर्श' अलंकारों का विशद महत्व देने वाला ग्रन्थ है। 'काव्यादर्श' में ये कहते ही हैं—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' यथार्थ में दण्डी के 'काव्यादर्श' में अलंकार व रीति दोनों ही का विवेचन है और रीति का ही प्रधान रूप से [2]। भामह और दण्डी में बहुत से वाक्य ऐसे हैं जो दोनों में पाये जाते हैं, फिर भी भामह और दण्डी के विवेचन में बड़ा अन्तर है [3]। दण्डी का 'काव्यादर्श' भी बहुत महत्व का ग्रन्थ रहा है। जिसका आश्रय आगे के लेखकों ने ग्रहण किया।

उद्भट इनके बाद हुए। उनका 'अलंकारसारसंग्रह' अलंकारशास्त्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। भामह से भी उद्भट की बढ़कर ख्याति रही और इसमें पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का विकास देखने में आता है तथा नवीनता भी है। अलंकार विषय को लेकर रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, अप्पय दीक्षित प्रभृति अनेक आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे जिनसे संस्कृत साहित्य भरा है किन्तु उनमें विशेष अधिकांश अलंकारों की संख्या का अथवा परिभाषा का ही वर्णन में आता है अलंकार का काव्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस बात पर गहरा विवेचन नहीं हुआ है। इस विषय पर विचार, कुन्तल, रुय्यक और जयरथ के द्वारा किया गया है और जिसके

१—देखिये भामह का काव्यालंकार—(स० शैलताताचार्य शिरोमणि)

2. Dandin's Kavyadarsa is to some extent an exponent of the Riti school of Poetics and partly of the Alankara school

P XXI Introduction to Sahitya Darpan by P V Kane

३—भामह और दण्डी के विशेष विवेचन के लिए, काणे की साहित्यदर्पण की भूमिका देखिये।

कारण ही अलंकार हमारे यहाँ केवल वक्तृत्व की कला न रहकर अलंकार-शास्त्र के रूप में है किन्तु यह स्वरूप अलंकार सिद्धांत में न आकर वक्रोक्ति-सिद्धांत के आचार्यों के विवेचन में ही विशेष दर्शनीय है। अलंकार को काव्य का अनिवार्य अङ्ग सिद्ध करने के लिए ही स्वभावोक्ति को भी अलंकार में परिगणित किया गया किन्तु स्वभावोक्ति का अलंकारों में स्थान ठीक नहीं।

रीति-सिद्धान्त

रीति का अर्थ है शैली, कथन या अभिव्यक्ति का ढंग। इसके लिए दण्डी ने मार्ग शब्द का भी प्रयोग किया है। डा० सुशीलकुमार डे के अनुसार[1] रीति का प्रारम्भ भामह के भी पहले से है क्योंकि बाणभट्ट भी गौड़ियों की 'अक्षराडम्बर' के रूप में विशेषता बताते हैं। किन्तु रीति को काव्य की आत्मा मानकर पूरा रीति-सिद्धान्त खड़ा करने का श्रेय सबसे पहले आचार्य वामन को ही प्राप्त है जो कि 'विशिष्टा पदरचना रीतिः, रीतिरात्मा काव्यस्य, विशेषो गुणात्मा'[2] इत्यादि का निरूपण अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' में करते हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य का प्रयोजन, काव्य की आत्मा रीति और उसके विविध रूप—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली आदि का वर्णन है। वैदर्भी में दश गुण हैं अतः वह सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। उसके पश्चात् दूसरे अधिकरण में दोष और तीसरे में गुणों का वर्णन है। चौथे अधिकरण में कुछ अलंकारों का वर्णन है। पाँचवें में कवि की परम्परागत रूढ़ियों का वर्णन है। छठे अधिकरण में अलङ्कारों के लक्षण व उदाहरणों का वर्णन किया गया है जो संख्या में ३३ हैं। वामन ने गुण और अलङ्कारों के व्यापार की भिन्नता स्पष्ट कही है। उनका कथन है कि —

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'[3]

अर्थात् काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं और उसकी वृद्धि के कारण अलङ्कार हैं।

दण्डी यद्यपि अलंकारवादी हैं फिर भी वामन के इस मत में विशेष सम्मत स्थान पाते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष में अलंकारों का वर्णन 'काव्यादर्श' में है पर सैद्धान्तिक रूप में[4] वह परवर्ती वामन के विचारों की आधारभूमि मानो बनाते हैं।

---

1 History of Samkrit Poetics, Pt II by S. K. De P 94

२ 'काव्यालंकार सूत्र', अधिकरण १ अध्याय २ (६—८)

३ 'काव्यालङ्कार सूत्र' अधिकरण ३, अध्याय २ छन्द १—२

4 "Dandin is influenced to some extent by the teaching of Alankara scho l,

रीति-सिद्धान्त काव्य शास्त्र के विकास का पदन्यास है। आगे चलकर यद्यपि रीति की मान्यताओं में रुद्रट, भोज, वाग्भट्ट, राजशेखर के ग्रन्थों में मिलता है फिर भी इसके द्वारा काव्यशास्त्र का सिद्धांत गढ़ा गया एक महत्वपूर्ण काम सम्पन्न हुआ[1] और काव्यशास्त्र का अधिक गवेषणापूर्ण अध्ययन प्रारम्भ हुआ। काव्य के अनेक अङ्गों को एक पूर्ण सुगठित स्वरूप में बाँधने का यह पहला प्रयत्न जान पड़ता है। चाहे हम वामन के द्वारा प्रतिष्ठापित रीति के पद को मान्य न समझें फिर भी विचारात्मक गम्भीरता का काव्यशास्त्र के क्षेत्रों से अधिक सम्बन्ध हो गया और आगे चलकर ध्वनि ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त खड़े किये गये।

वक्रोक्ति-सिद्धांत

यह सिद्धान्त मानो अलङ्कार सिद्धांत पर सूक्ष्म विचार करके स्थिर किया गया है। कथन या अभिव्यक्ति का चमत्कारपूर्ण ढंग ही वक्रोक्ति है। जिसमें कोई बाँकपन हो जो कि हमारे हृदय या मन पर प्रभाव डाल सके वही कथन, कविता है। यह कविता का एक स्वरूप अवश्य है। अभिव्यक्ति का बाँकपन एक विशेष आभा या चमक से शब्दों को भर देता है और कभी-कभी हृदय की अनुभूति चाहे उससे न उकसे पर मन प्रसन्न होता है। अतः जहाँ पर अनुभूति को जगाना रस का काम है, वहाँ मन का रञ्जन वक्रोक्ति, द्वारा ही सम्भव है। आलङ्कारिकों के द्वारा भी वक्रोक्ति एक अलङ्कार के रूप में मान्य है, पर इसे एक अलङ्कार न मानकर यदि हम सभी अलङ्कारों के मूल में देखें तो अधिकांश वक्रोक्ति ही मिलती है। अतः कुन्तल ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ में वक्रोक्ति को इसी व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त किया है और कविता के क्षेत्र में उसको उपयोगी ठहराया है।

---

and as such stands midway in his view between the Alankara system of Bhamaha and the Riti system of Vamana. At the same time there can be no doubt that in Theory he allies himself distinctly with the view of Vamana.

History of Sanskrit Poetics by S K. De. Pt. II P 96.

1 "Vamana was the first writer to enunciate a definite theory which before the Dhvanikara must have lead a great influence on the study of poetics."

History of Sanskrit Poetics by S K De Pt II P 96

See, also

"The riti school marks a very real advance over the alankara school"

PCL. III Introduction to Sahitya Darapan by P V Kane

प्रथम उन्मेष में वक्रोक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्तल कहते हैं कि वक्रोक्ति ही कथन का चमत्कार है यथा —

> शब्दोविवक्षितार्थैक वाचकोन्येषु सत्स्वपि।
> उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृति ॥
> अर्थ सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्द सुन्दर ।
> वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ॥

इस प्रकार कुन्तल वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा[1] [वक्रोक्ति ही 'जीवितम्' अर्थात् जीवन या आत्मा है] मानकर ध्वनि को भी इसी के अन्तर्गत लाते हैं और स्वभावोक्ति को अलंकार के रूप में नहीं मानते। दूसरे उन्मेष में वे वर्ण विन्यास-वक्रत्व, तीसरे में वाक्य वैचित्र्य-वक्रत्व और वस्तु-वक्रत्व तथा चौथे में प्रकरण-वक्रत्व एवं प्रबन्ध-वक्रत्व पर विचार करते हैं।[2] इन सभी में लेखक की मौलिक विचारणा बड़े महत्व की है किन्तु यह काव्य को पाठक या दर्शक के दृष्टिकोण से ही रखती है। जो कथन पाठक के लिए काव्य में वक्रोक्ति होता है वह कवि के लिये काव्य-निर्माण की अवस्था में स्वाभाविक होता है, इसलिये वक्रोक्ति को काव्य का मुख्य अङ्ग मानना काव्य को आलोचना की दृष्टि से देखना ही है।

इतना होते हुए भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ कुन्तल की गहरी मौलिकता और समझ पर प्रकाश डालता है। जैसा कि पी० वी० काणे ने भी कहा है यह ग्रन्थ बड़े महत्व का है,[3] किन्तु वक्रोक्ति को अलंकार-शास्त्र की ही एक शाखा समझना चाहिये। एक अलग पूर्णसिद्धान्त के रूप में यह सम्मानित नहीं हो सकता,[4] क्योंकि रस में पूर्ण अधिकांश वाक्य स्वाभाविक उक्तियों को भी लेकर चलते हैं। रुय्यक ने कुन्तल के वक्रोक्ति सिद्धान्त को मानकर ही अलंकारों की परीक्षा की है। इस दृष्टि से रुय्यक का प्रयत्न सराहनीय है।

---

1 "The central idea in Kuntala is that the Vakrokti is the essence (Jivita) of poetry"

—History of Sanskrit Poetics by S. K. De, P. 236

2 Introduction to Sahitya Darpan by P. V. Kane P. LXXIX and after.

3 Introduction to Sahitya Darpan by P. V. Kane P. LXXXV

4 "The Vakrokti School is really an offshoot of the Alankara school and need not be separately recognised

—P. CLV Introduction to Sahity[illegible] P. V. Kane.

Also see De's History of San[illegible] 'संस्कृत पोयटिक्स' note on page 23[illegible]

ध्वनि-सिद्धांत

काव्य की आत्मा ध्वनि है, इसको लेकर चलनेवाला सिद्धान्त ध्वनि सिद्धान्त है। ध्वनि सिद्धान्त को सबसे पहले प्रकाश में लानेवाले आनन्दवर्धनाचार्य हैं, किन्तु ध्वनि सिद्धान्त उनसे पहले भी प्रतिपादित और मान्य था, यह उनके ध्वन्यालोक के कथन से ही स्पष्ट है –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥ १

(ध्वन्यालोक, १ उद्योत)

ध्वनि के स्वरूप को सबसे पहले बड़ी योग्यता के साथ आनन्दवर्धन ने ही स्पष्ट किया है[1], इसके अन्तर्गत ध्वनि प्रधान-काव्य को सर्वोत्तम काव्य माना गया है। अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामी ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। कविता के दो अर्थ एक वाच्य (प्रकट) दूसरा प्रतीयमान (अप्रकट) हैं। प्रतीयमान तीन प्रकार का है—वस्तु, अलङ्कार और रस। प्रतीयमान अर्थ सबके द्वारा नहीं समझा जा सकता है, किन्तु यही प्रतीयमान ही कविता का प्रधान अर्थ है। जब यह अधिक प्रधान होता है तब ध्वनि-काव्य रहता है। कुछ अलंकारों जैसे—समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्ति इत्यादि में प्रतीयमान अर्थ रहता है पर वाच्य अर्थ ही प्रधान है इसलिये वहाँ ध्वनि काव्य नहीं कहा जा सकता।

ध्वनि दो प्रकार की मानी गई है— अविवक्षित वाच्य (जहाँ पर वाच्यार्थ को समझने का उद्देश्य नहीं होता और वह व्यर्थ रहता है), तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ उद्दिष्ट रहता है और वह दूसरे अर्थ की भी व्यंजना करता है)। उसके पश्चात् पहले प्रकार के दो भेद हैं, अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत और दूसरे के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य एवम् संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत ही रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव प्रशम आदि आते हैं। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत अलंकार और वस्तु ध्वनियाँ हैं। काव्य का दूसरा प्रकार है गुणीभूतव्यंग्य-जिसमें व्यंग्य प्रधान नहीं, वरन् अप्रधान रहता है। तीसरा स्वरूप चित्रकाव्य का है जो शब्द चित्र

[1] काणे की साहित्यदर्पण की ...ance over the ... rapan by P V K

और वाक्य चित्र उत्पन्न करता है। इसमें कवि के द्वारा व्यंग्यार्थ उद्दिष्ट नहीं होता। कवि की प्रतिभा पहले दो प्रकार के काव्यों में ही देखी जाती है।

'ध्वन्यालोक' दो उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वे दो उद्देश्य हैं—ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन और रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष आदि का ध्वनि के सम्बन्ध से विवेचन। इन दोनों उद्देश्यों को 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ में बड़ी सफलतापूर्वक पूरा किया गया है।[1] इस प्रकार काव्यशास्त्र का एक बड़ा ही पूर्ण और व्यापक सिद्धान्त, ध्वनि के रूप में खड़ा किया गया। आनन्दवर्धनाचार्य के पश्चात् मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त का और भी व्यापकता से विवेचन किया और उदाहरणों से पुष्ट कर स्पष्ट किया। अलंकार, रीति गुण, वक्रोक्ति इत्यादि सभी इसी ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आ गये। मम्मट ने नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त सभी काव्य-सिद्धान्तों का इसमें समावेश किया है। काव्य प्रकाश, काव्यशास्त्र पर सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है।

मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' भी लगभग सभी अङ्गों पर प्रकाश डालता है और रस-सिद्धान्त को ही विशेष मान्य समझता है। ये दोनों ग्रन्थ ऐसे हैं कि यद्यपि किसी एक सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर चले हैं फिर भी काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों एवं समस्याओं का पूर्णता के साथ विवेचन करते हैं। 'रसगंगाधर' के वृहत् विवेचन के पश्चात् कोई भी ऐसा बड़ा महत्त्व का ग्रन्थ नहीं लिखा गया जो कि इन महिमाशाली आचार्यों और उनके ग्रन्थों के सम्मुख स्थान प्राप्त कर सके और न इनके पश्चात् अन्य कोई नवीन काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्त ही खड़ा किया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र पर बड़ी ही गहराई और विस्तृत व्यापकता के साथ विवेचन हुआ है और काव्य की चारुता के रहस्य का उद्घाटन तो बहुत ही पूर्ण रीति से किया गया है। केवल भाषा, छन्द, काव्य का वर्गीकरण इत्यादि पर बाह्य रूप से विचार न होकर वहाँ पर काव्य की आत्मा की खोज की गई है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अनेक सिद्धान्त इसी खोज के फलस्वरूप प्रतिपादित हुए हैं। काव्य के वर्गीकरण भाषा प्रवृत्ति इत्यादि के साथ ही साथ काव्य क्या है, उत्तम, मध्यम, अधम काव्य के क्या लक्षण हैं काव्य की चारुता किस वस्तु में रहती है, काव्य के गुण-दोष क्या हैं, अलंकारों का क्या महत्त्व है, रस-ध्वनि वक्रोक्ति रीति का क्या स्थान है, इनके प्रास्फुटित करने के लिए क्या-क्या वस्तुयें आवश्यक हैं, कविता का क्या

---

[1] देखिए डॉ० सुशीलकुमार दे की 'संस्कृत पोयटिक्स' भाग २, पृ० १८२

को शिक्षा देना, अथवा त्याग के लिए प्रेरित करना है। 'क्रामेनश्ट्रो' के अनुसार 'कविता का उद्देश्य मुख्य रूप से साधारण लोगों को आनन्द देना है विद्वानों का नहीं।' किन्तु संस्कृत काव्य के विषय में—(विशेष रूप से जब काव्य सिद्धान्तों के निरूपण के बाद में आया) कहा जा सकता है कि वह विद्वानों के लिए ही है साधारण जनों के लिए नहीं।

कथा का रूप, विषय, शब्दावली कल्पना सभी ऐसी हैं कि साधारण लोगों की पहुँच काम नहीं करती। हाँ, इस अन्तर के साथ यह कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार के सिद्धान्तों व उद्देश्यों में अन्तर हो सकता है और संस्कृत-कविता की इस विशेषता की प्राप्ति के साथ साथ हम देखते हैं कि यह काव्यशास्त्र की दृष्टि से उन्नति करती-करती जीवन से दूर होती गई। जीवन का जो स्पन्दन हम प्रारम्भिक कवि वाल्मीकि और कालिदास आदि की कृतियों में पाते हैं उसका परवर्ती आचार्य लेखकों की कृतियों में अभाव है। कविता हृदय से दूर होकर मस्तिष्क के पास पहुँचती गई।

किन्तु, जहाँ तक संस्कृत काव्यशास्त्र का सम्बंध है, उसका विवेचन बड़ी गम्भीरता से हुआ। जिस प्रकार कवि व्यक्तिगत जीवन को विश्व से सम्बधित करके व्यक्ति को विश्वात्मा के सूत्र में बाँधता है, वैसे ही काव्यशास्त्र में अनेक सिद्धांतों का निर्माण और उनका एक दूसरे से सम्बन्धित करने का प्रयत्न सराहनीय है। पश्चिम में ऐसा नहीं हुआ। उसका कारण विचार-पद्धति की भिन्नता एवं संस्कृति का अन्तर कहा जा सकता है। 'हीगल' ने इसी प्रकार की विचार-पद्धति की भिन्नता पर अपनी पुस्तक 'फिलासफी आव् फाइन आर्ट्स' में प्रकाश डाला है, और प्राच्य चेतना को, विशेष काव्यात्मक तथा विचार-पद्धति को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करनेवाली कहा है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत और पश्चिमीय काव्यशास्त्र के स्वरूपों में अंतर

---

1 "Among these national characteristics or views and opinions peculiar to particular epochs, some have closer affinity with the poetic impulse than others. The oriental consciousness is, for example in general, more poetic than the western mind if we exclude Greece In the East *the principle predominant is always* that of coherence solidity unity substance

For the oriental nothing persists as really substantine but everything appears as contingent discovering its supreme focus stability and final justification in the One the Absolute to which it is referred."

The Philosophy of Fine Arts by Hegel IV P 28,

अवश्य है। संस्कृत में काव्य पर अधिक शास्त्रीय ढंग से विचार किया गया है। अतः काव्य-शास्त्र के लगभग सभी विषयों पर प्रकाश संस्कृत अलंकार ग्रन्थों में मिलता है। पश्चिमीय ग्रन्थों में शैली, प्रवृत्तियाँ, भाषा, कला आदि पर अधिक और व्यक्तिगत ढंग पर विचार मिलता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह बात प्रगट हो जाती है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के विषयों के अन्तर्गत सभी बातें आ जाती हैं। इनमें काव्य की आत्मा, स्वरूप, प्रयोजन, कारण, गुण, अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, दोष, भाषा, तथा कवि शिक्षा का विवरण है। अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या में समयानुसार अन्तर पड़ता गया है। प्रवृत्तियाँ भी यथार्थ में कवि शिक्षा और रीति के अन्तर्गत आ ही जाती हैं। इस प्रकार से उपर्युक्त विषयों में से कुछ या सभी पर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थ काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत समझने चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ के आगे आने वाले पृष्ठों में इन्हीं विषयों पर हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

हम इस अध्ययन के द्वारा काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों का यथार्थ मूल्य समझकर, उनकी रक्षा या उपयोग करने के साथ-साथ काव्य-शास्त्र सम्बन्धी अनेक अछूते और अपूर्ण विषयों को लेकर नवीन दृष्टि से इस विषय के उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन कर सकते हैं। यह कार्य बिना प्राचीन ग्रन्थों के यथार्थ ज्ञान के सफल और पूर्ण नहीं हो सकता। हिन्दी के इतिहासों में भी सभी ग्रन्थों का परिचय तक नहीं है और बहुत से बड़े आवश्यक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी यथार्थ और पूर्ण विवरण नहीं मिलता, केवल नाम भर सुनते चले आये हैं। अतः हिन्दी में काव्य-शास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थों के यथार्थ परिचय की आवश्यकता थी। हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास पर कुछ प्रकाश डा० 'रसाल' के प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य-शास्त्र के विकास' में डाला गया है। पर उसमें आठ-दस पृष्ठों में ही इतिहास का प्रसंग समाप्त है और अधिकांश ग्रन्थ में अलंकारों का विकास दिखाने का प्रयत्न है जिसका रूपान्तर यथासम्भव अधिक विस्तार एवं पूर्णता के साथ देने का एक प्रयत्न किया गया है। यहाँ पर यह बात कह देनी आवश्यक है कि हिन्दी के ग्रन्थों में काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों के विकास करने का प्रयत्न नहीं हुआ है।

२

हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रारम्भ और विकास

प्रेरणा

संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रंथों में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अधिकांश सिद्धांतों के निरूपित हो जाने पर संस्कृत जाननेवाले हिन्दी के कवियों ने हिन्दी में भी उन सिद्धान्तों के लाने का विचार किया। संस्कृत-साहित्य की परम्परागत, शास्त्रीय एवं काव्यात्मक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होनेवाले कवियों ने, न तो देववाणी में लिखित विचारों, सिद्धांतों एवं नियमों का विरोध ही उचित समझा और न इतना सम्पन्न उत्तराधिकार प्राप्त हो जाने पर हिन्दी काव्य के आधार से काव्यशास्त्र के नये नियमों और सिद्धांतों के योजन का ही प्रयत्न किया। (हिन्दी के कवि संस्कृत के प्रकाण्ड आचार्यों के सामने नये नियम हिन्दी काव्य के लिए बनाते और देववाणी के काव्य सिद्धांतों को न अपनाते, यह उपहासास्पद था) ऐसा करना तो दूर की बात थी, हिन्दी में काव्य-रचना करना भी संस्कृत का सम्पर्क रखनेवाले कवियों के हृदय में कुछ हीनता की भावना भर देता था, क्योंकि संस्कृत-काव्य विद्वानों के बीच सम्मानित था और हिन्दी-काव्य को पढ़ने-सुननेवाले उस समय अथवा संस्कृत ज्ञान-विहीन साधारण जन ही थे तभी तो केशव ने लिखा है —

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्द मति, तेहि कुल केशवदास॥

(कविप्रिया)

२

हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रारम्भ और विकास

प्रेरणा

संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थों में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अधिकांश सिद्धांतों के निरूपित हो जाने पर संस्कृत जाननेवाले हिन्दी के कवियों ने हिन्दी में भी उन सिद्धान्तों के लाने का विचार किया। संस्कृत-साहित्य की परम्परागत, शास्त्रीय एवं काव्यात्मक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होनेवाले कवियों ने, न तो देववाणी में लिखित विचारों, सिद्धांतों एवं नियमों का विरोध ही उचित समझा और न इतना सम्पन्न उत्तराधिकार प्राप्त हो जाने पर हिन्दी काव्य के आधार से काव्यशास्त्र के नये नियमों और सिद्धांतों के खोजने का ही प्रयत्न किया। हिन्दी के कवि संस्कृत के प्रकाण्ड आचार्यों के सामने नये नियम हिन्दी काव्य के लिए बनाते और देववाणी के काव्य सिद्धांतों को न अपनाते, यह उपहासास्पद था। ऐसा करना तो दूर की बात थी, हिन्दी में काव्य-रचना करना भी संस्कृत का सम्पर्क रखनेवाले कवियों के हृदय में कुछ हेयता की भावना भर देता था, क्योंकि संस्कृत-काव्य विद्वानों के बीच समादृत था और हिन्दी-काव्य को पढ़ने-सुननेवाले उस समय अथवा संस्कृत-ज्ञान-विहीन साधारण जन ही थे तभी तो केशव ने लिखा है —

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्द मति, तेहि कुल केशवदास॥

(कविप्रिया)

लिखे गये प्राप्त सभी ग्रन्थ हिन्दी काव्यशास्त्र के लक्षण और उदाहरण तक में आधार स्वरूप उपयोग में लाये गये, पर कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं कि जिनका आधार विशेष रूप से लिया गया है। जिन ग्रन्थों का अधिकांश आधार लिया गया है, वे ये हैं—भरत का 'नाट्य-शास्त्र', भामह का 'काव्यालंकार', दण्डी का 'काव्यादर्श,' उद्भट का 'अलंकार सारसंग्रह', भोज के 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' केशव मिश्र का 'अलंकारशेखर,' अमरचन्द की 'काव्यकल्पलतावृत्ति', जयदेव का 'चन्द्रालोक', अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द', मम्मट का काव्य प्रकाश' विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', भानुदत्त के 'रसमंजरी', एवं 'रस तरंगिणी,' इत्यादि। इन ग्रन्थों में से केशव तथा कुछ अन्य उनके समकालीन लेखकों ने तो प्रायः पहले के ग्रन्थों का आधार लिया है पर केशवदास के उपरान्त तत्काल रीति ग्रन्थों की परम्परा चली नहीं। केशव की कविप्रिया (रचनाकाल सं० १६५८) के ५० वर्ष पीछे उसकी अखण्ड परम्परा का आरम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाये पुराने मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था। हिन्दी अलंकार-ग्रन्थ अधिकतर 'चन्द्रालोक', और 'कुवलयानन्द', के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया इस प्रकार 'दैवयोग से संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास के एक भाग की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिन्दी में हो गई'[1]।

शैली का आधार 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द' प्रभृति ग्रन्थों से विशेष रूप से लिया गया है जिनमें कि एक ही छन्द में लक्षण-उदाहरण अथवा पद्य में ही लक्षणों और उदाहरणों को प्रकाशित किया गया है। 'काव्यप्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'साहित्यदर्पण' एवं 'रस-गंगाधर' की ऐसी व्याख्या युक्त-शैली को बहुत कम लोगों ने अपनाया। इस शैली को अपनाने वाले चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, सोमनाथ इत्यादि हैं। अधिकांश ने लक्षणों को दोहों में और उदाहरणों को कवित्त सवैया अथवा अन्य छन्दों में लिखा है। कुछ लेखकों ने सोरठों और 'बरवै' में उदाहरण दिये हैं और कुछ दोहे के ही एक चरण में लक्षण और दूसरे चरण में उदाहरण दे गये हैं। यह बात साधारणतया कही जा सकती है

---

* अलग-अलग ग्रन्थों के आधार का विवरण आगे आनेवाले ग्रन्थों के अध्ययन में दिया जायगा।

१ देखिये 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २८१, संस्करण १९९७।

(घ) काव्यशास्त्र ग्रन्थ—वे ग्रन्थ जिनमें काव्य-शास्त्र के समस्त, अधिकांश या एकाधिक अङ्गों का वर्णन मिलता है।

विषयानुसार वर्गीकरण

क—अलंकार-ग्रन्थ

नीचे लिखे ग्रन्थ केवल अलंकार पर लिखे गए हैं।

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
१ गोप	अलंकार चन्द्रिका	सं० १६१५ सं० १६७३ वि०
२ करनेस	कर्णाभरण श्रुतिभूषण, भूपभूषण	सं० १६३७ के लगभग
३ छमराज	पदप्रकाश	सं० १६८५ के लगभग
४ जसवन्तसिंह	भाषाभूषण	सं० १६९५ के लगभग
५ मतिराम	ललितललाम	सं० १७१६ और १७४५ के बीच
६ भूषण	शिवराज भूषण	सं० १७३०
७ गोपालराय	भूषण विलास	सं० १७२६ के लगभग
८ बलवीर	उपमालंकार	सं० १७४१ के लगभग
९ सूरतिमिश्र	अलंकारमाला	सं० १७६६ वि०
१० श्रीपति	अलंकारगंगा	सं० १७७० के लगभग
११ गोप	रामचन्द्राभरण, रामचन्द्रभूषण	सं० १७७३ वि०
१२ रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय	सं० १७८६ वि०
१३ भूपति (गुरुदत्तसिंह)	कंठाभूषण	सं० १७९१ के लगभग
१४ वंशीधर	अलंकार रत्नाकर	सं० १७९ वि०
१५ रघुनाथ	रसिकमोहन	सं० १७९६ वि०
१६ गोविन्द कवि	कर्णाभरण	सं० १७९ वि०
१७ दूलह	कविकुल कंठाभरण	सं० १८ वि० के लगभग

टिप्पणी—रचनाकाल मिश्रबन्धुविनोद, खोजरिपोर्टों, शुक्ल जी के इतिहास तथा स्वयं ग्रन्थों के आधार पर दिए गए हैं जिनका उल्लेख आगे आने वाले विवरण में यथास्थान किया गया है।

लेखक

कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों का, जो विशेषकर कविता को लक्ष्य करके चले हैं, लक्षण-भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है और यह उदाहरण द्वारा ही स्पष्ट होता है। उदाहरण अधिकांशत सुन्दर बन पड़े हैं और लेखकों की काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा और भाषा पर उनके अधिकार के द्योतक हैं, किन्तु अधिक संख्या में लेखक आचार्यत्व के सर्वथा अयोग्य ही हैं। ये कवि ही प्रधान रूप में हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।

कुछ भी हो, काव्यशास्त्र पर लिखे गये हिन्दी ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रारम्भ से लेकर अब तक लिखे गये इन सभी ग्रन्थों का लेखा उपस्थित करना कठिन है, क्योंकि, प्रथम तो बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं जो प्रसिद्ध हुए यहाँ तक कि एक-आध बार प्रकाशित भी हुए, किन्तु उसके पश्चात् लुप्त हो गये और द्वितीय बहुतेरे ग्रन्थ केवल हस्तलिखित रूप में ही रहे। ये कभी छपे नहीं और महत्त्वपूर्ण होने पर भी अब दर्शन को नहीं मिलते। ये ग्रन्थ कहीं निज-पुस्तकालयों या राजपुस्तकालयों के पुराने बस्तों की ही शोभा बन रहे हैं और साध्य की आँखों से अधिक उनका सम्पर्क दीमक और चूहों से ही होता है। तीसरे कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका हल्दी मिर्च की पुड़िया बन कर रूपान्तर हो गया है और हो रहा है। वे इस व्यापारिक युग में अपने आश्रयदाताओं की गुण ग्राहकता पर उन्हें धन्यवाद देते हैं। चौथे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं, जो हैं तो सुरक्षित—पलटे और पढ़े भी जाते हैं—पर ऐसी सम्पत्ति समझे जाते हैं जिन पर संसार की और विशेषकर समालोचकों की आँख पड़ते ही नजर लग जाने का भय है। अत वे घर के कोनों या महलों में अचल, अडिग और स्थान-मोही देवताओं की भाँति ही पूजा पाते हैं। वे भाग्यशाली अवश्य हैं, पर एकान्त-भाग्यशालियों का संसार दर्शन कैसे करे यह समस्या है। इस प्रकार इस प्रचुर सामग्री का, जिसका कि खोज रिपोर्टों के द्वारा पता भी लगाया जा चुका है, उपयोग करना कठिन और किन्हीं-किन्हीं दशाओं में असम्भव है।

अस्तु, अब तक इतिहासकारों के द्वारा सूचित तथा प्राप्त सामग्री को हम निम्नलिखित चार भागों में रख सकते हैं —

(क) **अलंकार ग्रन्थ**—वे ग्रन्थ जो केवल अलंकार पर लिखे गये हैं।

(ख) **रस ग्रन्थ**—वे ग्रन्थ जिनमें केवल रसों का वर्णन मिलता है।

(ग) **शृंगार एवं नायिका-भेद ग्रन्थ**—वे ग्रन्थ जो केवल शृंगार-रस या नायिका भेद अथवा दोनों का वर्णन करते हैं।

(घ) काव्यशास्त्र ग्रन्थ—ये ग्रन्थ जिनमें काव्य-शास्त्र के समस्त, अधिकांश या एकाधिक अङ्गों का वर्णन मिलता है।

विषयानुसार वर्गीकरण

क—अलंकार-ग्रन्थ

नीचे लिखे ग्रन्थ केवल अलंकार पर लिखे गए हैं।

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
१ गोप	अलंकार चन्द्रिका	सं० १६१५ सं० १६७३ वि०
२ करनेस	कर्णाभरण श्रुतिभूषण भूपभूषण	सं० १६३७ के लगभग
३ छमराज	फतेहप्रकाश	सं० १७८१ के लगभग
४ जसवन्तसिंह	भाषाभूषण	सं० १६६५ के लगभग
५. मतिराम	ललितललाम	सं० १७१६ और १७४५ के बीच
६ भूषण	शिवराज भूषण	सं० १७३०
७ गोपालराम	भूषण विलास	सं० १७३६ के लगभग
८ बलवीर	उपमालंकार	सं० १७४१ के लगभग
९. सूरतिमिश्र	अलंकारमाला	सं० १७६६ वि०
१० श्रीपति	अलंकारगंगा	सं० १७७० के लगभग
११ गोप	रामचन्द्राभरण, रामचन्द्रभूषण	सं० १७७३ वि०
१२ रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय	सं० १७८८ वि०
१३ भूपति, (गुरुदत्तसिंह)	कंठाभूषण	सं० १७९१ के लगभग
१४ वंशीधर	अलंकार रत्नाकर	सं० १७९८ वि०
१५ रघुनाथ	रसिकमोहन	सं० १७९६ वि०
१६ गोविन्द कवि	कर्णाभरण	सं० १७९८ वि०
१७ दूलह	कविकुल कंठाभरण	सं० १८०० वि० के लगभग

टिप्पणी—रचनाकाल मिश्रबन्धुविनोद, खोजरिपोर्टों, शुक्ल जी के इतिहास तथा स्वयं ग्रन्थों के आधार पर दिए गए हैं जिनका उल्लेख आगे आने वाले विवरण में यथास्थान किया गया है।

—लेखक

कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों का, जो विशेषकर कविता का लक्ष्य करके चले हैं, लक्षण-भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है और यह उदाहरण द्वारा ही स्पष्ट होता है। उदाहरण अधिकांशतः सुन्दर बन पड़े हैं और लेखकों की काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा और भाषा पर उनके अधिकार के द्योतक हैं, किन्तु अधिक संख्या में लेखक आचार्यत्व के सर्वथा अयोग्य ही हैं। ये कवि ही प्रधान रूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं है।

कुछ भी हो, काव्यशास्त्र पर लिखे गये हिन्दी ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और प्रारम्भ से लेकर अब तक लिखे गये इन सभी ग्रन्थों का लेखा उपस्थित करना कठिन है, क्योंकि, प्रथम तो बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं, जो प्रसिद्ध हुए यहाँ तक कि एक-आध बार प्रकाशित भी हुए, किन्तु उसके पश्चात् लुप्त हो गये और द्वितीय बहुतेरे ग्रन्थ केवल हस्तलिखित रूप में ही रहे। ये कभी छपे नहीं और महत्वपूर्ण होने पर भी अब देखने को नहीं मिलते। ये ग्रन्थ सदा निज-पुस्तकालयों या राजपुस्तकालयों के पुराने बस्तों की ही शोभा बन रहे हैं और मनुष्य की आँखों से अधिक उनका सम्पर्क दीमक और चूहों से हो होता है। तीसरे कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका हल्दी मिर्च की पुड़िया बन कर रूपान्तर हो गया है और हो रहा है। वे इस व्यापारिक युग में अपने आश्रयदाताओं की गुण ग्राहकता पर उन्हें धन्यवाद देते हैं। चौथे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं, जो हैं तो सुरक्षित—पलटे और पढ़े भी जाते हैं—पर ऐसी सम्पत्ति समझे जाते हैं जिस पर संसार की और विशेषकर समालोचकों की आँख पड़ते ही नज़र लग जाने का भय है। अतः ये घर के कोनों या तहखानों में अचल, अडिग और स्थान-मोही देवताओं की भाँति ही पूजा पाते हैं। ये भाग्यशाली अवश्य हैं, पर एकान्त भाग्यशालियों का संसार दर्शन कैसे करे यह समस्या है। इस प्रकार इस प्रचुर सामग्री का, जिसका कि खोज रिपोर्टों के द्वारा पता भी लगाया जा चुका है, उपयोग करना कठिन और किन्हीं-किन्हीं दशाओं में असम्भव है।

अस्तु, अब तक इतिहासकारों के द्वारा सूचित तथा प्राप्त सामग्री को हम निम्नलिखित चार भागों में रख सकते हैं —

(क) **अलंकार ग्रन्थ**—ये ग्रन्थ जो केवल अलंकार पर लिखे गये हैं।

(ख) **रस ग्रन्थ**—वे ग्रन्थ जिनमें केवल रसों का वर्णन मिलता है।

(ग) **शृंगार एवं नायिका भेद ग्रन्थ**—वे ग्रन्थ जो केवल शृंगार-रस या नायिका भेद अथवा दोनों का वर्णन करते हैं।

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
१८ शम्भुनाथ	अलंकार दीपक	सं० १८०६ के लगभग
१९ रसरूप	तुलसीभूषण	सं० १८११ वि०
२० गुमान मिश्र	अलंकारदर्पण	सं० १८१८ वि०
२१ बैरीसाल	भाषा भरण	सं० १८२५ वि०
२२ नाथ (हरिनाथ)	अलंकारदर्पण	सं० १८२६ वि०
२३ रतनेश या रतन कवि	अलंकारदर्पण	सं० १८२७ वि० (शुक्ल) १८४१ वि० (लिपिक)
२४ दत्त	लालित्यलता	सं० १८३० वि०
२५ महाराज रामसिंह	अलंकारदर्पण	सं० १८३५ वि०
२६ ऋषिनाथ	अलंकारमणि मंजरी	सं० १८३१ वि०
२७ सेवादास	रघुनाथअलंकार	सं० १८४० वि०
२८ चंदन	काव्याभरण	सं० १८४५ वि०
२९ मान कवि	नरेन्द्रभूषण	सं० १८५५ वि०
३० ब्रह्मदत्त	दीपप्रकाश	सं० १८६७ वि०
३१ संग्रामसिंह	काव्यार्णव	सं० १८६६ के लगभग
३२ पद्माकर	पद्माभरण	सं० १८६७ के लगभग
३३ बलवानसिंह	चित्र-चन्द्रिका	सं० १८८८ वि०
३४ गिरिधरदास	भारतीभूषण	सं० १८९० वि०
३५ प्रतापसिंह	अलंकार चिन्तामणि	सं० १८९४ वि०
३६ चतुर्भुज	अलंकार आभा	सं० १८९६ वि०
३७ लेखराज	लघुभूषण	सं० १९०० के लगभग
	गंगाभरण	सं० १९१४
३८ ग्वाल	अलंकार भ्रमभंजन	सं० १९०० के लगभग
३९ शालिग्राम शाकद्वीपी	भाषाभूषण की समालोचना	सं० १९४० के लगभग
४० कन्हैयालाल पोद्दार	अलंकारप्रकाश	सं० १९५३ वि०
४१ भगवानदीन	अलंकारमंजूषा	सं० १९७३ वि०
कन्हैयालाल पोद्दार	अलंकारमंजरी	सं० १९९६ वि०
जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	अलंकारदर्पण	सं० १९९३ वि
रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	अलंकार पीयूष	सं० १९८६ वि०
[illegible]राम कन्हिया	भारती भूषण	सं० १९८७ वि०

(ग)

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
४६ लछिराम	रामचन्द्र भूषण	स० १९४७
४७ गुलाबसिंह	वनिता भूषण	स० १९४९
४८ गंगाधर	महेश्वर भूषण	सं० १९५२
४९ मुरारिदीन	जसवन्त जसोभूषण	स० १९५०

ख—रसग्रन्थ

रसों पर लिखे गए हिन्दी के निम्नलिखित ग्रन्थ हैं —

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
१ केशवदास	रसिकप्रिया	स० १६४८ वि०
२ ब्रजपति भट्ट	रंगभावमाधुरी	स० १६८० वि०
३ तोष	सुधानिधि	स० १६९१ वि० (मिश्रबंधु)
४ मदन	रसरत्नावली और रसविलास	स० १८वीं शताब्दी का प्रारंभ
५ तुलसीदास	रसकल्लोल तथा रसभूषण	स० १७११ वि०
६ कुलपति	रसरहस्य	स० १७२४ वि०
७ गोपालराम	रससागर	स० १७२६ वि०
८ सुखदेव मिश्र	रसार्णव तथा	स० १७३० वि०
	फाजिलअली प्रकाश	स० १७३३ वि०
९ श्रीनिवास	रससागर	स० १७५ वि०
१० लोकनाथ चौबे	रसतरंग	स० १७५० वि०
११ सूरतिमिश्र	रसरत्नाकर, रसरत्नमाला	
	रसग्राहक चन्द्रिका	स० १७६ वि० के लगभग
१२ देव	भवानी विलास, रसविलास	
	और कुशलविलास	स० १७८३ वि० के लगभग
१३ बेनी प्रसाद	रसशृंगार समुद्र	स० १७९५ वि० के लगभग
१४ श्रीपति	रससागर	स० १७७० वि०
१५ याकूब खाँ	रसभूषण	स० १७७५ वि०
१६ वीर	कृष्णचन्द्रिका	स० १७७९ वि०
१७ भिखारीदास	रससारांश	स० १७९९ वि० (शुक्ल)
१८ गुरुदत्तसिंह	रसरत्नाकर, रसदीप	स० १८वीं शताब्दी का

लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
१६ रसलीन	रस प्रबोध	सं० १७६८ वि०
२० रघुनाथ	काव्यकलाधर	सं० १८०२ वि०
२१ उदयनाथ	रसचन्द्रोदय	सं० १८०४ वि०
२२ शम्भुनाथ मिश्र	रसकल्लोल, रसतरंगिणी	सं० १८०६ वि०
२३ समनेस	रसिकविलास	सं० १८२७ वि०,१८४० (शुक्ल)
२४ दौलतराम या उजियारे	रसचंद्रिका	सं० १८३७ वि० के लगभग
,, ,	जुगुलप्रकाश	,, १८३७ वि०
२५ रामसिंह	रसनिवास	, १८३६ वि०
२६ सेवादास	रसदर्पण	,, १८४० वि०
२७ बेनी बन्दीजन	रसविलास	,, १८४६ वि०
२८ पद्माकर	जगतविनोद	,, १८६७ वि०
२९ बेनी 'प्रवीन'	नवरसतरंग	,, १८७८ वि०
३० करन कवि	रसकल्लोल	,, १८८५ वि०
३१ ग्वाल	रसरंग	,, १६०४ वि०
३२ नन्दराम	शृंगारदर्पण	,, १६२६ वि०
३३ खेतराज	रसरत्नाकर	, १६३० वि०
३४ महाराजाप्रतापनारायण	रसकुसुमाकर	, १६५१ वि०
३५ नलदेव (द्विजगंग)	प्रमदा-पारिजात	, १६५७ वि
३६ हरिऔध	रसकलस	,, १६८८ वि०
३७ कन्हैयालाल पोद्दार	रसमंजरी	,, १६६१ वि०
३८ अजेरा	रस-रंगांग निर्णय	,, १६६३ वि

ग—शृंगार और नायिका-भेद के ग्रंथ

लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
१ कृपाराम	हिततरंगिणी	सं० १५६८ वि०, (मि० बं०)
२ सूरदास	साहित्यलहरी	१६०७ वि०
३ नन्ददास	रसमंजरी	१७वीं शताब्दीका प्रारंभ
४ मोहनलाल	शृंगार-सागर	१६१६ वि०
५ सुन्दरकवि	सुंदर शृंगार	१६८८ वि० (मि० बं०)
६ चिन्तामणि	शृंगारमंजरी	, १८वीं शताब्दीका प्रारंभ

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
७ शम्भुनाथ सुलकी	नायिकाभेद	१७०७ वि०
८ मतिराम	रसराज और	, १७०० वि० के लगभग
	साहित्यसार	१७४० वि० के लगभग
९. सुखदेव मिश्र	शृंगारलता	१७३३ वि० के आसपास
१० कृष्णभट्ट देवऋषि	शृंगाररसमाधुरी	, १७६६ वि०
११ देव	सुखसागर तरंग	सं० १८वीं शताब्दी का मध्य
	जातिविलास	„ „
१२ कालिदास	वधूविनोद	„ १७४९ वि०
१३ कुन्दन	नायिकाभेद	„ १७५२ वि०
१४ केशवराय	नायिकाभेद	„ १७५४ वि०
१५ रसलीन	रसनिविलास	„ १७५६ „(खो०रि० १९०२)
१६ रूद्रराम	नायिकाभेद	„ १७६५ वि०
१७ आज़म	शृंगार रसदर्पण	„ १७८६ वि०
१८ भिखारीदास	शृंगारनिर्णय	„ १८०७ वि०
१९ सोमनाथ	नवरस चन्द्रोदय	„ १८१८ वि० (याज्ञिक सं०)
२० रसिक सुमति तथा हितकृष्ण	नायिकाभेद	„ १८४० वि०
२१ देवकीनन्दन	शृंगारचरित	„ १८४१ वि०
२ लालकवि	विष्णुविलास	„ १८वीं शताब्दी का मध्य
२३ मोतीलाल दुबे	रसतविलास	„ १८५६ वि०
२४ यशवन्तसिंह द्वितीय	शृंगारशिरोमणि	„ १८५६ वि०
५ माखनलाल पाठक	रसत मंजरी	„ १८६० वि०
६ यशोदानन्दन	बरवैनायिका-भेद	„ १८७२ वि०
२७ दयानाथ दुबे	आनन्दरस	„ १८८८
२९ जगन्नीयलाल	ब्रजविनोद नायिका भेद	„ बीसवीं शताब्दी
२८ नवीन कवि	परमानन्द-रसतरंग आदि	„ १८८९
	रंग तरंग	
३० चन्द्रशेखर	रसिक विनोद	„ १९०३

घ— काव्यशास्त्र-ग्रंथ

	लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
१	केशवदास	कविप्रिया	सं० १६५८ वि०
२	चिंतामणि	कविकुल-कल्पतरु,	,, १७०७ वि०,
	चिन्तामणि	काव्यप्रकाश	,, १७०० वि० के लगभग
३	कुलपति	रसरहस्य	,, १७२७ वि०
४	देव	भावविलास और	,, १७४६ वि०
		काव्यरसायन या शब्दरसायन	,, १७६० वि० के लगभग
५	सूरतिमिश्र	काव्यसिद्धांत	सं० १८वीं शताब्दी का अंतिम चरण
६	कुमारमणि	रसिकरसाल	सं० १७७६ वि०
७	श्रीपति	काव्यसरोज तथा	,, १७७७ वि
		काव्यकल्पद्रुम	,, १७८० वि०
८	गंजन	कमरुद्दीन हुलास	,, १७८६ वि०
९	सोमनाथ	रसपीयूषनिधि	,, १७९४ वि०
१०	भिखारीदास	काव्यनिर्णय	,, १८०३ वि०
११	रूपसाहि	रूपविलास	, १८१३ वि
१२	रतनकवि	फतेहभूषण	,, १८३० वि० के आसपास
१३	जनराज	कवितारसविनोद	, १८३३ वि०
१४	थानकवि	दलेलप्रकाश	, १८४० वि०
१५	गुरुदीन पांडे	बागमनोहर	, १८६० वि०
१६	करन	साहित्यरस	,, १८६० वि
१७	प्रतापसाहि	व्यंग्यार्थ कौमुदी	,, १८८२ वि०
		काव्यविलास तथा	,, १८८६ वि०
		काव्यविनोद	,, १८८६ वि०
१८	भवानी प्रसाद पाठक	काव्यशिरोमणि और	
		काव्यकल्पद्रुम	,, अज्ञात
१९	रणधीर सिंह	काव्यरत्नाकर	,, १८९७ वि०
२०	ग्वाल	साहित्यदर्पण तथा	,, १९०० वि०
		साहित्य दूषण	,, १९०० वि० के लगभग
२१	रामदास	कविकल्पद्रुम (साहित्यसार)	,, १९०१ वि०

	लेखक	ग्रंथ	रचनाकाल
२२	सालिग्राम शाकद्वीपी	काव्य प्रकाशकी समालोचना	,, १९२० वि०
२३	बल्देव	प्रताप विनोद	,, १९२६ वि०
२४	लछिराम	कमलानन्द कल्पतरु	,, १९४० वि०
		रावणेश्वर कल्पतरु	,, १९४७ ,
२५	नारायण	नाट्यदीपिका	,, २० शताब्दी का प्रथम चरण
२६	मुरारिदान	जसवन्तजसोभूषण	,, १९५० वि०
२७	जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	काव्यप्रभाकर	,, १९६७ वि०
२८	सीताराम शास्त्री	साहित्यसिद्धान्त	सं० १९८० वि०
२९	कन्हैयालाल पोद्दार	रसमंजरी	, १९९१ वि०
३०	बिहारीलाल भट्ट	साहित्यसागर	,, १९९४ वि०
३१	मिश्रबन्धु	साहित्य पारिजात	,, १९९७ ,
३२	रामदहिन मिश्र	काव्यालोक, काव्यदर्पण	,, २००१ , तथा २००४ वि०

आ—भक्ति कालीन ग्रन्थों का अध्ययन

केशवदास के पूर्ववर्ती लेखक

यों तो हिंदी-साहित्य के इतिहासकार, शिवसिंह 'सरोज' के आधार पर सं० ७७० वि० के लगभग होनेवाले भोज के पूर्व पुरुष राजा मान के दरबार में एक कवि पुण्ड या पुष्य का उल्लेख करते हैं[1] किन्तु उनका ग्रन्थ या विवरण अप्राप्य है। सरोज' में उल्लेख यह है[2] कि पुण्ड नामी बंदीजन के द्वारा दोहों में हिन्दी भाषा में संस्कृत अलंकारों का अनुवाद लिखा गया था। सरोजकार ने उस काल टाड के राजस्थान' के आधार पर लिखा है किंतु ग्रंथ अभी तक किसी के देखने में नहीं आया। यदि उस समय ऐसे ग्रंथ का प्रमाण मिल सके तो न केवल अलंकार शास्त्र का ही यह पहला ग्रंथ होगा, वरन् वह हिन्दी में भी सबसे प्राचीन ग्रंथों में से होगा किंतु उसका कोई भी प्रमाण प्राप्य नहीं है और न उसके बाद ही कोई इस नाम का कवि मिलता है।

इस अवस्था में काव्यशास्त्र पर सबसे प्रथम लेखक कृपाराम' ही ठहरते हैं। कृपाराम की हिततरंगिणी'* रस-रीति पर सर्वप्रथम ग्रंथ है। इसको उन्होंने दोहा छंद में कवियों के हितार्थ लिखा था। इनके उदाहरण बहुत ही सुंदर हैं, और उदाहरण सुंदर बनाने का उनका प्रयास भी स्पष्ट है—

> रच्यौ ग्रंथ कबिमत धरे धरे कृष्ण को ध्यान।
> तामें सरस उदाहरन लच्छनजुत सज्ञान॥

इनके कुछ दोहे तो किन्हीं किन्हीं संग्रहों में 'बिहारी-सतसई' में मिल भी शामिल हैं।

---

१ देखिए, १ 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १, पृष्ठ ७१ (सं० १९६४ वि०)

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३ (सं० १९९७ वि०)

२ देखिए, शिवसिंह सरोज' पृ० ६, (भूमिका)

* टिप्पणी—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' अपने 'एवोल्यूशन आव् हिन्दी पोइटिक्स' में करनेस बन्दीजन की हिततरंगिणी' का उल्लेख करते हैं और उसका समय सं० १२०० ई० के लगभग बताते हैं। सम्भवतः उनका अर्थ इसी कृपाराम की ही 'हिततरंगिणी' से है, क्योंकि करनेस ने कोई भी 'हिततरंगिणी' नहीं लिखी।

कृपाराम के वर्णन से तो ज्ञात होता है कि उनके समय तक और ग्रन्थ भी रसरीति पर लिखे जा चुके थे जैसा कि उनके निम्नलिखित दोहों से प्रकट है —

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतीयासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु ॥ २ ॥
बरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहानि बिच याते सुघर विचारि ॥ ४ ॥
अच्छर थोरे भेद बहु पूरन रस को धाम।
हिततरंगिनी नाम की रच्यो ग्रन्थ अभिराम ॥ ५ ॥

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'हिततरंगिणी' की रचना तिथि सं० १५९८ वि० की माघ शुक्ल तृतीया थी और उस समय बड़े छन्दों में अन्य कवियों की रचनाएँ भी इस विषय पर होती थीं पर उनकी अप्राप्ति में 'हिततरंगिणी' ही सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ रस-रीति पर ठहरता है। यह ग्रन्थ पाँच तरंगों में समाप्त हुआ है। यद्यपि नायिका भेद का पूर्ण विवरण है, पर सिद्धांत निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण है।[1] कृपाराम का आधार प्रमुखतः भरत का नाट्य शास्त्र है जैसा कि उनकी पंक्ति 'कृपाराम यों कहत है, भरत ग्रन्थ अनुमानि।' से ज्ञात होता है पर अन्तिम स्वाधीन-पतिका आदि नायिका के दस भेदों से स्पष्ट होता है कि उसमें भानुदत्त का भी आधार है क्योंकि भरत ने केवल आठ भेद किये हैं, दस नहीं।

इसके पश्चात् गोपा का 'रामभूषण' सम्भवतः राम के यश-वर्णन के साथ अलंकार ग्रन्थ है और इनकी 'अलंकार-चन्द्रिका' में स्वतन्त्र रूप से अलंकारों का विवेचन है,[2] किंतु इनका भी विवरण विशेष उपलब्ध नहीं। इनका समय मिश्रबन्धुओं के अनुसार सं० १६१५ वि० है पर इनका यथार्थ समय सं० १७७३ है, और जैसा खोज रिपोर्ट से पता चलता है गोपा और गोप एक ही हैं। सं० १६१६ में मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' रचा गया जो कि रस और नायिका-भेद का ग्रंथ है।

कृष्ण-भक्त और अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास की लिखी 'रसमंजरी' भी नायिका भेद का ग्रंथ है जिसमें नायक-नायिका भेद, हाव, भाव, हेलादिक का वर्णन है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है—

---

१ देखिये, 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १, पृ० २४७।

२ देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १, पृ० २०१ (द्वितीय संस्करण) तथा खोज रि० १९०५।

एक मीत हमसा प्रस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं गुन्यों।
प्रर जो भेद नाइक के गुने, तेहु मैं नहिं नीके सुने॥

हाउ भाउ हेलादिक जिते, रति समेत समझायहु तिते।[1]

इस नायिका-भेद के वर्णन में नन्ददास ने एक 'रसमंजरी' का ही आधार लिया है जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है—

रसमंजरि अनुसारि कै नन्दसुमति अनुसार।
वर्णत बनिता-भेद जहँ, प्रेमसार-विस्तार॥

यह रसमंजरी जैसा कि नन्ददास-ग्रंथावली के सम्पादक पं० उमाशंकर शुक्ल का मत है भानुदत्त की 'रसमंजरी' ही है क्योंकि उनके उदाहरणों में भानुदत्त की 'रसमंजरी' के पद्य उदाहरणों का रूपान्तर मात्र ही दीख पड़ता है,[2] इसमें शास्त्रीय विवेचन का अभाव है। गद्य व्याख्या का, जो भानुदत्त की 'रसमंजरी' में निरूपण के उद्देश्य को लेकर लिखी गई, कोई स्थान इस ग्रंथ में नहीं। उद्देश्य केवल प्रेम-रस निरूपण ही है, जैसा कि कवि के नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है—

बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न परचै होय।
धरनहीन ऊँचे अधम चढ़त न देख्यो कोय॥

इसके पश्चात् करनेस के 'करणाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक अलंकार[3] पर लिखे गये ऐसे ग्रंथ हैं जिन्हें हम केशवदास के पूर्व की काव्य-शास्त्र पर उपलब्ध सामग्री के अन्तर्गत रख सकते हैं। करनेस बन्दीजन 'मिश्रबन्धु विनोद' के अनुसार नरहरि के साथ दरबार में जाया करते थे।[4] इनके ग्रंथों का और विवरण अलभ्य है। इन सभी लेखकों का काव्य शास्त्र के दृष्टिकोण से अथवा प्रभाव के विचार से कोई विशेष महत्व नहीं है। यद्यपि इन्होंने रीतिकालीन शास्त्रीय ग्रंथों की शृंखला को कुछ और प्रारम्भिक कड़ियों से जोड़ दिया है किन्तु यथार्थतः सबसे पहले और महत्वपूर्ण आचार्य केशवदास ही हैं और ये सब ग्रंथ बहुत ही साधारण हैं।[5]

---

१ देखिये 'नन्ददास ग्रन्थावली' प्रथम भाग, पृ० ११ (सं० उमाशंकर शुक्ल)
२ देखिये पं० उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित 'नन्ददास ग्रन्थावली', प्रथम भाग, पृ० १३ (प्रथम संस्करण)।
३ देखिये पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २५१।
४ देखिए 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग १, पृष्ठ ३२४ सं० १११४
५ देखिए 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग १ ,, ३४० ,,

आचार्य केशवदास

हिन्दी काव्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण लेखकों में केशवदास का नाम अग्रगण्य है। वे सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्रधानतया काव्य-शास्त्र पर लिखा। अपने समय में और सम्पूर्ण रीतिकाल भर में केशव का स्थान एक आचार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा है। न केवल आचार्य वरन् कवि के रूप में भी केशव की प्रसिद्धि हिन्दी-साहित्य के रसिकों के बीच आधुनिक काल के प्रारम्भ तक रही। अतः उसी प्रभाव और प्रसिद्धि की परम्परा को स्थापित रखनेवाली जनता के लिए यह एक आश्चर्य की बात हुई कि हिन्दी-साहित्य के आचार्य की ख्याति में वर्तमान समय की आलोचना के द्वारा इतना बट्टा लगे। यथार्थ में केशव का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण कविता करना और कवियों को शिक्षा देना था, गम्भीर शास्त्रीय रीति से काव्यांगों का विवेचन कर कोई सिद्धांत खड़ा करना नहीं। उसका कारण यह था कि केशव का उद्देश्य न तो काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों का गहराई के साथ विवेचन करना ही था और न रस को बहानेवाली कविता लिखना ही वरन् संस्कृत के ज्ञान-भंडार को सामने रखना ही उन्हें अभीष्ट था।

केशव चमत्कार को माननेवाले आलंकारिक सिद्धांत पर श्रद्धा रखते थे अतः इन्होंने प्राचीन संस्कृत के आलंकारिकों भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आदि को ही अपने विवेचन का आधार बनाया। आनंदवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रंथ आधार नहीं बन सके। किंतु केशवदास के पश्चात् चिंतामणि के साथ-साथ जो परम्परा, रीति-ग्रंथकारों की चली उसके लिए आधार 'चंद्रालोक' 'कुवलयानंद', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' आदि ही थे। अतः प्रधानतया रीति-परम्परा ने केशव के द्वारा ग्रहण किया हुआ आधार स्वीकृत नहीं किया।[1]

इसका यह अर्थ नहीं है कि केशव का समकालीन और परवर्ती कवियों पर प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ विद्वान् मानते हैं कि केशव का आचार्यत्व को किसी भी लेखक ने नहीं माना और श्रीपति इत्यादि ने उसके शास्त्रीय विवेचन में दोष तक निकाले हैं।*

---

१ देखिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८१

"It is also a fact that Keshava a great Master or writer of poetics with sufficient originality could not attract people to follow him. There is hardly to be found any poet or scholar of Hindi who is ready to recognise the authority and accepts his view on Poetics (not to say this scholars like Sripati have criticised him and have tried to show his work on poetics as faulty).However he has been allowed a very high place in the field of Hindi literature."

Evolution of Hindi Poetics" by Dr Ram Shanker Shukla

'पानी जू के वरन जुग, सुवरन कन परमान।
सुकवि सुमुख कुरुनत परि, होत सुमेर समान।'

दो वर्णों का अर्थ यदि ह्रस्व और दीर्घ है तो छन्दशास्त्र की ही भवनावली निर्मित हो सकती है किन्तु सुकवि के मुख के सम्पर्क से तात्पर्य संगीत और अर्थ दोनों का गौरव भी हो सकता है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि शब्दों की शक्ति है किन्तु कवि की प्रतिभा की शक्ति भी विचित्र है। केशव के विचार से कविता दोषहीन होनी चाहिए जिस प्रकार गंगा का पवित्र पानी थोड़ी सी मदिरा के संसर्ग से अपवित्र हो जाता है इसी प्रकार मित्र, स्त्री और कविता भी किंचित मात्र दोष आजाने पर आकर्षण और प्रभाव को खो देते हैं।[1]

कवियों के प्रकार पर विचार करते हुए केशव कहते हैं कि तीन प्रकार के कवि, और तीन प्रकार की मति, भावना के आधार पर होती है—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम कवि हरि-रस में मग्न रहते हैं, मध्यम मनुष्यों में और अधम दोषों में तल्लीन रहते हैं।[2] इस प्रकार प्रथम प्रकार के कवि परमार्थ की प्रेरणा करते हैं, और अधम प्रकार के स्वार्थ की। मध्यम प्रकार की कविता क्रिया में दोनों प्रकारों का सामंजस्य रहता है। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक होगा कि केशव का यह कथन हिन्दी काव्य के लिए अधिकांश उपयुक्त बैठता है। तुलसीदास ने भी काव्य के यथार्थ उद्देश्य के विषय में ही यह कहकर अपना मत प्रकट किया है —

कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

हिन्दी काव्य में यथार्थ में अन्य और गुणों के साथ यही कविता का मापदण्ड रहा है।

---

१ देखिये कविप्रिया (प्रियाप्रकाश, प्रकाश ३, छन्द १-२)

२ केशव तीनिहुँ लोक में त्रिविध कविन के राय।
मति पुनि तीन प्रकार की बरणत सब सुख पाय॥
उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन॥

—कविप्रिया, चतु० प्रभाव, छन्द १, २

वर्णन के ढंग पर केशवदासजी कहते हैं कि अधिकांश तीन प्रकार के वर्णनों का समावेश काव्य में होता है। प्रथम तो वह जिसमें कुछ विरोधी सच्ची बातों का वर्णन नहीं किया जाता जैसे चदन के फलफूल का वर्णन कवि नहीं करते और कृष्ण पक्ष के प्रकाशयुक्त भाग और शुक्ल पक्ष के अन्धकार का वर्णन नहीं करते यद्यपि दोनों का परिमाण बराबर रहता है।[1] दूसरे वह जिसमें असत्य सत्ता का वर्णन होता है जैसे जहाँ भी समुद्र-वर्णन कवि करते हैं वहाँ सभी को रत्नाकर कहते हैं और छोटे-छोटे तालाबों में भी हंसों का वर्णन करते हैं[2] और तीसरे कुछ परम्परा से आने वाली रूढ़ियों या कवि प्रसिद्धियों का वर्णन होता है चाहे उन्हें किसी ने देखा हो चाहे न देखा हो।[3] इन तीनों के निर्देश-द्वारा केशव का विचार यह कदापि नहीं था कि कवि को अपने मन से सत्यता का वर्णन करना चाहिए। उनका यथार्थ उद्देश्य यही है कि कविता में इस प्रकार की बातें भी कवि-स्वतन्त्रता के अन्तर्गत हैं फिर भी केशव के द्वारा इन बातों को सामने रखे जाने से उन पर विचार किया जा सकता है और कोई भी व्यक्ति इससे यह भी ग्रहण कर सकता है कि इनको छोड़, नये कवियों को नये पथ को ग्रहण कर चलना चाहिए। केशव के विचार से प्रतिभा या कवि की कल्पना पर ही काव्य का सौंदर्य निर्भर करता है।

---

१ केशवदास प्रकाश बहु, चन्दन के फल फूल।
कृष्ण पक्ष की जोन्ह ज्यों, शुक्ल पक्ष तम मूल॥

२ जहँ जहँ बरनत सिन्धु सब, तहँ तहँ रतननि लेखि।
सूक्ष्म सरोवरहूँ कहैं, केशव हंस विशेषि॥

३ देखिये कविप्रिया प्रभाव ४, ११ वें दोहे के आगे।

टिप्पणी—कविप्रिया का यह चौथा प्रभाव केशवमिश्र के 'अलंकारशेखर' तथा अमरचन्द्र की 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' के आधार पर है। विशेष विवरण के लिये देखिये—अलंकारशेखर षष्ट रत्न, काव्यकल्पलतावृत्ति प्रतान१, स्तबक-२ पृ० ४२ ११० तथा 'केशव की काव्यकला' ले० कृष्णशंकर शुक्ल पृ० १८९ १८७, स० १९९० संस्करण।

यथार्थ में 'अलंकारशेखर' और 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के क्रमशः कविसम्प्रदाय और कवि समय वाले प्रसंगों की तुलना करने पर ऐसा ज्ञात पड़ता है कि कुछ शब्दों के हेरफार को छोड़कर दोनों एक हैं। काव्यकल्पलता, 'अलंकारशेखर', से पुराना ग्रन्थ है और कविशिक्षा

केशव के विचार से वस्तुयें केवल वास्तविक प्रत्यक्ष के बल पर सौंदर्य-युक्त नहीं होती। वस्तु का बाह्य सौंदर्य काव्यगत सौंदर्य नहीं होता, वरन् कल्पना की आँखों से देखी जाने पर ही और कवि की प्रतिभा का संसर्ग प्राप्त कर ही, उनमें अद्भुत सौंदर्य-छटा आती है। बहुतेरी वस्तुयें जो कि देखने में इतनी सुन्दर नहीं, कवि के कोमल, कल्पनायुक्त वर्णन की छाया में अपूर्व शोभाशालिनी हो जाती हैं। इसीलिए केशव ने अनेक स्थानों पर बाहुल्य के साथ उत्प्रेक्षालंकार का प्रयोग करके इसको प्रकट किया है। 'रामचन्द्रिका' में सीता के मुख का वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

"देखे मुख भावै अनदेखे ही कमलचन्द ताते मुख मुखै सखी कमलौ न चन्द री"

यहाँ पर केशव का स्पष्ट विश्वास यही है कि चन्द्र और कमल प्रत्यक्ष इतने सुन्दर नहीं हैं जितना कवियों की कल्पना ने उन्हें सुंदर बना दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि केशव कवि-कल्पना को अधिक महत्व देते थे और वक्रोक्ति अर्थात् कथन की विशदता ही कविता का प्राण समझते थे (जैसा कि रामचन्द्रिका की नई नई उक्ति से युक्त वर्णनों से स्पष्ट है) और वस्तुओं का स्वाभाविक और यथातथ्य वर्णन नहीं। हमें सर्वत्र ही केशव की कविता के विवेचन में उनके उपर्युक्त काव्य-सम्बन्धी सिद्धांत को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए।

काव्य-दोष

'कविप्रिया' के तीसरे प्रभाव में केशव ने काव्य-दोषों का वर्णन किया है। इसमें उन्होंने दोषों की संख्या १८ मानी है। उनके नाम हैं —

अंध,	बधिर,	पंगु,
नग्न,	मृतक,	अगन,
हीनरस,	यतिभंग,	व्यर्थ,
अपार्थ	हीनक्रम,	कर्णकटु,
पुनरुक्ति,	देशविरोध,	कालविरोध,
लोक विरोध,	न्याय विरोध,	और आगम विरोध।

पर महत्व का भी। अतः सम्भव है कि 'अलंकारशेखर' और 'कविप्रिया' दोनों के रचयिता केशवों का 'काव्यकल्पलता' ही एक स्रोत या आधार रही हो 'काव्यकल्पलता' स्वयं राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से आधार प्राप्त करती जान पड़ती है। 'काव्यकल्पलता' के सूत्र अरिसिंह-द्वारा और वृत्ति, अमरचन्द्र यति-द्वारा रची गई।

दोषों की सख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मानी है और ये, हो भी अनक सकते हैं। केशव के अधिकांश दोष[1] दडी क 'काव्यादर्श' के आधार पर हैं। पहले के पाँच दोषों के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे केशवदास की अपनी उपज हैं, किन्तु ये सभी काव्य-दोष नहीं जान पड़ते।

इस सम्बन्ध में 'केशव का काव्यकला' में पं० कृष्णशकर शुक्ल ने लिखा है कि—"मृतक दोष केशव ने वहाँ माना है जहाँ वास्तव म कोइ अथ न हो। परन्तु जब तक शब्दों का कुछ अथ न निकले तब तक काव्य की संज्ञा ही नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में मृतक दोष काव्य का दोष नहीं है। अलकाररहित कविता को केशव ने नग्नदोषयुक्त माना है। सस्कृत क प्राय अधिक आचार्यों की सम्मति है कि अलकार, काव्य की शोभावृद्धि में सहायक तो अवश्य होते हैं परन्तु ये काव्य के अनिवाय धम नहीं हैं। अलकारों की योजना के बिना भी काव्य हो सकता है। यही बात मम्मट न 'अनलकृती पुन क्वापि' के द्वारा व्यक्त की है। दडी ने भी अलकारों को काव्य का अनिवाय अग नहीं माना है। उनकी अलकारों की साधारण परिभाषा से ही यह ध्वनि निकलती ह। व कहते हैं—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते।' ऐसे ही आचाय वामन की सम्मति है। ऐसी अवस्था में केशव का नग्नदोष भी व्यथ हो जाता है। पंगुदोष क अन्तगत, छन्दोभग-यतिभग इत्यादि

---

[1] व्यथ, अपार्थ, कालविरोध, आगम विरोध इत्यादि के लक्षण और उदाहरण दडी के काव्यादर्श के यही दोष, तथा गतिभग दडी का यतिभग, लोकविरोध कलाविरोध पथ न्याय,—वृत्तभग हैं। देखिये तुलना के लिए काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद तथा 'केशव की काव्य कला' पृ० १८४—१८६।

आचार्य दडी-द्वारा निर्धारित 'काव्य दोष' नीचे के श्लोकों में व्यक्त है —

"अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयम् अपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्॥ १२५
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥ १२६

तथा —काव्यादर्श, तृतीय परिच्छेद।

अध बधिर अरु पग तजि नग्न मृतक मति शुद्ध।
अध विरोधी पथ को, बधिर सु शब्द विरुद्ध॥ ७
छदविरोधी पगु गनि, नग्न जु भूषण हीन।
मृतक कहाव अथ बिनु, केशव सुनहु प्रवीन॥ ८

दोष आ जाते हैं। केशव का बधिर-दोष दंडी के ग्राम्यता-दोष से मिल जाता है। अन्ध दोष वहाँ माना गया है, जहाँ कवि को, कविसम्प्रदाय में एक प्रकार से मान ली गई बातों का ज्ञान नहीं होता।"[१]

यहाँ पर यदि विचारपूर्वक देखें तो अन्ध-दोष, बधिर-दोष और नग्नदोष तो ठीक हैं पर मृतक व्यर्थ है और पंगु का समावेश यतिभंग के अन्तर्गत हो सकता है। नग्न-दोष केशव के विचार से दोष है। यह बात दूसरी है कि विद्वानों के अधिकांश ने अलंकार को आवश्यक न माना हो जैसे मम्मट, विश्वनाथ इत्यादि पर पूर्ववर्ती आचार्य जैसे दंडी जब कहते हैं कि 'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' तब अलंकार से हीनता काव्य की शोभा हीनता तो अवश्य है और शोभाहीनता, जिसके लिए शोभा ही जीवन हो, उसके लिए दोष अवश्य है। केशव का विश्वास तो था ही कि—

'भूषन बिना न सोभहीं कविता बनिता मित्त'

अतः यह काव्य-दोषों के अन्तर्गत आ जाता है। यह दूसरी बात है कि हम अलंकार से हीन काव्य को काव्य की संज्ञा दे सकते हैं। अतः अलंकार न होना एक कमी हो सकती है। फिर जब रसहीनता एक दोष है तो केशव की दृष्टि से अलंकार हीनता भी। हाँ, अर्थ हीन शब्दों को हम काव्य ही नहीं कह सकते, इसलिए दोष काहे का।

'कविप्रिया'' में वर्णित इन दोषों के अतिरिक्त केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस-दोषों

बगन न कीजै हीनरस, अरु केशव यतिभंग।
व्यर्थ अपारथ हीन क्रम, कवि कुल तजो प्रसंग॥ १०
देश-विरोध न बरनिये, कालविरोध निहारि।
लोकन्याय आगमन के, तजो विरोध विचारि॥ ११

—कविप्रिया, तीसरा प्रभाव।

व्यर्थ का उदाहरण

केशव :—एक कवित्त प्रबन्ध में जब विरोध जु होय।
पूरब पर अनमिल सदा, व्यर्थ कहैं सब कोय॥
दंडी — एके वाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापर पराहतम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते॥ १३१

—काव्यादर्श, तृतीय परिच्छेद।

केशव का उदाहरण दंडी के व्यर्थ-दोष का अनुवाद ही है। इसी प्रकार और भी।
१ देखिए कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्यकला', पृ० १८३-१८४।

का भी वर्णन किया है जिसको केशव ने 'अनरस' की संज्ञा दी है। ये हैं—प्रत्यनीक, नीरस विरस, दुःसधान और पात्रदुष्ट।[1] इनमें केशव के अनुसार 'प्रत्यनीक' वहाँ होता है, जहाँ पर विरोधी रस जैसे शृंगार-वीभत्स, रौद्र-करुणा आदि एकत्र हों। 'नीरस' वहाँ होता है जहाँ प्रेम का प्रकाशन केवल मौखिक रूप में हो, हृदय में प्रेमानुभूति न हो। 'विरस' वहाँ होता है जहाँ पर शोक के वायुमण्डल में आनन्द विलास का वर्णन हो, 'दुःसधान' वहाँ होता है जहाँ पर एक की अनुकूलता और दूसरे की प्रतिकूलता का वर्णन हो, और 'पात्र दुष्ट' वहाँ होता है जहाँ पर जैसा समझे वैसा न वर्णन करके अनसमझे कुछ का कुछ वर्णन करे। उपर्युक्त वर्गों पर विचार करने से जान पड़ता है कि यह रस-दोष के प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन नहीं हैं। ध्यान से देखें तो प्रत्यनीक, विरस, दुःसधान आदि विरोधी भावों के आधार पर ही हैं। यह रस-दोष का वर्णन रुद्रभट्ट के 'शृंगार तिलक' पर आधारित जान पड़ता है।

केशव का अलंकार वर्णन

केशवदास काव्य में अलंकार को बहुत महत्व देते हैं। उनका कथन है कि चाहे कितनी ही अच्छे लक्षणवाली क्यों न हो कविता, स्त्री की भाँति बिना भूषणों के सुशोभित नहीं होती।

> जदपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
> भूषण बिनु न बिराजइ, कविता बनिता मित्त॥
>
> —(कविप्रिया १-५)

वर्तमान काल में चाहे वनिता और कविता, दोनों के ही लिए केशव का विचार मान्य न हो पर उनके समय इसकी धूम थी। अलंकारों को केशव, दो रूपों में विभाजित करते हैं—१ साधारण और २ विशिष्ट किन्तु वे इन दोनों की न परिभाषा देने का कष्ट करते हैं और न व्याख्या ही करते हैं, केवल इस परम्परागत मान्यता के रूप में ही ग्रहण कर लेते हैं—

> कविन कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप।
> एक कहैं साधारणै, एक विशिष्ट स्वरूप॥

---

[1] प्रत्यनीक नीरस विरस केशव दुःसधान।
पात्रादुष्ट कवित्त बहु करहिं न सुकवि बखान॥

—रसिकप्रिया, प्रकाश १६ १

तुलना कीजिए—

> विरस प्रत्यनीक च दुःसन्धानरसं तथा।
> नीरसं पात्रदुष्टं च काव्यं सद्भिर्न शस्यते॥७४
>
> —शृंगार तिलक।

साधारण अलंकारों को हम प्रचलित अर्थ में अलंकार नहीं मान सकते, यह कवि शिक्षा के अन्तर्गत है। यह यथार्थ में काव्यगत वस्तु-वर्णन का ही स्वरूप है, जिसके कारण आवश्यक वस्तु का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाये। केशव ने इसके चार भेद किए हैं[1] —वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री। जिनका वर्णन क्रमशः कविप्रिया के पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें प्रभावों में है।

१ वर्ण के अन्तर्गत सात रंगों का वर्णन है। एक रंग विशेष के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ यथार्थ या कथित मानी गई हैं उन सबका केशव निर्देश करते हैं और कविता में उनके उदाहरण भी देते हैं।

२ वर्ण्य के अन्तर्गत केशव ने एक गुण विशेष रखनेवाली वस्तुओं के नाम गिनाये हैं। कुछ गुण ये हैं—

सम्पूर्ण, पावन, मंडल, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त, तीक्ष्ण, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, शीतल, तप्त, सुरूप, कुरूप, मधुर, अबल, बलिष्ट, अगति, सदागति, दानी आदि। इन गुणों को रखनेवाली जो वस्तुएँ हैं उनका निर्देश केशव ने उदाहरणों में किया है।[2]

३. भूमिश्री के अन्तर्गत वस्तु तथा देश, प्रान्तर आदि का वर्णन आता है। जैसे देश नगर, उपवन, पर्वत, आश्रम, नदी, पोखर, तड़ाग, सरोवर, प्रभात, चन्द्र, समुद्र तथा छः ऋतुएँ आदि। लेकिन इनके उदाहरण वस्तुओं के यथार्थ वर्णन नहीं बन पाये हैं। उनमें भी सामान्यालंकार न रहकर श्लेष इत्यादि अनेक विशेषालंकार भरे पड़े हैं।

४ राजश्री के वर्णन में आनेवाली वस्तुओं की एक सूची केशव देते हैं जिनका उल्लेख राजश्री के अन्तर्गत होना आवश्यक है। ये हैं —

राजा, रानी, राजसुत, प्रोहित, दलपति दूत।
मंत्री मन्त्र प्रधान हय, गय संग्राम अभूत।
आखेटक जलकेलि पुनि, बिरह स्वयम्बर जानि।
भूषित सुरतादिकनि करि राजश्रीहि बखानि॥

—कविप्रिया ८

---

१ सामान्यालंकार को, चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण वर्ण्य भू राजश्री, भूषन केशवदास॥

—कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव।

किन्हीं प्रतियों में सामान्यालंकार के आधार 'काव्यकल्पलतावृत्ति' का प्रथम प्रतान (प्रथम स्तबक) और अलंकारशेखर के षष्ठ रत्न की २, ३, ४ मरीचियाँ हैं।—लेखक

२ देखिए कविप्रिया षष्ठ प्रभाव।

इन सभी को हम कवि-शिक्षा के अन्तर्गत रख सकते हैं। इनके आधार-स्वरूप ग्रन्थ अमरचन्द्र की 'काव्यकल्पलता वृत्ति' के प्रथम व चतुर्थ प्रतान तथा अलंकार शेखर के सोलहवें और सत्रहवें प्रकरण विशेष रूप से हैं।[1] वास्तव में जैसा पहिले लिखा जा चुका है अलंकार शेखर भी अधिकांश 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर ही है।

अलंकारों का यथार्थ वर्णन 'विशिष्टालंकार' के अन्तर्गत ही आता है जो कविप्रिया के ९-१५ *प्रभावों में विस्तृत है। सर्वप्रथम अलंकारों का कार्य बखान की दृष्टि से केशवदास* उनके नाम गिनाते हैं और कहते हैं कि इतने अलंकारों का प्रयोग भाषा को सजाने के लिए करना चाहिये। इन अलंकारों की संख्या ७ है। प्रायः इनके अलंकारों का वर्गीकरण और नाम, यहाँ तक कि इनकी परिभाषा भी आगे आने वाले आचार्यों से भिन्न है। ९वें प्रभाव में ६ अलंकारों—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष और उत्प्रेक्षा—का वर्णन है। स्वभावोक्ति का लक्षण और उदाहरण वही है जो औरों का। केशव ने इसके दो भेद—रूपवर्णन और गुण वर्णन—माने हैं। केशव के विचार से, वस्तु की सुन्दरता

---

१ अलंकार शेखर—शैलेमहौषधी धातु दश किन्नर निर्झरा।
शृंगपादगुहारत्न वनजीवाद्युपत्यका॥ ६२

कविप्रिया — तुंग शृंग दीरघदरी सिद्ध सुन्दरी धातु।
सुर नरयुत गिरि बरनिये औषध निर्झरपातु॥

अलंकार शेखर — दृश्यां सौभाग्यलावण्यं शील शृंगार मन्मथा।
अपाङ्गचातुर्यं दाक्षिण्यप्रेमसामग्रतादयः॥ ६२

कविप्रिया — सुन्दरि सुखद पतिव्रता, सुचि रुचि शील समान।
यहि विधि रानी बरनिये सलज सुबुद्धि निधान॥

काव्य कल्पलता—(१) शैलेमहौषधी धातु दश किन्नर निर्झरा।
शृंगपाद गुहारत्नवनजीवाद्युपत्यका॥ ६१
—का० वृ०, प्रतान १, स्तवक ४

(२) दृश्यां विज्ञान चातुर्यं अपाङ्गीनम्रतादयः।
रूपलावण्यसौभाग्यप्रेमशृंगारमन्मथा॥ ४७
का० वृ०, प्र० १, स्तवक ५

टिप्पणी—ये प्रसंग काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर—दोनों में लगभग एक ही शब्दावली में वर्णित हैं।

साधारण अलंकारों को हम प्रचलित अर्थ में अलंकार नहीं मान सकते, यह कवि शिक्षा के अन्तर्गत है। यह यथार्थ में काव्यगत वस्तु वर्णन का ही स्वरूप है, जिसके कारण आवश्यक वस्तु का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जावे। केशव ने इसके चार भेद किए हैं[1] —वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री। जिनका वर्णन क्रमशः कविप्रिया के पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें प्रभावों में है।

१ वर्ण के अन्तर्गत सात रंगों का वर्णन है। एक रंग विशेष के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ यथार्थ या कथित मानी गई हैं उन सबका केशव निर्देश करते हैं और कविता में उनके उदाहरण भी देते हैं।

२ वर्ण्य के अन्तर्गत केशव ने एक गुण विशेष रखनेवाली वस्तुओं के नाम गिनाये हैं। कुछ गुण ये हैं

सम्पूर्ण, आवर्त, मंडल, कुटिल, त्रिकोण, सुवृत्त, तीक्ष्ण, कोमल, कठोर, निश्चल, चंचल, सुखद, दुखद, शीतल, तप्त, सुरूप, कुरूप, मधुर, अचल, बलिष्ट, अगति, सदागति, दानी आदि। इन गुणों को रखनेवाली जो वस्तुएँ हैं उनका निर्देश केशव ने उदाहरणों में किया है।[2]

३ भूमिश्री के अन्तर्गत वस्तु तथा दृश्य, प्रान्तर आदि का वर्णन आता है। जैसे देश नगर, उपवन, पर्वत, आश्रम, नदी, पोखर, तड़ाग, सरोवर, प्रभात, चन्द्र, समुद्र तथा छः ऋतुएँ आदि। लेकिन इनके उदाहरण वस्तुओं के यथार्थ वर्णन नहीं बन पाये हैं। उनमें भी सामान्यालंकार न रहकर श्लेष इत्यादि अनेक विशेषालंकार भरे पड़े हैं।

४ राजश्री के वर्णन में आनेवाली वस्तुओं की एक सूची केशव देते हैं जिनका उल्लेख राजश्री के अन्तर्गत होना आवश्यक है। वे हैं —

राजा, रानी, राज-सुत प्रोहित, दलपति दूत।
मंत्री मन्त्र प्रयाण हय, गय संग्राम अभूत।
आखेटक जलकेलि पुनि, विरह स्वयम्बर जानि।
भूसित सुरतादिकनि करि राजश्रीहि बखानि॥

—कविप्रिया ८

---

[1] सामान्यालंकार को, चारि प्रकार प्रकास।
वर्ण वर्ण्य भू राजश्री, भूषण केशवदास॥

—कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव।

किन्हीं अर्थों में सामान्यालंकार के आधार 'काव्यकल्पलतावृत्ति' का प्रथम प्रतान (छंदस स्तवक) और अलंकारशेखर के पद्य तृतीय की २ ३, ४ मरीचियाँ हैं।—लेखक

[2] देखिए कविप्रिया षष्ठ प्रभाव।

इन सभी को हम कवि-शिक्षा के अन्तर्गत रख सकते हैं। इनके आधार-स्वरूप ग्रन्थ अमरचन्द्र की 'काव्यकल्पलता वृत्ति' के प्रथम व चतुर्थ प्रतान तथा अलंकार शेखर के सोलहवें और सत्रहवें प्रकरण विशेष रूप से हैं।[1] वास्तव में जैसा पहिले लिखा जा चुका है अलंकार शेखर भी अधिकांश 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर ही है।

अलंकारों का यथार्थ वर्णन 'विशिष्टालंकार' के अन्तर्गत ही आता है जो कविप्रिया के ६-१५ प्रभावों में विस्तृत है। सर्वप्रथम अलंकारों का कार्य बतलाने की दृष्टि से केशवदास उनके नाम गिनाते हैं और कहते हैं कि इतने अलंकारों का प्रयोग भाषा को सजाने के लिए करना चाहिये। इन अलंकारों की संख्या ३७ है। प्रायः इनके अलंकारों का वर्गीकरण और नाम, यहाँ तक कि इनकी परिभाषा भी आगे आने वाले आचार्यों से भिन्न है। ६वें प्रभाव में ६ अलंकारों—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष और उत्प्रेक्षा—का वर्णन है। स्वभावोक्ति का लक्षण और उदाहरण वही है जो औरों का। केशव ने इसके दो भेद—रूपवर्णन और गुण वर्णन—माने हैं। केशव के विचार से, वस्तु की सुन्दरता

---

१ अलंकार शेखर—शैलमहौषधी धातु दरी किंचर निर्झरा ।
श्रृंगपादगुहारत्न वनजीवाद्युत्पत्तका ॥ ६ २

कविप्रिया — तुंग श्रृंग दीरघदरी सिद्ध सुन्दरी धातु ।
सुर नरयुत गिरि बरनिये औषध निर्झरपातु ॥

अलंकार शेखर — दुर्गा सौभाग्यलावण्यं शील श्रृंगार मन्मथा ।
प्रापाचातुर्य दाक्षिण्यप्रेममानव्रताम्य ॥ ६ २

कविप्रिया — सुन्दरि सुखद पतिव्रता, सुचि रुचि शील समान ।
यहि विधि रानी बरनिये सलज सुबुद्धि निधान ॥

काव्य कल्पलता—(१) शैलमहौषधी धातु दरी किंचर निर्झरा ।
श्रृंगपाद गुहारत्नवनजीवाद्युपायका ॥ ११
—का० वृ०, प्रतान १, स्तबक ४

(२) दुर्गा विज्ञान चातुर्य प्रतापौचित्यनामय ।
रूपलावण्यसामान्यप्रेमश्रृंगारमन्मथा ॥ २७
का० वृ०, प्र० १ स्तबक ५

टिप्पणी—ये प्रसंग काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकारशेखर—दोनों में साम्य के हों ग्रन्थांशों में वर्णित हैं।

और गुणों का, जैसे व किसी वस्तु में हैं वैसे ही वर्णन करना स्वाभावोक्ति है। 'विभावना' जो कार्य-कारण के सम्बन्ध पर निर्भर रहने वाला अलंकार है, केशव ने दो भेदों में वर्णित किया है प्रथम जब कि कारण की अनुपस्थिति में कार्य हो और दूसरा जब कारण दूसरा और कार्य दूसरा हो। इसी अध्याय में आने वाला 'विशेषालंकार' जिसका लक्षण केशव ने यह दिया है —

साधक कारण विकल जहँ, होय साध्य की सिद्धि।
केशवदास बखानिये, सो विशेष परसिद्धि॥

अर्थात् अपूर्ण कारण से कार्य सिद्धि हो, वहाँ विशेष अलंकार है। ध्यान से देखें तो यह 'विभावना' का ही एक भेद लगता है। 'विशेष' अलंकार यथार्थ में जहाँ पर बिना आधार के ही आधेय रहे, उसे कहते हैं अथवा अन्यान्य एक वस्तु में अनेक हों अथवा कुछ काम करते हुए, दैववश किसी आवश्यक कार्य की सिद्धि हो जाय। अतः यह केशव का 'विशेष', 'विशेषालंकार' से भिन्न ही जान पड़ता है।

'हेतु' के केशव ने दो भेद दिये हैं—१ सभाव और २ अभाव

ये दोनों के 'कारक' और 'ज्ञापक' हेतु के दो भेदों में 'कारक' के दो उपभेदों के आधार पर दिये गये जान पड़ते हैं।[1] उसका उदाहरण भी 'विभावना' का सा है। केशव ने 'विरोध' और 'विरोधाभास' दोनों को कहा है। परन्तु 'विरोध' के प्रथम उदाहरण से पहली और तीसरी पंक्तियों में जहाँ 'विरोध' है वहीं तीसरी और चौथी पंक्तियों से 'विरोधाभास' है। 'विरोध' का दूसरा उदाहरण भी 'विभावना' का सा ही हो गया है। 'उत्प्रेक्षा', केशव के विचार से वहाँ होता है जहाँ कवि, किसी वस्तु की कुछ दूसरी वस्तु होने की कल्पना करता है। उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में उत्प्रेक्षा से अधिक अन्य अलंकार प्रमुख हैं।

---

१ देखिये साहित्यदर्पण (विश्वनाथ कृत)

यद्याधेयमनाधारमेकंचानेकगोचरम्।
किंचित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्यवा
कार्यस्यकरणंदैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः॥

—१० परि० ७३ ७४।

(१क्रम देखिये काव्यादर्श द्वितीय परिच्छेद २४६ वाँ छन्द।

इसके पश्चात 'आक्षेपालंकार' के वर्णन में रसिकप्रिया का [illegible] दिया गया है। इसको केशवने बारह भेदों में कहा है। इनमें [illegible] अनुसार हैं। दंडी ने इसके २४ भेद किये हैं। भावी, भूत [illegible] के विचार से—

> प्रेम अधीरज, धीरजहु संशय मरण प्रकाम।
> आशिष धरम उपाय कहि शिक्षा [illegible]।

ये आक्षेप के भेद हैं। केशव ने वास्तविक निषेध को ही 'आक्षेप' अलंकार मान लिया है क्योंकि अलंकार विशेषोक्ति की व्यंजना पर निर्भर रहता है।

१२वें प्रभाव के अन्तर्गत केशवदास ने क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, स्मरण, गूढ़, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वि, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक तथा अपह्नुति अलंकारों का वर्णन किया है। 'क्रम' और 'गणना' अलंकारों की परिभाषायें स्पष्ट नहीं हैं। 'क्रम' अलंकार दंडी और मम्मट के 'क्रम' से भिन्न होकर अधिकांश आचार्यों के 'शृंखला' अथवा 'एकावली' अलंकार से साम्य रखता है। 'गणनालंकार' तो विशिष्टालंकार न रहकर वस्तु वर्णन [illegible] हो गया है। आशिष, प्रेम ऊर्जस्वि रसवत् अलंकारों में प्राचीन और अर्वाचीन [illegible] आचार्यों के मतों में भिन्नता है। केशव ने प्राचीन अर्थात् दंडी, भामह आदि के [illegible] इनके लक्षण-उदाहरण दिये हैं।

'श्लेष' केशव का बहुत प्रिय अलंकार है। संस्कृत साहित्य में भी श्लेष [illegible] अधिकांश कवियों की रचना में विशेष महत्व रखता है। 'राघवपाण्डवीय' नामक [illegible] में ही लिखा गया है। केशव के उदाहरण अपने आश्रयदाता रामसिंह के [illegible] भी उपयुक्त हैं और उदाहरण भी हैं। केशव ने इसके भिन्न-पद अभिन्न-पद, [illegible] विरुद्धकर्मा, नियम-श्लेष, विरोधी-श्लेष, भेद किये हैं। केशव का काव्य [illegible] भरपूर है। 'सूक्ष्मालंकार' चतुराई के साथ इंगितों से बात करने [illegible] है। 'लेशा-लंकार' के लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। यह अधिकांश आगे के [illegible] मिलता जुलता है। निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक [illegible] प्रिय अलंकारों में से हैं। 'अर्थान्तरन्यास' के तीन भेद और [illegible] किये हैं।

बारहवें प्रभाव में उक्ति का वर्णन है। उक्ति, [illegible] हैं, [illegible] अलंकारों के मूल में है, पर केशव ने इसे एक अलग अलंकार [illegible] है। [illegible] की है, केशव ने लिखा है—

यम, अन्य, अधिकरण कहि और विशेष समास।
सहित सहोक्ति मैं कही, उक्ति सु पच प्रमान॥

इनमे व्यधिकरण उक्ति, असंगति अलंकार से साम्य रखता है। इनके अतिरिक्त व्याज स्तुति, अमित, पर्यायोक्ति आदि अलंकार भी इसी 'प्रभाव' मे वर्णित हैं।

अगले प्रभाव मे समाहित, सुसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका और परिवृत्ति अलंकारों का वर्णन है। उदाहरण ही लक्षणों को स्पष्ट करते हैं। 'विपरीतालंकार' में उदाहरण कुछ त्रुटिपूर्ण हैं क्योंकि दूती का साधन के रूप मे पहले नहीं दिखाया। 'विरुद्ध' अलंकार 'रूपकातिशयोक्ति' की भाँति जान पड़ता है। दीपक को केशव दो भेदों—मणि दीपक और माला दीपक—मे वर्णित करते हैं। जैसा आगे के आचार्यों ने नहीं किया है। इस प्रकार केशव के अलंकार-वर्णन मे अपनी विशेषता है।

१४वाँ प्रभाव, 'उपमालंकार' मे ही समाप्त होता है। केशव ने २२ प्रकार की उपमाओं का वर्णन किया है जिनमे से अधिकांश कुछ हेरफार से दंडी की १२ उपमाओं से मिलती जुलती हैं।[1] इसमें से मोहोपमा भ्रान्ति से संशयोपमा सन्देह से अतिशयोपमा अनन्वय से सकीर्णोपमा ललितोपमा से तथा विपरीतोपमा वक्रोक्ति से साम्य रखती हैं। कुछ मे तुलना का आधार न होते हुए भी केशव ने उपमा माना है जैसे विपरीतोपमा।

१५वें प्रभाव में 'यमक' का विस्तृत वर्णन है। यमकालंकार के भेद केशव ने दो आधारों पर किये हैं। प्रथम तो उसके प्रभाव और बुद्धिग्राह्यता के आधार पर भेद हैं—सुखकर और दुखकर। सुखकर वह है जो सरलता से समझा जा सके और दुखकर जो कठिनता से। इसके पश्चात् दूसरा आधार यमक में पदों के क्रम पर है। इसका प्रथम भेद 'अव्ययेत' वह है जहाँ यमकपूर्ण पद एक दूसरे के बाद आते हैं, और दूसरा 'सव्ययेत' वह है जहाँ पर और शब्द इस प्रकार के पदों के बीच आ जाते हैं। फिर पंक्तियों के आधार पर जिसमे यमकपूर्ण पद आते हैं, अन्य और भी भेद किये गये हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण आगे के लेखकों में अप्राप्य है। ये भेद दंडी के अनुसार हैं पर केशव सबको भाषा में नहीं अपना सके।

---

१ देखिये केशव की काव्य कला पृ० २०२ २ ३

तथा

'उपमा के जो २२ भेद केशव ने रक्खे हैं उनमें से १४ ज्यों के त्यों दंडी के हैं ५ के केवल नाम और भेद बदल दिये हैं शेष रहे दो भेद सकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इसमें विपरीतोपमा को उपमा कहना ही व्यर्थ है।

— रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५९

१६वें प्रभाव में 'चित्रालंकार' का विवरण दिया है। इसमें एक मस्तिष्क का व्यायाम सा ही है। केशव का कथन है कि 'चित्रालंकार' के समुद्र में बड़े-बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति गोता खाने लगते हैं इसलिए वे कुछ का ही वर्णन करते हैं और अन्त में केशव इस बात की चेतावनी देते हैं कि चित्रालंकार रसहीन होता है। इसमें यति, अन्ध, बधिर, अगन आदि दोष नहीं गिने जाते। इनमें व के स्थान पर ब और य के स्थान पर ज ग्रहण किया जा सकता है। 'चित्रालंकार' के अनेक भेदों पर केशव ने लिखा है।

केशव की 'कविप्रिया' में हम अलंकारों के वर्गीकरण की बात विशेष रूप से मिलती है। उक्ति, उपमा, तुलना, यमक (शब्द की आवृत्ति,) श्लेष (बहुअर्थता), विरोध, कार्य-कारण का सम्बन्ध आदि वर्गीकरण के आधार हैं जिनपर केशव ने उन्हें रक्खा है। केशव शायद उसका वर्गीकरण और सुदृढ़ आधार पर कर सकते, यदि उनके सामने 'कविप्रिया' पुस्तक को एक स्त्री के रूप में १६ प्रभाव रूप, १६ शृंगारों में विभक्त करने की काव्यात्मक कल्पना विद्यमान न होती।

केशव का रस विवेचन —

केशव का रस-वर्णन कृष्ण और राधा का रस वर्णन है, मनुष्य मात्र के अन्तर्गत होने वाली रसानुभूति का विश्लेषण नहीं है जैसा कि उनके कथन 'नवरस में ब्रजराज नित' से प्रकट होता है, इस प्रकार पाठक की दृष्टि से नहीं मानो रस में मग्न राधा और कृष्ण के ही रसानुभव को वे प्रकाशित करते हैं। केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस को विभाव, अनुभाव और संचारी भावों-द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव कहा है।[1] यथार्थ में 'रसिकप्रिया' का उद्देश्य 'कविप्रिया' से भिन्न है। 'कविप्रिया' साधारण लोगों एवं नौसिखियों के लिए है किन्तु 'रसिकप्रिया' काव्य-रसिकों के लिए। जैसा कि नीचे के दोहे से स्पष्ट है —

> अति रति गति मति एक करि, विविध विवेक विलास।
> रसिकन को रसिकप्रिया, कीन्हीं केशवदास॥

इसी कारण आगे आने वाले विद्वानों ने भी 'रसिकप्रिया' का ही उल्लेख विशेष किया है 'कविप्रिया' का कम।

केशव ने भावों और हावों की परिभाषा एवं विवरण ६ठें प्रकाश में दिया है। उन्होंने पहिले नवरसों के नाम दिये हैं और उसके पश्चात् सबसे प्रमुख शृंगार का वर्णन

---

[1] देखिये रसिक प्रिया प्रकाश १, २

किया है । केशव के विचार में शृङ्गार रस वहाँ होता है जहाँ पर प्रेम का अनुभव और उसका चतुराई में प्रकाशन पाया जावे। संयोग और वियोग के वर्णन के साथ-साथ केशव ने लगभग प्रत्येक को 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' दो भागों में बाँटा है। यथार्थ में प्रच्छन्न को तो रस की संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती क्योंकि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों-द्वारा व्यक्त होता है तभी रस की दशा में पहुँचता है। अतः उपर्युक्त न समझने के कारण आगे के आचार्यों में हम यह भेद देव को छोड़ कर अन्यों में नहीं मिलता।

दूसरे प्रकाश में नायक के लक्षणों और उसके अनुकूल दक्ष, शठ, धृष्ट आदि प्रकारों का तथा तीसरे प्रकाश में नायिका जाति का वर्णन है। इसमें पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी स्वकीया, परकीया, सामान्या फिर स्वकीया में मुग्धा के नवलवधू, नवयौवना, नवल अनंगा, लज्जा प्राय मध्या के आरूढ़-यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा, रतिविचित्रा तथा प्रौढ़ा के समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, अक्रामितप्रौढ़ा, लब्धापति और धीरा, अधीरा, धीराधीरा आदि प्रकारों का वर्णन है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं। इसी प्रकार से और वर्णन हैं। चौथे प्रकाश में दर्शन, पाँचवें में चेष्टा और सातवें में अष्ट नायिकाओं तथा मान आदि का वर्णन किया गया है। यह वर्णन 'शृंगार तिलक' से मिलता है।

छठवाँ प्रकाश भावों तथा हावों के वर्णन में लगाया गया है। भाव की परिभाषा केशव ने बड़ी स्वच्छन्दता के साथ की है। मुख, नेत्र और वचनों के मार्ग से जो मन की बात प्रकट होती है वही भाव है।[1] यह भाव की बड़ी व्यापक और साधारण परिभाषा है। इसके आधार पर केशव ने पाँच प्रकार के भाव कहे हैं —विभाव, अनुभाव, स्थायी सात्विक तथा व्यभिचारी।[2] केशव का विभावों का लक्षण शास्त्रीय नहीं है। केशव कहते हैं कि जिनसे संसार में अनायास ही अनेक रस प्रकट होते हैं उन्हें विभाव कहते हैं।[3] विभावों से रस प्रकट होते हैं यह केशवदास ही कह सकते हैं। रस अतन है। वह जिसका सहारा लेता है उसे आलम्बन और जिससे उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन और उद्दीपन के जो अनुकरण हैं, वही अनुभाव हैं, ऐसा केशव का विचार है। यहाँ परिभाषा स्पष्ट नहीं है। अनुकरण का अर्थ बाद में काम करने वाले से ही लिया जा सकता

---

१ देखिये रसिकप्रिया ६ प्र १

२ ,, ६ प्र० २

३ ,, ६ प्र ३

है, स्थायी और सात्विक भावों के तो केवल, केशव ने नाम ही गिनाये हैं। व्यभिचारी की भी परिभाषा केशव ने अपने ढंग पर दी है—"जो भाव सभी रसों में उपजते हैं और बिना नियम के हैं, उन्हें व्यभिचारी कहते हैं।' हावों की परिभाषा तो और भी अपूर्ण है।[1]

केशव ने इन सभी के नाम गिनाकर केवल इनका परिचय भर दिया है, विवेचन कुछ भी नहीं है। केशव, अनुभाव और सात्विक भावों के दो वर्ग करते हैं किन्तु उसका स्वयं कोई कारण तथा एक का दूसरे से अन्तर स्पष्ट नहीं करते। इस सम्बन्ध में 'रसिकप्रिया' के प्रसिद्ध टीकाकार सरदार कवि कहते हैं कि दोनों में अन्तर यह कि सात्विक भाव रस-विशेष के नहीं होते। उनसे हम यह पता नहीं लगा सकते कि क्या रस है, पर अनुभावों से रस-विशेष का निर्देश हो जाता है।[2] किन्तु केशव ने अपने लक्षण या वर्गीकरण में कहीं भी यह कारण प्रकट नहीं किया। हावों के वर्णन में १२ हाव हेला, लीला, ललित, मद, विभ्रम, विहित, विलास, किलकिंचित, विच्छित्ति, बिब्बोक मोट्टायित और कुट्टमित के अतिरिक्त वे १३वाँ हाव, 'बोध' भी मानते हैं। यह ऐसा ही है जैसा सूक्ष्मालंकार है। किसी गूढ़ भाव का बोध हो वहाँ यह हाव केशव ने माना है।

वियोग शृंगार को केशव ने चार भेदों में वर्णित किया है—पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास। वियोग की दश अवस्थायें—अभिलाषा, चिन्ता, आदि केशव ने पूर्वानुराग की ही अवस्थायें मानी हैं, प्रवास की नहीं। करुण रस और करुण विरह में अन्तर केशव ने समझाया है। जहाँ पर प्रेम के कारण विरहानुभूति या दुःख होता है, वहाँ विरह और जहाँ पर किसी विपत्ति या मरण के कारण दुःखानुभूति होती है, वहाँ करुण रस होता है। प्रवास-विरह से प्रेम की परिपक्वता प्राप्त होती है, और विर की यथार्थ अनुभूति इसी में होती है। इसकी चार अवस्थायें केशव ने मानी हैं। प्रथम

---

१ देखिये रसिकप्रिया प्र ६ ११६

२ देखिये सरदार कवि की ६वें प्रकार के १२ वें छन्द की टीका।

'अरु सात्विक को अनुभाव को इतनों भेद है सात्विक रस को ज्ञापक नहीं जैसे कंप स्तम्भ स्वेद भयो तो या नहीं जानी जात कि भय से या क्रोध ते है याते न्यारो है अरु अनुभाव से जान परत याते भयो है याते रस के सब पोष अंग कहे।'

—रसिकप्रिया पृ० ७१, ७२, नवल किशोर प्रेस

अवस्था तो तब होती है जब वियोगी अपने प्रिय से अलग होता है परन्तु उसे उसके बिना रहना अच्छा नहीं लगता। दूसरी अवस्था भयविभ्रम की है जिसमें प्राकृतिक पदार्थों को देखकर संयोग के दिनों की स्मृति आती है और वह दुःख का कारण होती है। कोयल का कूक पागल बना देती है, शीतल वायु विरही को अधीर कर देती है। रात भयानक होती है। तीसरी अवस्था अनिद्रा की होती है। निद्रा में दुःख भुलाया जा सकता है, परन्तु इस अवस्था में निद्रा भी छिन जाती है। चौथी अवस्था विरह निवेदन की है जिसमें विरही किसी के द्वारा अपनी विरह-दशा का संदेशा प्रिय के पास भेजता है।

बारहवें और तेरहवें प्रकाश में सखी और उनके कार्यों का वर्णन है और इसके बाद चौदहवें में हास्य, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, रौद्र, शांत—शेष रसों का वर्णन है। हास का केशव ने मन्द हास, कलहास, अतिहास और परिहास-चार प्रकारों में वर्णन किया है, किन्तु उदाहरणों में हास्य की भावना जाग्रत नहीं होती। प्रिय के अनिष्ट से करुणा रस उत्पन्न होता है यथा "प्रिय के विप्रिय करणते आन करुण रस होत," जिसके दो अर्थ हो सकते हैं प्रिय कोई अनचाही बात करता है अथवा प्रिय का अनिष्ट कोई करता है। कुछ भी हो केशव का विचार इस रस में पूर्णता लिए नहीं है क्योंकि करुणा का प्रभाव केवल प्रिय ही के अनिष्ट से नहीं होता अपरिचित के अनिष्ट से भी करुणा जाग्रत हो जाती। इसी प्रकार अन्य रसों का वर्णन बड़े ही संक्षेप में है।

पन्द्रहवें प्रकाश में वृत्तियों का वर्णन है। केशवदास के अनुसार जिस शैली में कुछ रसों का वर्णन हो सके, वही वृत्ति है। इन्होंने कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती आदि वृत्तियाँ तो कह डाली हैं पर वृत्ति की परिभाषा नहीं दी है। यथार्थ में नाटकादि में नायक नायिका के व्यापार को वृत्ति कहते हैं।[1] केशव ने यह नहीं बताया उन्होंने काव्य को ही वृत्तियों में बाँधा है। नाटक को नहीं।

'बाँधहु वृत्ति कवित्त की कहि केशव विधि चारि।"

केशव के विचार से कैशिकी में करुणा, हास, शृंगार का वर्णन, सरल वर्णों में होता है। भारती में वीर, अद्भुत, हास का शुभ अर्थ में वर्णन होता है, आरभटी में रौद्र, भयानक, वीभत्स का यमक इत्यादि में वर्णन होता है, और सात्वती में अद्भुत, वीर, शृंगार, शांत का इस प्रकार वर्णन होता है कि सुनते ही समझ में आ जावे। इस प्रकार भारती जो कि साहित्य दर्पण के अनुसार सभी रसों में है यथा—

---

1 देखिए साहित्य दर्पण छठा परि० १२२, १२३

शृंगारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्ति सर्वत्र भारती ॥ ६, १२१

केशव के अनुसार भिन्न है। वृत्ति केशव के अनुसार रस वर्णन की शैली जान पड़ती है।

१६ वें अर्थात् अन्तिम परिच्छेद में रस-दोषों का वर्णन है जिन पर दोष के प्रकरण में विचार हो चुका है।

इस प्रकार केशवदास का महत्व सबसे प्रथम आचार्य होने के कारण ही है। केशव बड़े लेखकों में तो हैं ही, किन्तु विषय प्रतिपादन की दृष्टि से केशव का काव्य-शास्त्र के विषयों का विवेचन भी उतना ही विशृङ्खल है जितना की 'रामचन्द्रिका' की प्रबन्ध धारा। केशव के पश्चात् से रीतिकाव्य की परम्परा भी नहीं चल पाई। हाँ, यह सत्य है कि इनके द्वारा इस दिशा की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ और संस्कृत काव्यशास्त्र का अध्ययन चल पड़ा। सम्भवतः उस समय संस्कृत के अधिक विद्वान् हिन्दी-लेखकों में न होने के कारण केशव के ग्रन्थों का आदर अधिक रहा, किन्तु यथार्थ में रीति-परम्परा, चिन्तामणि त्रिपाठी से प्रारम्भ होती है[1]। चिन्तामणि त्रिपाठी के ग्रंथों में केशव के ग्रंथों से स्पष्टतया विशद शास्त्रीय विवेचन और वैज्ञानिक आधार के साथ-साथ स्पष्टता है। उदाहरण भी सुन्दर और उपयुक्त हैं। चिन्तामणि के साथ के लेखकों के आधार ग्रंथ केशव की भाँति भामह, दण्डी उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थ नहीं, वरन् बाद वाले ग्रन्थ जैसे काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि हैं जिनमें कि काव्यशास्त्र के अंगों का पूर्ण विस्तार के साथ विवेचन है। इन ग्रन्थों तक आते आते काव्य के सिद्धान्त पूर्ण रूप हो चुके थे। अलंकारों में भी आधार 'काव्यादर्श' न होकर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' हो गये थे। इसलिये अब आचार्यों में स्पष्टतया हिन्दी के उदाहरणों को लेकर लिखने का ही ध्येय था और चिन्तामणि में हमें यह पूर्ण रूप से मिलता है।

सुन्दर कवि का 'सुन्दर शृंगार'

केशव और चिन्तामणि के बीच में एक ग्रन्थ आता है जिसका उल्लेख आधार स्वरूप ग्रन्थों में चिन्तामणि ने अपनी 'शृङ्गार मंजरी' में किया है। वह है 'सुन्दर शृङ्गार'। 'सुन्दर शृङ्गार' के लेखक सुन्दरकवि शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और उन्होंने सं० १६८८ में यह ग्रंथ रचा था।

---

[1] देखिये पं० रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास पृ० २८२, १६६७ वि संस्करण

संवत् 'सोरह मैं वरस, 'वीते अट्ठासीति।
कातिक सुदि षष्ठी गुरहिं रच्यौ ग्रन्थ करि मीति ॥

पुस्तक म केवल शृङ्गार-रस का वर्णन है। शृङ्गार-रस रसों म सर्वश्रेष्ठ है और नायक नायिका शृङ्गार के मुख्य अंग हैं, अत सुन्दर कवि नायिका भेद को ही लेकर चलते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य शास्त्रीय निरूपण नहीं जान पड़ता, वरन् शृङ्गार-रस का साधारण लोगों को समझाने का ही लक्ष्य है —

सुखानी याते करी नरवानी में वयाय।
जाते मगु रसरीति कौं, सब ते समझी जाय ॥

नायिका भेद म साधारणत प्रसिद्ध, नायक-नायिका भेदों का वर्णन है जो अधिकांश 'रसमंजरी' के आधार पर है। इसी के अन्तर्गत अनुराग के प्रसंग में वे दो प्रकार का अनुराग दृष्टानुराग और श्रवणानुराग वर्णन करते हैं। उसके पश्चात् व्यापक रूप से शृङ्गार-रस के दो भेदों का वर्णन है। भाव की परिभाषा अधिकांश केशव की भाव की परिभाषा से मानते हैं। शृङ्गार विषय होने के मुख, आँखों व वचनों द्वारा मन की बात का प्रकाशन मिलती जुलती है जाकि भाव का कारण सुन्दर कवि लिखते हैं —

सुन्दर मूरति देख, सुन, चित में उपजै चाव।
प्रगट होई दृग भौंह ते, ते कहियत हैं भाव ॥ २७२ छन्द

'सुन्दरशृङ्गार' ग्रन्थ म आठ सात्विक भावों और १६ प्रकार के हावों का वर्णन है। इसम भी केशव का 'बोध' हाव नहीं है यद्यपि उनके वर्णन से इसमें १ हाव तपन, मौग्ध्य और हाव अधिक हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन भी उसी ढंग का है जैसा केशव का। दश दशाओं में उन्होंने नौ दशाओं का वर्णन किया है और दसवीं मृत्यु का नहीं। उद्दीपन का भी विस्तृत वर्णन है। इसमें विवेचन विशेष नहीं, फिर भी लक्षण और उदाहरण हैं स्पष्ट। लक्षण दोहा या दोहरा (हरिपद) छन्द में दिये हैं और उदाहरण कवित्त एवं सवैया में। इसमें शृङ्गार-रस का पूरा वर्णन है पर संचारी छोड़ दिये गये हैं। शृङ्गार रस के विवेचन करने वाले ग्रन्थों में यह अग्रगण्य है। सुन्दर को महाकवि की भी उपाधि मिली थी और इनकी काफी ख्याति थी। अत प्रारम्भिक कुछ ग्रन्थों में परिगणित होने के साथ ही दरबार के कारण भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि बहुत हो गई थी। सुन्दर ग्वालियर के रहने वाले ब्राह्मण थे।

१, देखिये 'सुन्दरशृङ्गार छन्द २६४

ङ—रीतिकालीन काव्यशास्त्र-ग्रंथों का अध्ययन

रीतिपरम्परा का प्रारम्भ और विकास

रीतिकाल, का सं० १७०० से १६०० वि० तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने माना है। इसी काल में हिन्दी काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की रचना प्रचुर रूप से हुई है। सुन्दर महाकवि के बाद और कोई कवि ऐसा नहीं मिलता, जिसने चिन्तामणि के पहले काव्य शास्त्र पर लिखा हो। चिन्तामणि का जन्म यद्यपि १६६६ सं० के लगभग माना जाता है, पर यथार्थत उनका रचनाकाल सं० १७०० वि० ही से प्रारम्भ होता है। अब रीति काल का प्रारम्भ इन्हीं से मानना उचित है। इसके अतिरिक्त, पद्धति और प्रणाली की दृष्टि से भी केशव की चलाई परम्परा आगे न बढ़ पाई, और चिन्तामणि के बाद हो उन्हीं की पद्धति पर आगे के कवियों ने लिखा। अत रीतिकालीन काव्यशास्त्र का ही नहीं, वरन् रीति-परम्परा का प्रारम्भ चिन्तामणि से ही मानना अधिक उपयुक्त है।

आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी

चिन्तामणि त्रिपाठी की गणना, केशव के बाद के सबसे पहले आचार्यों में ही नहीं, सबसे पहले बड़े आचार्यों में होनी चाहिए। उनका जन्म हिन्दी के इतिहासकारों ने अनुमानत सं० १६६६ वि० के लगभग और रचना काल १७०० वि० के लगभग माना है।[1] ये नागपुर के भोंसला राजा मकरन्द शाह के दरबार में थे उनके लिए इन्होंने अपना ग्रन्थ 'पिंगल' जिसमें छन्दों का स्पष्ट रीति से वर्णन है, लिखा जैसा कि नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है

चिन्तामनि कवि को हुकुम, कियो साहि मकरन्द।
करौ लच्छि लच्छन सहित, भाषा पिङ्गल छन्द॥[2]

साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इनके 'काव्य विवेक', 'कविकुलकल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'पिंगल', 'रामायण' और 'रसमञ्जरी' नामक ग्रंथों का उल्लेख किया है। प्रथम पाँच का

---

१ देखिए 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग २ पृष्ठ ४०८
'तथा' 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २६२

२, राज पुस्तकालय दतिया में लेखक द्वारा देखी प्रति से।

उल्लेख शिवसिंह के आधार पर है[1]। 'मिश्रबन्धु विनोद' में यह उल्लेख है कि 'कविकुल कल्पतरु' और 'पिंगल' मिश्रबन्धुओं का देखा है और 'रसमंजरी' नामक ग्रंथ नागरी प्रचारिणी की प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट के अनुसार है। अन्य ग्रंथों में 'काव्यविवेक' एवं 'काव्य प्रकाश' के देखे जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। हिन्दी के इतिहासकारों ने शिवसिंह और मिश्रबन्धु के आधार पर उपर्युक्त ग्रंथों का उल्लेख तो किया है पर कोई विशेष परिचयात्मक अथवा विवेचनात्मक विवरण ग्रंथों का नहीं मिलता। 'कविकुल कल्पतरु' और 'रसमंजरी' का भी सम्यक् परिचय और विवेचन न तो शिवसिंह 'सरोज' और मिश्रबन्धु 'विनोद' में है और न अन्य इतिहासग्रन्थों में ही।

शुक्लजी के इतिहास में रीतिकालीन कवियों का विवरण अधिकांश मिश्रबन्धु 'विनोद' के आधार पर है और यत्र तत्र कुछ विवेचन को छोड़कर अधिक नवीन सूचनायें भी नहीं हैं। इन रीतिकार कवियों का सम्यक् इतिहास लिखने का कष्ट किसी भी लेखक ने अभी तक नहीं उठाया। रीतिकालीन अधिकांश कवियों और विशेषकर काव्य-शास्त्र पर लिखनेवाले कवियों के ग्रंथ आजकल के प्रकाशकों अथवा पुस्तक विक्रेताओं के यहाँ भी नहीं मिलते। वे तो प्रायः नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालयों और विशेषकर राज पुस्तकालयों में ही मिलते हैं। पर चिन्तामणि के 'काव्यविवेक', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रंथों का पता उनमें भी नहीं मिलता। दतिया के राज पुस्तकालय में इनके तीन ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरु' 'शृङ्गार मंजरी' और 'पिंगल' इस निबन्ध के लेखक के देखे हुए हैं और उन्हीं के आधार पर इनका आगे की पंक्तियों में विवरण है। 'रसमंजरी' जिसका उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की प्र० त्रै० रि० में है, आयुर्वेद का ग्रंथ है रस का नहीं और उसके लेखक कोई दूसरे चिंतामणि हैं। इसका रचना काल सं० १७८८ है।

कविकुलकल्पतरु—

कविकुलकल्पतरु[2] का रचना काल सं० १७०७ है। इसमें चिन्तामणि ने २१५ साधारण आकार से बड़े पृष्ठों में काव्य-गुण, अलंकार, दोष, शब्दशक्ति आदि प्रमुख

---

१ देखिए मिश्रबन्धु विनोद, भाग २ पृष्ठ ४७६।
तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६२

२ दतिया राज-पुस्तकालय में प्राप्त पुस्तक के आधार पर जो जनवरी सन् १८७५ ई० में नवलकिशोर के पत्थर के छापेखाने (पापाण यन्त्रालय) में पं० महेशदत्त के द्वारा छपी थी।

और महत्वपूर्ण काव्यशास्त्र के अंगों पर प्रकाश डाला है। इसमें लगभग सभी काव्यांगों का वर्णन है। इसका आधार अनेक संस्कृत के ग्रंथ हैं जिनका सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त चिन्तामणि ने इस ग्रंथ का निर्माण किया और उन्हीं ग्रंथों के आधार पर हिन्दी-काव्य का विवेचन किया, जैसा कि नीचे के कथन से प्रकट है —

जो सुरबानी ग्रंथ हैं, तिनकों समुझ् विचार।
चिंतामनि कवि करत हैं भाषा कवित विचार॥

फिर भी इनका अधिकांश आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' है।

चिन्तामणि की परिभाषायें भी स्पष्ट हैं और बोलचाल की भाषा में हैं। काव्य का लक्षण देने में वे विश्वनाथ के साहित्य दर्पण की 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्' परिभाषा का आधार लेते हुए कहते हैं —

'बतकहाउ रसमैं जु है कबित कहावै, सोय'

और इसी दोहा में आगे चलकर कहते हैं कि काव्य दो भांति का है गद्य और पद्य —

'गद्य पद्य द्वै भाँति का सुरबानी में सोय।

इससे स्पष्ट है कि चिन्तामणि के समय तक हिन्दी में गद्य काव्य का अभाव तो था ही, जो कुछ हिन्दी में गद्य था उसे काव्य की संज्ञा देना भी स्वीकृत न था। यह भेद संस्कृत के काव्य के आधार पर है। यह बात उनके इसके बाद वाले गद्य एवं पद्य की परिभाषा बताने वाले दोहे से भी स्पष्ट है —

'छन्द निबद्ध सुपद्य कहि, गद्य होत बिनु छन्द।
भाषा छन्द निबद्ध सुनि, सुकवि होत सानंद॥

चिन्तामणि का विश्वास है कि भाषा में छन्द-बद्ध काव्य को ही लिखकर और पढ़कर आनन्द प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में उस समय गद्य-लेखन का विचार ही अंकुरित नहीं हुआ था। 'कविकुलकल्पतरु' ग्रंथ में वे छन्द का विचार नहीं करते और यथार्थ में वह काव्य-शास्त्र के क्षेत्र से अलग है जैसा कि पहले बताया जा चुका है। उसके लिए वे अपने ग्रन्थ 'पिंगल' का उल्लेख के लिए कहते हैं।

मैं पिंगल ग्रन्थ में समुझै छन्द विचार।
रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुधि अनुसार॥

इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि इनका 'पिंगल' ग्रन्थ 'कविकुलकल्पतरु' की रचना के पूर्व ही निर्मित हो चुका था।

भाषा काव्य का विवेचन प्रारम्भ करने के पूर्व ये एक बार फिर काव्य या कवित्त या कविता की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित, विबुध कहत सब कोइ॥

इस परिभाषा में स्पष्टतया मम्मट के 'काव्यप्रकाश'[1] की परिभाषा की छाया है। केवल इस परिभाषा में अन्तर यह है कि मम्मट 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि', अलंकार से हीन भी काव्य मानते हैं परन्तु चिन्तामणि उसे 'अलंकार-सहित' ही रखते हैं। इस प्रकार इन्होंने रस व अलंकार दोनों को महत्व दिया है। इसके साथ ही काव्य का स्वरूप पूर्ण रीति से स्पष्ट किया है। कवित पुरुष को लोक रीति के रूप में[2] वर्णित किया गया है और उसी कवित पुरुष के विभिन्न अंगों के वर्णन में काव्य-मीमांसा भी है।

गुणों का वर्णन सर्वप्रथम है। गुणों के वर्णन में भी यही स्पष्टता है। चिन्तामणि के विचार से माधुर्य गुण, संयोग शृंगार में सुखद और चित्त को द्रवित करने वाला होता

---

१ 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'।

—काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास, सू० १

२ जे रस अंग के धरम ते गुन बरने जात।
आतम के ज्यों सूरतादिक निहचल अवदात॥ ८
सबै अंग लघु बरनिये, जौवन, रस, भिड़ जानि।
अलंकारहारादि ते। उपमादिक गन, मानि॥ ९
श्लेषादिक गन सूरतादिक से माने चित्त।
बरनौ रीति सुभाव ज्यों वृत्ति वृत्ति सौं मित्त॥ १०
पद अनगुन विश्राम सो सज्जा सज्जा जानि।
रस आस्वादन भेद जे पाक पाक से मानि॥ ११
कवित पुरुष कौ साजि सब समझ लोक की रीति।
गुन विचार अब करत हौं, सुनौ सुकवि करि प्रीति॥ १२

—श्रीमत्कविकुल भूषण चिन्तामणि विरचित कविकुल कल्पतरु।

है, किन्तु वही माधुर्य वियोग, करुण, और शांत में भी अधिक विशेषता के साथ प्रकट होता है। अत यह कविता का सार है —

जो संयोग शृंगार में, सुखद द्रवावे चित।
सो माधुर्य बखानिये, यह ही तत्त्व कवित्त॥
सो संयोग शृंगार ते करुण मध्य अधिकाय।
विप्रलंभ अरु सांतरस तामें अधिक बनाय॥

इसी प्रकार ओज गुण के लक्षण और उसके आधारभूत रसों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं —

दीप्ति चित विस्तार को, हेतु ओज गुन जानि।
में तो वीर बीभत्स अरु, रौद्र क्रमादिक मानि॥

इसके उपरान्त उन्होंने प्रसाद गुण को बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। जैसे सूखे ईंधन को आग में डालने से आग स्वभावत प्रवेश करती है और जैसे स्वच्छ जल में अपने आप तरलता झलकती है ऐसे ही प्रसाद गुण में अर्थ, अक्षर के साथ ही झलकता है। चिन्तामणि के विचार से इन्हीं तीन गुणों में से कहीं किसी के छिप जाने से कहीं दोषों के अभाव से और कहीं एक से अधिक गुणों के आने से दस गुण होते हैं अत उन्होंने दस गुणों का वर्णन नहीं किया। इतना ही नहीं, वे कौन अक्षर, कौन मात्रायें, किस रूप में, किस गुण में आवश्यक हैं इसका भी पूरा विवरण देते हैं। जहाँ पर जिस आचार्य के विचार से कोई बात कहते हैं उसका भी उल्लेख है। आगे की परिभाषा मम्मट के आधार पर देते हुए वे लिखते हैं—

पद आरोहारोह सो, जोग समाधि प्रकार।
ऐसे ओजहि गनत है, मम्मट बुद्धि विचार॥

'ओज' गुण में संयुक्ताक्षर का विशेष प्राधान्य रहता है, उदाहरणार्थ—

इक पक्ष फल घात इक, घूदत किलकति अति।
चिन्तामनि बलवन्त इक धावत अद्भुत गति॥

—कविकुलकल्पतरु पृष्ठ १.२५ छ

१ देखिये दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थिति ॥ ६१

काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास

२ सूखे इंधन आगि ज्यों, स्वच्छ नीर ज्यों रीति।
झलक अरथ झलक जो सो प्रसाद गुन नीति॥

यह पूरा वर्णन मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के ही अधिकांश आधार पर है।

दूसरा अध्याय शब्दालंकारों का है। चिन्तामणि के विचार में शब्द और अर्थ दो प्रकार की गतियों के कारण शब्द और अर्थ दो प्रकार के अलंकार होते हैं।

'शब्द अर्थ गतिभेद सों अलंकार द्वै भाँति।'

इनमें अलंकारों की परिभाषायें और उदाहरण दोनों ही स्पष्ट और सुन्दर हैं। 'वक्रोक्ति' की परिभाषा देखिये—

और भाँति के वचन को, और लगावे कोइ।
कै श्लेष कै काकु सों, वक्रोक्ति है दोइ॥

उदाहरण – गुरु वरबस परदेश पिय, आयो ललित वसंत।
अलि पुंज कोकिलता बिना, नहिं ऐहै सखि कंत॥

इसी अध्याय के अन्तर्गत उन्होंने 'वृत्ति' और 'रीति' का भी वर्णन किया है।

तीसरे अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन है इसमें भी उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। चिन्तामणि इसके पश्चात् चौथे, पाँचवें, छठे अध्यायों में क्रमशः दोष, नायिका भेद, हाव, भाव आदि का विवरण देते हैं। सातवें अध्याय में शृङ्गाररस का वर्णन है और आठवें अध्याय में अन्य ८ रसों का। सभी रसों का उनके विभाव अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि अंगों के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार इसमें काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों का वर्णन है। विचार की मौलिकता के कारण से इसका महत्व चाहे न हो, पर विषय के स्पष्ट विवेचन और पूर्णता का महत्त्व इसमें अधिक है। इसका अधिकांश लक्षणों और उदाहरणों दोनों में, आधारग्रन्थ मम्मट का 'काव्य प्रकाश' है, यद्यपि 'साहित्य-दर्पण' और 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है।

शृंगारमंजरी

चिन्तामणि त्रिपाठी का काव्यशास्त्र पर दूसरा प्राप्त ग्रन्थ '*शृंगारमंजरी* है'[1]। यह *नायिका भेद का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने शाहिराज के पुत्र बड़े साहिब* अकबर साहि के नाम पर, उन्हीं के लिए बनाया था। ग्रन्थ के अन्त या प्रारम्भ में चिन्तामणि ने

---

1 इसको हस्तलिखित रूप में लेखक ने दतिया के राजपुस्तकालय में देखा था और उसी के आधार पर इसका विवरण है।

अपना नाम नहीं लिखा, वरन बड़े साहिब का नाम लिखा है। पुस्तक का अन्त इस प्रकार है —

"इति श्रीमन महाराजाधिराज मुकुटतटघटित मनि प्रभाराजिनी राजित चरन राजीव साहिराज गुरुराज तनुज साहि बड़े साहिब अकबर साहि विरचिता शृंगारमंजरी समाप्ता।"

किन्तु ग्रंथ के अन्तर्गत छन्दों में चिंतामणि का नाम आता है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि चिन्तामणि त्रिपाठी ने[1] बड़े साहिब अकबर साहि के नाम से लिखा। बड़े साहिब अकबर साहि गुलबर्गा के प्रसिद्ध संत गेजूदराज की वंश-परम्परा में और अंतिम कुतुबशाही बादशाह अबुलहसन के गुरु साहिराज के पुत्र थे। इनके लिए चिंतामणि ने मूल तेलुगु के संस्कृत अनुवाद शृंगारमंजरी का ब्रजभाषा रूपान्तर किया था वही प्रस्तुत 'शृंगारमंजरी' है। इसकी रचना सन् १६६० ई० के लगभग हुई।*

कवि चिन्तामणि नाम प्रायः ग्रन्थ के अधिकांश छन्दों में आया है। उदाहरणार्थ अपने आश्रयदाता की बड़ाई में वे कहते हैं—

> सहस बदन हारि हि जग में सकल जीव बदन बदन जो सहस रसना धरै।
> सब रसनानि में जो सारदा विराजै गुन पारहि न पावै कोटि कलप करयो करै॥
> मीर पातसाहि साहिराज के सुरज गुनगन ना करत करि पानि पूर सों भरै।
> चिन्तामणि कवि सो बड़ाई बड़े साहिब की एक रसना सों कौन भाँतिन कही परै॥

दूसरा छन्द उनकी ही प्रशंसा का द्योतक है जिससे कि यह चिन्तामणि की रचना स्पष्ट होती है —

---

१ 'कविकुल कल्पतरु' के ६ठे प्रकरण के १८८, १८९, १८७ छन्दों में चिन्तामणि 'शृंगारमंजरी' का उल्लेख करते हैं। अतः यह कविकुलकल्पतरु से पूर्व की रचना है उदाहरणार्थ —

> 'प्रोषित भर्तृका को लच्छन शृंगारमंजरी यथा।
> अन्यतनभर्तृका आर जानि। देश यतीं या पुनि आर मानि।
> प्रोषित भर्तृका आर एक। या तीन भाँति याको विवेक॥ १८८
> बड़ साहिब अपने ग्रन्थ माँह। निर्नय कीहा कवि बुद्धि नाह।,,

—कविकुल कल्पतरु

*देखिये लेखक—द्वारा संपादित 'शृंगारमंजरी', प्रकाशक लखनऊ विश्वविद्यालय।

मोहत है सन्तत विबुधनिोसों मंडित कवि 'चिन्तामनि' यह सब सिद्धिन को घर।
फूलन के लाप अभिलाप सब लोगनि के जाके पंथ लाप सदा लापत कनक भर।
सुन्दर सदन सदा सुमन मनोहर है जाको दरसन जग नैननि को ताप हर।
वीर पातसाहि साहिराज रत्नाकर तें प्रकटित भए हैं यह साहिब कलपतर॥

इस प्रकार प्रशंसा करने के उपरान्त अब अगले छन्द में 'चिन्तामनि' ने उन्हें 'शृंगारमंजरी' ग्रंथ का रचयिता माना है, किन्तु 'चिन्तामनि' की छाप वहाँ भी है —

गुरु पद कमल मगति मोद मगन है सुमरन जुगत अघाहिर रचत हैं।
निज मति ऐसी भाँति थापित करत जात भारनि के रस लघु लागत लखत हैं॥
सकल प्रवीन ग्रन्थ लिखिन विचारि बद 'चिन्तामनि रस के समुद्रनि मथत हैं।
साहिराज नन्द बड़े साहिब रसिकराज शृंगार मंजरी ग्रन्थ रचिर रचत हैं॥

इससे यह बात स्पष्ट है कि 'शृंगारमंजरी' बड़े साहिब के नाम पर चिन्तामणि ने लिखी है। चिन्तामणि के द्वारा उपयुक्त छंदों में मानो भूमिका के रूप में बड़े साहिब का परिचय दिया गया है। यह यहाँ भी ठीक है कि जैसे भूमिका-लेखक यथार्थ ग्रन्थकर्ता से अधिक प्रसिद्धि का व्यक्ति होता है वैसे ही कम से कम साहित्यिक रूप में चिन्तामणि अपने आश्रयदाता से अधिक प्रसिद्धि के हैं। ग्रंथ पूरा चिन्तामणि का लिखा है। यह अनुवाद है। इसका केवल यही तात्पर्य है कि बड़े साहिब अकबर साहि के आश्रय में चिन्तामणि ने यह ग्रंथ लिखा जैसा कि हम अधिकांश राजकवियों के ग्रन्थों में देख सकते हैं। केशव ने भी अपने ग्रंथ 'रसिकप्रिया' के अन्त में लिखा है —

'इति श्रीमन्महाराजकुमार इन्द्रजीतविरचितायां रसिकप्रियायां रस अनरस वर्णनोनाम षोडशः प्रकाशः समाप्तः'॥ इसी प्रकार प्रत्येक प्रकाश के अन्त में भी है, अत यह 'शृंगारमंजरी' ग्रन्थ भी इसी प्रकार चिन्तामणि त्रिपाठी का लिखा है।

'शृंगारमंजरी' ग्रन्थ नायिका भेद ग्रन्थों की भाँति केवल रस-युक्त कविता के उदाहरण का बाहुल्य लिए और लक्षणों की अपूर्णता व विवेचन-हीनता से युक्त ग्रन्थ नहीं है उसमें ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ही प्रारम्भिक चर्चा में सभी बातों को स्पष्ट कर दिया है। इसमें व्यर्थ की बातों को दूर कर, प्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर आवश्यक और पूर्ण व्याख्या के साथ जो प्राचीन ग्रन्थों में कमी है उसे दूर करते हुए लिखने की आयोजना निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट की गई है —

"रसमंजरी आमोदपरिमल शृङ्गारतिलक रसिकप्रिया रसार्णव प्रेमचन्द्री व सुन्दर शृङ्गार सरसकाव्य दशरूपक विलासरत्नाकर काव्य-परीक्षा काव्यप्रकाश प्रमुख ग्रन्थ

विचारि प्राचीन ग्रन्थनि में जो विचारि लच्छन युक्त युक्ति तिनि को संग्रह करि और छोडि प्राचीनोदाहरनानुसार नायका भेद कल्पित करि तिनके लच्छन लक्षि कल्पि अरु जिनि के उदाहरन नाहीं तिनि के उदाहरन बनाइ जिनि पै नाम नाहीं तिनके नाम रचि अयुक्त नाम स्थल विषे युक्त नाम राषि विस्तार करन स्थल विषे विस्तार करि संक्षेपकरन स्थल विषै संक्षेप करि सर्व स्थल साधारन लछन के साधारन उदाहरन करि प्राचीन प्राचीन लछननि में जे उपयुक्त उदाहरन हैं ते ते तत्तत् नायका भेद में लिषि चरचा ग्रन्थ गद्यरूप लछन उदाहरन ग्रन्थ पद्यरूप लछन उदाहरन नायका भेद शृंगार हास्य करुना रौद्र वीर भयानक अद्भुत सांत नव रसनि में शृङ्गार प्रधान है ताते शृङ्गार सालंबन विभाव नायिका नायक तिनके सहाय सख्यादिक शृंगरसानुकूल सात्विक भाव पूर्वोक्त ग्रन्थ वर्नित पद्मिन्यादि जाति सत्तर भेद ऐसे प्रकार सरस आरोप विशेष निरूपियतु है।"[1]

यह एक प्रकार से प्राक्कथन के रूप में है। यहाँ एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि लेखक ने यद्यपि संस्कृत तथा हिन्दी-ग्रन्थों का आधार लिया है फिर भी उनका उद्देश्य अपने विषय और विवेचन को पूर्ण बनाने का ही है। जैसा कि ऊपर के उद्धरण से प्रकट है। जहाँ लक्षणों में कमी है वहाँ पर उनकी पूर्ति करके और जहाँ उदाहरणों में कुछ त्रुटि है वहाँ उसे दूर कर विवेचन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न है। अतः यह कहा जा सकता है कि शृंगार मंजरी के लेखक का प्रयत्न एक कवि की भाँति लक्षणों के आधार पर कविता लिख मारना अथवा पैशव की भाँति इधर उधर के संस्कृत ग्रंथों के हल्के अध्ययन का परिचय देना नहीं, वरन् किसी भी शास्त्रीय विवेचन को पूर्णरूप से स्पष्ट करके उसे सपुष्ट और सांग रूप में हिन्दी प्रेमियों और विद्वानों के सामने रखना है। इसी के कारण ही लेखक का आचार्यत्व असंदिग्ध है।

'शृङ्गारमंजरी' में उपर्युक्त कथन के बाद चिन्तामणि नायिका के लक्षणों का निरूपण करते हैं और फिर उसके उदाहरण देते हैं। इस ग्रंथ की यह भी विशेषता है, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, कि बीच बीच में गद्यात्मक व्याख्या 'चर्चा' के रूप में भी रक्खी है। चर्चा में पहले 'रसमंजरी' के रचयिता भानुदत्त के अनुसार लक्षण देकर फिर उसका हिन्दी-गद्य में अनेक आवश्यक प्रश्नों को उठाकर, पुनः शंका शंका का निवारण करते हुए लेखक आगे चलता है। इस प्रकार चिन्तामणि का अनुवाद संस्कृत मूल की भाँति विशेषता से भरा हुआ, सीधा और व्यावहारिक है जिससे का[illegible] में [illegible] भाव स्पष्ट में आ जाती है। इस प्रकार लक्षण और उदाहरण के बाद चर्चा का [illegible] महत्व है। च[illegible]

[1]—देखिये चिन्तामणि त्रिपाठी कृत शृङ्गारमंजरी'।

सर्वत्र नहीं मिलती। जहाँ पर विषय सीधा है वहाँ पर कोई भी व्याख्या नहीं, किन्तु जहाँ पर विषय कुछ उलझा और गंभीर है, वहाँ पर चर्चा भी काफी विस्तृत है। एकाध स्थलों पर तो ग्रंथ की ५० पंक्तियों तक एक ही चर्चा विस्तृत है। 'शृङ्गारमञ्जरी' में भानुदत्त की रसमंजरी का प्रधान आधार है और इसका निर्देश स्वयं लेखक अपने ग्रन्थ में करते जाते हैं।

इस ग्रन्थ में शृङ्गार का छोटा और रसों का वर्णन नहीं है, किन्तु नायिका भेद विषय पर व्याख्या सहित पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इसका विषय-क्रम प्रचलित और वर्गीकरण व्यापक रूप पर है किन्तु व्याख्या एसी और ग्रन्थों में सामान्यतः अप्राप्य है।

यथार्थ में चिंतामणि त्रिपाठी यद्यपि सैद्धांतिक नवीनता को लेकर नहीं चले फिर भी उनका उद्देश्य अपने विषय की उपयुक्त परिभाषा देना, सुन्दर और उचित उदाहरणों से स्पष्ट करना और आवश्यक व्याख्या से समझाना है। एक आचार्य के लिए ये तीनों बातें उच्च गौरव-दायिनी हैं। काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों का विवेचन कर यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि उनका संस्कृत का अध्ययन काफी गम्भीर था। पंडित की भाँति वे विषय का केवल परिचय नहीं देते, वरन उसका पूर्ण निरूपण करते हैं। उनका विषय निरूपण और समझाने का जो अपना ढंग है वह भी बड़ा उपयुक्त है। इतना हम उनके विषय में उनके केवल दो ही प्राप्य[1] ग्रन्थों के आधार पर कहने का साहस करते हैं। यदि सभी ग्रंथ प्राप्य होते तो बहुत संभव था कि उनकी महत्ता सबसे ऊँची होती। 'काव्य-विवेक' और 'काव्य प्रकाश' ऐसे ग्रंथ जिनके नाम से ही बड़ा आकर्षण है अवश्य उत्तम ग्रंथ होंगे। इसके साथ ही साथ खेद का विषय यह है कि उनके पश्चात् इस प्रकार का उद्देश्य लेकर आने वाले लेखक बहुत कम हुए, अन्यथा यह बहुत कुछ संभव था कि हिन्दी काव्य-शास्त्र का यथार्थ विकास महत्व पूर्ण रीति से होता।

तोष का 'सुधानिधि'

चिंतामणि के ग्रंथों का यथार्थ समय क्या था? इसका पता निश्चित रूप से नहीं चलता, किन्तु यह कहा जा सकता है कि सत्रहवीं शताब्दी का अन्त और अठारहवीं का

---

१ चिंतामणि ने कहीं अपना उपनाम श्रीमणि और कहीं कहीं 'मनि' भी प्रयुक्त किया है। यथा —

'वाच्य अर्थ ते कहत मनि, व्यंग अधिक अहँ होइ।
सो जन उत्तम काव्य है, यह जानत कवि कोइ॥ ६, २
'साँझ समै मनि से सिव कौं मनि वृन्दन मंजुल अंग सिंगारे॥

कविकुल कल्पतरु, पृ० १५८

प्रारम्भ ही उनका रचना काल रहा होगा। इसी समय का लिखा तोष का 'सुधानिधि' ग्रन्थ है जिसका निर्माण काल संवत् १६९१ वि० है।

संवत सोरह सै बरस, गो इकानबे बीति।
गुरु आषाद की पूर्णिमा, रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति॥ ५५५

'सुधानिधि' रस विवेचन का ग्रन्थ है। १८३ पृष्ठों और ५६० छन्दों में इसका निरूपण हुआ है। अयोध्यानरेश के पुस्तकालय में इसकी सुरक्षित एक १६४८ संवत् की प्रति से प्रकट होता है कि ये सिगरौर के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे[1]। लेखक ने भारत जीवन प्रेस में सन् १८९२ में मुद्रित तथा भारत जीवन-सम्पादक बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित प्रति देखी है जिसका प्रतिलिपि काल संवत् १६४५ है जैसा ग्रन्थ के अन्त में प्रकट होता है —

सर श्रुति निधि महि माघ बदि तिथि द्वितीया दिन चन्द।
लिख्यो सुधानिधि ग्रन्थ यह, सन्त सुकवि सानन्द॥ ५६

इसमें मिश्रबन्धुओं-द्वारा दिया तोष कवि का यथार्थ परिचय देनेवाला छन्द निम्नाङ्कित है —

शुक्ल चतुर्भुज को सुत तोष बसै सिगरौर जहां रिषि थानो।
दच्छिन देवनदी निकटै दस कोस प्रयागहि पूरब मानों॥
साधि कै सुन्दपदैगे सुबोध मु हीं न कछू कवितारथ जानो।
कंपि क्या हरि राधिका की पद प्रेम जथामति प्रेम बखानों॥

रचना काल का संकेत करने वाला ५५५ वाँ दोहा है जो ऊपर दिया जा चुका है। अतः इससे स्पष्ट है कि 'विनोद' का रचना काल ही ठीक है, शुक्लजी—द्वारा दिया संवत् १७९१ रचनाकाल ठीक नहीं है। सिगरौर स्थान शृङ्गीऋषि की तपोभूमि तथा रामायण प्रसिद्ध शृङ्गवेरपुर ही है।

तोष ने 'सुधानिधि' ग्रन्थ में नवरसों, भावों, भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता, रसाभास, रसदोष, वृत्ति तथा नायिका भेद का वर्णन किया है। नायिका भेद अंश में विवेचन विशेष नहीं पर उदाहरण काव्यात्मक हैं। दूती, सखी भेदों का भी बड़े विस्तार से वर्णन है, हाव वर्णन भी इनका बड़ा सुन्दर है। वियोग की दश दशाओं के उदाहरण

---

१ दृष्टिव्य 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग २, पृ० ४१२

बड़े ही मनोहारी हैं, पर विवेचन नहीं। शृंगारेतर रसों, संचारियों आदि का विवेचन कम है, पर उदाहरण अच्छे हैं। रस-वर्णन की पौर भी बात इन्होंने छोड़ी नहीं है। प्रायः लक्षण दोहों में और उदाहरण, कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि छन्दों में हैं। यह ग्रंथ है यद्यपि अच्छा, परन्तु अधिकांश प्रयत्न काव्यात्मक ही है।

जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण'

महाराज जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण' अलंकार पर सबसे प्रसिद्ध और इस विषय पर सबसे अधिक पठित ग्रंथ है। यद्यपि इसमें अलंकारों का ही वर्णन प्रधान है परन्तु उनका संक्षेप में शुद्ध और उपयुक्त उदाहरणों के साथ बड़ा ही उपयोगी विवरण है जिसको कि लोगों ने कण्ठ करने के लिए भी प्रयुक्त किया है। उन्होंने दोहा में ही एक पद में लक्षण और दूसरे में उदाहरण देते हुए इसे स्मरणयोग्य बनाया है। संक्षेप में होते हुए भी शुद्ध और पूर्ण होना इसका प्रमुख गुण है। इसका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। प्रथम प्रकरण में रस का विवेचन है जिसके विषय नायक-भेद, नायिका के जाति भेद, अवस्था भेद, परकीया के छः भेद, नायिका के नव भेद, मान, सात्विक भाव, दस हाव, विरह की दस दशायें, रस, स्थायीभाव, उद्दीपन, आलम्बन, विभाव, अनुभाव, तथा संचारी भावों का वर्णन है। दूसरे प्रकरण में भेदों सहित १०८ अलङ्कारों का वर्णन है। अधिकांश उनका वर्गीकरण विद्वानों की दृष्टि से नहीं वरन् विद्यार्थी की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। अर्थालङ्कारों का ही वर्णन विशेष है। शब्दालङ्कारों का वर्णन संक्षेप में है।

'भाषा भूषण' के रचयिता आचार्य विद्वान् हैं। इसका आधार जयदेव का 'चन्द्रालोक' है और उसी की शैली भी अपनायी गई है[1]। कहीं-कहीं जसवन्तसिंह ने 'भाषा भूषण' में इतना संक्षेप सफल किया है कि संस्कृत-सूत्रों की भाँति उनकी व्याख्या आवश्यक है। इसी के फलस्वरूप इसकी अनेक टीकायें हुई हैं। प्रसिद्ध तीन टीकायें, बंशीधर की अलङ्कार रत्नाकर टीका (संवत् १७९२), प्रतापसिंह की टीका और गुलाब कवि की अलङ्कारचन्द्रिका हैं। इनके अतिरिक्त भी टीकायें हुई हैं। 'भाषा भूषण' में संक्षेप में अलङ्कार के सभी तत्व आ गये हैं। इसी से इसका प्रचार काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे अधिक हुआ है।

जसवन्त सिंह के बाद छेमराम का 'फतह प्रकाश' जो कि अलङ्कार और नायिका भेद का ग्रंथ है, शम्भुनाथ तथा सम्मा जी के 'नायिका भेद', मंडन के 'रस रत्नावली' और

1, देखिए शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० २४४

'रसविलास' जो रस और नायका भेद के ग्रन्थ हैं, आते हैं, किन्तु इनमें कोई भी शास्त्रीय विवेचनयुक्त नहीं है। मंडन मिश्र के उदाहरणों के,छन्दों से उनकी काव्य प्रतिभा का तो पता चलता है पर लक्षण नहीं मिलते अतः शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण ये ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। इनके बाद हमारे सामने ऐसे कवियों के ग्रन्थ आते हैं जो कि आचार्यत्व के लिये तो नहीं वरन् कवित्व के लिये रीतिकालीन सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं और वे हैं आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के बन्धु मतिराम और भूषण। इनके ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन परम्परा का पूरा प्रभाव इनके समय तक हो चुका था।

मतिराम

स्वच्छन्द कविता की मनोहारी प्रतिभा को लेकर भी मतिराम के अधिकांश ग्रन्थ काव्य शास्त्र के विषयों से ही सम्बन्ध रखते हैं इस विषय के इनके ग्रन्थ हैं—'रसराज' 'ललितललाम', साहित्यसार', और 'लक्षणशृङ्गार' मिश्रबन्धु के अनुसार इनकी 'अलंकार पंचाशिका' का भी साहित्य समालोचक में पता चला था[1]। बूंदी के राव भावसिंह के आश्रय में इनका 'ललित ललाम' ग्रन्थ सं० १७१६ और १७४५ के बीच में बना और 'रस राज' इस के पीछे का जान पड़ता है। साहित्यसार और लक्षण शृङ्गार ये दोनों छोटे छोटे ग्रन्थ हैं। 'साहित्यसार' में नायिका भेद का वर्णन है। ग्रन्थ १ पृष्ठों में समाप्त हुआ है जिस की प्रतिलिपि सं० १८८७ की लिखी दतिया राजपुस्तकालय में है। 'लक्षण-शृङ्गार' में भाव और विभावों का वर्णन है। यह केवल १४ पृष्ठों का ग्रन्थ है। इस की एक सं० १८२२ की हस्तलिखित प्रति बिजावर राजपुस्तकालय में है।

अलंकार पंचाशिका —

यह पुस्तिका सं० १७४७ में कुमायूँ के राजा उदोतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिए रची गई थी। इसमें अलङ्कारों का वर्णन है। संस्कृत के ग्रंथ 'चन्द्रालोक' के आधार पर लक्षण दोहे में और उदाहरण कवित्तों में लिखे हैं—

> ज्ञान चन्द के गुन घन गने मन गुनवन्त।
> वारिधि के मुक्तन को काने पायो अन्त॥
> तदपि यथामति मों करयो शब्द अर्थ अभिराम।
> अलंकार पञ्चाशिका रची रुचिर मतिराम॥

---

1 देखिये मिश्रबन्धु विनोद भाग २ पृ ४४५

ससमिरित का ग्रंथ लै भाषा शुद्ध विचार।
उदाहरण क्रम प किये लीजो सुकवि सुधार॥[1]

इस ग्रन्थ म लक्षण स्पष्ट और उदाहरण अच्छे हैं।

मतिराम क 'रसराज'[2] और 'ललित ललाम' दोनों ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। शुक्लजी हिन्दी साहित्य के इतिहास म कहते हैं—"रसराज और ललित ललाम मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं क्योंकि रस और अलकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललित ललाम' म भी अलकारों के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं।"[3] अत इनका कुछ अधिक विस्तार से विवरण दिया जायगा।

रसराज

'रसराज' में मतिराम ने शृङ्गाररस का निरूपण किया है। शृङ्गार, नायक और नायिका का आलम्बन प्राप्त करके होता है, इसलिये नायक-नायिका-भेद का वर्णन पहले और उसके पश्चात् भाव, हाव तथा शृङ्गार के अन्य अंगों का विवरण दिया गया है। नायिका की परिभाषा देते हुए मतिराम कहते हैं कि 'उपजत जाहि विलोकि कै चित्त बीच रस भाव' वह नायिका है और उसके पश्चात् उसके उदाहरण देते हैं। उनके नायिका-भेद के मुख्य प्रसग हैं —स्वकीया, परकीया और गणिका, तीन प्रकार की नायिका स्वकीया के मुग्धा (अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना और नवोढा), मध्या, प्रौढा आदि अनेक प्रकार परकीया के सुरतगुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता और अनुशयाना आदि भेद तथा गणिका। अवस्था के विचार से भेद बताते हुए मतिराम ने कहा है —

प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहतरिता मान, विप्रलब्ध उत्कंठिता वासकसज्जामान।
स्वाधीनपतिका कहत हैं अभिसारिका सुनाम, कही प्रवत्स्यत्प्रेयसी आगम पतिका वाम॥
दसौं अवस्था भेद सो दसौं नायिका जानि।' इन सब के उदाहरण सुन्दर हैं।

---

१ देखिये 'मतिराम ग्रन्थावली' कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित, भूमिका पृ० २२१, २२२ (स० १९८६ वि०)

२ पं कृष्णबिहारी मिश्र के विचार से 'रसराज' 'ललितललाम' से पहले बना। (देखिये पृ २४ 'मतिराम ग्रन्थावली' भूमिका)

३ देखिये शुक्लजी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पृ ३०६।

इसके अतिरिक्त उत्तमा, मध्यमा और अधमा आदि भेदों में नायिकाओं का वर्णन है। इन सभी के लक्षण तो अधिकांश जैसे केशव आदि के हैं, वैसे ही हैं क्योंकि इनके भी आधार संस्कृत ग्रन्थ हैं पर उदाहरण मतिराम के बड़े ही सरस और रमणीय हैं। उदाहरणों की सुन्दरता में मतिराम की बराबरी शायद ही कोई कर सके। नायिका भेद के पश्चात् ही मतिराम ने नायक-भेद और भावों का वर्णन किया है। 'भाव' की परिभाषा यद्यपि है पूर्ववर्ती लेखकों की ही प्रथा पर, परन्तु इन्होंने उसे कुछ और भी विस्तार दे दिया है। वे कहते हैं:—

लोचन बचन प्रसाद मृदु हास वास चित मोद।
इनते परगट जानिए, बरनत सुकवि विनोद॥

केशव ने केवल आँखों मुँह और वचन से ही, मन की बात को प्रकट करना भाव कहा था और चिंतामणि ने भी इसी प्रकार, परन्तु मतिराम ने भाव को प्रकट करने वाले उपकरणों की संख्या को और बढ़ा दिया है।

मतिराम के विचार से कुछ संचारी भाव मिलकर सात्विक अनुभाव को प्रकट करने में सहायक होते हैं। 'अश्रु' सात्विक को प्रकट करते हुए वे उदाहरण की अन्तिम पंक्ति में कहते हैं —

उमगि हिये ते आयो प्रेम का प्रवाह,
ताते लाज गिरी परी जैसे तरवर तीर को।

यह कितना सुन्दर उदाहरण है। इसके पश्चात् दुख का वर्णन है, और संयोग, वियोग और वियोग की अनेक अवस्थाओं के वर्णन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। उदाहरणों की सुन्दरता और काव्यात्मक उत्कृष्टता के साथ-साथ यह कहते ही बनता है कि मतिराम के 'रसराज' में शास्त्रीय विवेचन आचार्यत्व की उच्चकोटि का नहीं है। वे सबसे पहले और प्रमुखतः कवि ही हैं, आचार्य नहीं जैसे कि उनके भाई चिंतामणि पहले आचार्य हैं, और उनमें आचार्यत्व की ही लगन प्रधान है।

ललित ललाम

यह अलंकारों पर लिखा हुआ ग्रन्थ है और इसका उद्देश्य अपने आश्रयदाता बूँदी-नरेश भावसिंह की प्रशंसा करना और रिझाना था, जैसा कि प्रारम्भ में उद्धृत दिया है —

भावसिंह की रीझि का कविता भूषन काम।
ग्रन्थ सुकवि मतिराम यह, कीन्हों ललित ललाम॥ ३२

इस ग्रन्थ में लक्षण दोहों में, तथा उदाहरण कवित्त और सवैया छन्दों में दिए गए हैं। इस ग्रन्थ में 'रसराज' के अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जो कि शृंगाररस पर स्वतंत्र ग्रन्थ है अर्थात् किसी भी आश्रयदाता के नाम पर नहीं लिखा गया और जो कविता की दृष्टि से 'ललित ललाम' से अधिक सुन्दर ग्रन्थ है। 'ललितललाम' में भी मतिराम अधिकांश हमारे सामने कवि के ही रूप में आते हैं क्योंकि लक्षण चलताऊ ढंग से लिखे गए हैं, पर उदाहरण सुन्दर हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा विवेचन नहीं जिससे मतिराम के 'काव्य-सिद्धांत' पर विचार के रूप में कुछ प्राप्त हो। फिर भी इस दृष्टि से 'ललित ललाम' अपेक्षाकृत 'रसराज' से अधिक शास्त्रीय है। मतिराम यद्यपि अलग से उत्तम काव्य क्या है, इसका उत्तर नहीं देते, पर उदाहरणों से यह प्रकट है कि उत्तम काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वभाव का उन्हें परिचय था और उसका स्वरूप उनकी रचना में खिल गया है। 'रसराज' में यद्यपि उन्होंने कहा है कि:—

'कवित्ताथ जानौं नहीं, कछुक भयो सबोध'

किन्तु यह कविता संबोध उनका बड़ा गहरा है। अलङ्कार और रस दोनों की दृष्टि से उनकी कविता समृद्ध है। 'ललित ललाम' में १०० अलकार और उनके भेदों का वर्णन है सभी अधिकांश अर्थालंकार ही हैं। उनके 'चित्र' अलकार ही को हम शब्दालकार के अन्तर्गत रख सकते हैं। इसका लक्षण उन्होंने यह दिया है —

जहँ पूछत्र कछु बात कौं, उत्तर सोई बात,
चित्र कहत मतिराम कवि सकल सुमति अवदात।

यह चित्रालकार का बड़ा ही संकीर्ण लक्षण है। दो उदाहरण जो मतिराम ने इसके दिए हैं उनको हम क्रमश लाटानुप्रास और अन्तर्लापिका के अन्तर्गत रख सकते हैं।

रस और अलकार इन दो विषयों को छोड़कर मतिराम ने काव्यशास्त्र की अन्य समस्याओं पर प्रकाश नहीं डाला। अत आचार्यत्व की दृष्टि से इनका कोई अधिक महत्व नहीं है, वे प्रमुखत कवि ही हैं।

भूषण

चिन्तामणि और मतिराम के भाई भूषण भी जो हिंदी के सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ वीररस के कवियों में हैं अलकार पर 'शिवराज भूषण' नामक ग्रन्थ के प्रणेता हैं। इस ग्रन्थ में इन्होंने अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरणों में शिवाजी तथा उनकी वीरता और यश पर कवित्त और सवैया लिखे हैं। किन्तु भूषण के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उनमें

प्रबन्ध काव्य लिखने की भी अद्‌भुत प्रतिभा थी। मतिराम की भाँति ही उसको उन्होंने लक्षणों के साँचों में ढालकर उसका सदुपयोग नहीं किया। यह उस युग का ही प्रभाव था। इनके दो अन्य ग्रन्थ 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' सम्भवत अलङ्कारों और दोषों पर लिखे ग्रन्थ हैं परन्तु वे अप्राप्य हैं। उनके नामों का ही उल्लेख मिलता है। अत उनका अलङ्कारों पर लिखा 'शिवराज भूषण' ही उनके प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

मतिराम की भाँति भूषण भी उपमालङ्कार से ही प्रारम्भ करते हैं और अपने ग्रन्थ में १०० अर्थालङ्कारों का वर्णन करते हैं किन्तु इनके साथ ही साथ उन्होंने ५ शब्दालङ्कारों को भी शिवराजभूषण के अन्तगत रक्खा है। इसमें सभी अलङ्कारों का वर्णन नहीं और न उनके सभी भेदों का है। केवल अधिक प्रसिद्ध अलङ्कारों को लिया गया है। भूषण का वर्णन-क्रम किसी वर्गीकरण के आधार पर चलता नहीं जान पड़ता और मतिराम की भाँति ही लक्षण से अधिक उदाहरणों पर जोर है तथा अधिकांश स्थलों पर तो लक्षण अस्पष्ट और अनुपयुक्त भी हैं। लक्षणों की गड़बड़ी, पञ्चम प्रतीप, संकर, विरोध, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास आदि में तथा उदाहरणों की गड़बड़ी, परिणाम, लुप्तोपमा, भ्रम, निदर्शना, सम, परिकर, विभावना, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास एव निरुक्ति में हैं, इससे स्पष्ट है कि आचार्यत्व की प्रेरणा केवल ऊपरी ही है। कुछ अलङ्कारों के लक्षण उन्होंने दिए हैं परन्तु उदाहरण नहीं हैं। इनके ग्रन्थ से अधिक स्पष्ट लक्षण और उदाहरण 'ललितललाम' के हैं। साथ ही साथ यह भी एक रोचक बात है कि भूषण के 'शिवराज भूषण' और मतिराम के 'ललितललाम' के अलङ्कारों के लक्षण बहुत कुछ मिलते हैं। इसका उल्लेख पण्डित कृष्णबिहारीजी ने भी किया है —

"ललितललाम और शिवराज भूषण दोनों ही अलङ्कार ग्रन्थ हैं। दोनों ही में अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिए हुए हैं दोनों कवियों के लक्षणों का ध्यानपूर्वक मिलान करने से हमें उभय कवियों के लक्षणों में अद्‌भुत सादृश्य दिखलाई पड़ता है। यह सादृश्य इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि लक्षण दोहा के अन्तिम तुक भी मिल जाते हैं। किसी में तो कवि के नाम भर का भेद रह जाता है[1]।" इसकी पुष्टि के लिए हम 'ललितललाम और 'शिवराजभूषण' से मालोपमा, उल्लेख, छेकापह्नुति, दीपक, निदर्शना इत्यादि अलङ्कारों को ले सकते हैं। इसी प्रकार उदाहरणों में भी।

---

१ देखिये कृष्णबिहारी मिश्र कृत मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० २११

इसके अतिरिक्त भूषण के 'शिवराजभूषण' में सामान्य विशेष और भाविक छवि नाम के दो नये नाम अलङ्कारों के हैं किन्तु विचार कर देखने से जान पड़ता है कि ये केवल पुराने अलङ्कारों के ही नये नाम हैं। विशेषनिबन्धना के लिए सामान्य विशेष और भाविक अलङ्कार के ही एक प्रकार के रूप में भाविक छवि अलङ्कार है। समय की दूरी भाविक के एक भेद के अन्तर्गत और भाविक छवि की स्थलीय दूरी उसके दूसरे भेद के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस प्रकार कोई यथार्थ नवीनता इस ग्रन्थ में नहीं है।[1] इस प्रकार आचार्यत्व की दृष्टि से कोई विशेषता प्रदान न करते हुए भी 'शिवराज भूषण' ग्रन्थ है लक्षण ग्रन्थ ही।

आचार्य कुलपति मिश्र

भूषण के समकालीन ही आगरे के रहने वाले माथुर चौबे कुलपति मिश्र काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों में परिगणित होते हैं। कुलपति ने काव्य-शास्त्र के विषयों का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। ये आगरे के परशुराम के पुत्र थे और इनके आश्रयदाता राजा कूर्मवंशी जयसिंह के पुत्र रामसिंह कुमार थे। काव्यशास्त्र पर लिखे इनके

---

[1] भूषण का भाविक छवि एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है। पर वास्तव में है संस्कृत ग्रन्थों के भाविक का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप। भाविक का सम्बन्ध कालगत दूरी से है। इसका देशगत से। बस इतना ही अन्तर है।

—शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २८४

और देखिये।

'इस प्रकार भूषण ने दो नये अलंकारों के निकालने का भी प्रयत्न किया है, पर उसमें सफलता नहीं मिली है। उन्होंने एक 'सामान्य विशेष' नामक अलंकार माना है जिसमें विशेष का कथन करके सामान्य लक्षित कराया जाता है। यह अलंकार प्राचीन आलंकारिकों के अप्रस्तुतप्रशंसालंकार की विशेष निबन्धना से भिन्न नहीं है। इसके उदाहरण भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं जैसे होने चाहिए। एक दूसरा अलंकार है भाविक छवि इसका लक्षण है दूर स्थित वस्तु को सम्मुख देखना। भाविक अलङ्कार में समय की दूरी है और भाविक छवि में स्थान की दूरी। वस्तुतः यह भाविक छवि भाविक का ही एक अंग है उससे भिन्न नहीं।

—भूषण ग्रन्थावली का अन्तर्दर्शन पृ० २७
(सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)

दो ग्रंथ 'रसरहस्य' और 'गुणरसरहस्य' प्रसिद्ध हैं। 'रसरहस्य' की रचना यहीं विजयमहल में हुई थी।

रस रहस्य[1]

इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १७२७ वि० है और इसका आधार अधिकतर मम्मट का 'काव्यप्रकाश' है जैसा कि नीचे के छंदों से प्रकट है --

> ध्रमु मिश्र तिन पश में परशुराम जिमि राम।
> तिनके सुत कुलपति कियौ रस रहस्य सुखधाम। ८१०
> जिते भाव है कवित के मम्मट कहे बखान।
> ते सब भाषा में कहे रस रहस्य में आन॥ ८११
> संवत् सत्रा से बरस बीते सत्ताईस।
> कातिक बदि एकादसि वार वरन बानीस॥ ८१२

यद्यपि उपर्युक्त विवरण से प्रकट होता है कि उनका आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' प्रधानतया है फिर भी अनेक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विचारोपरान्त उन्होंने अपना मत भी निश्चय किया है जिसका विवरण बीच-बीच की 'वचनका' में उन्होंने स्पष्ट किया है। काव्य की या कवित्त की परिभाषा भी वे अलौकिक आनन्द के रूप में करते हुए लिखते हैं —

> 'जग ते अद्भुत सुख सदन सब्दरु अर्थ कवित्त।
> यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥ ११६

यही बात इसके बाद आनेवाली वचनका अर्थात् टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं —

"जगते अद्भुत लोकोत्तर चमत्कार यह लच्छण मैं कर्‌यौ अब काव्यप्रकास के लच्छन कहत हैं —

> "दोष रहित अरु गुन सहित, कछुक अल्प अलंकार।
> सबद अरथ सो कवित है, ताको करो विचार॥"१ १०

इस परिभाषा की पुन आलोचना करते हुए वे 'साहित्यदर्पण' के आधार पर

---

१ 'रसरहस्य' की इण्डियन प्रेस में छपी प्रति लेखक ने दतिया राजपुस्तकालय में देखी थी। उसी के आधार पर यह विवरण है।

परिभाषा देते हैं फिर उसपर भी विचार कर अपनी परिभाषा को सिद्ध करते है। इस प्रकार प्रसिद्ध संस्कृत आचार्यों के विचार देकर उनकी समालोचना करते हुए कुलपति अपना मत निर्धारित करते हैं। इससे यह प्रकट है कि काव्य-शास्त्रीय विवेचन के बाद जो लक्षण कुलपति ने निर्धारित किये हैं, सैद्धांतिक विकास और मौलिकता की दृष्टि से उनमें कोई विशेष महत्त्व व परिवर्तन चाहे न देख पड़े पर यह बात निर्विवाद है कि इस प्रकार से विषय का विवेचन बड़ी ही स्पष्ट रीति से होता है जिसका भी अपना महत्व है। इस प्रकार आचार्य कुलपति का अपना सत्य-मत प्रतिपादन का प्रयास प्रशंसनीय है।

काव्य की परिभाषा पर विचार करने के उपरान्त वे काव्य प्रयोजन को लेते हैं और उसको निर्धारित करते हैं जो अनेक-संस्कृत आचार्यों के विचारों का निष्कर्ष सा है। उनके शब्दों में काव्य का प्रयोजन निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट है —

"जस सम्पति आनन्द अति, दुरितन डारे खोय।
होत कवित ते चातुरी, जगत राम बस होय॥ १८
इन्हें आदि दै और'जानिये॥'

इसके पश्चात् वे कविता के तीन वर्ग कहते हैं —

१ सरस व्यंग्यप्रधान २ मध्यम ३ चित्र। काव्य कोटियों का वर्णन 'रस रहस्य' के प्रथम वृतान्त में है।

द्वितीय वृतान्त में सबसे पहले वे वाचक, लक्षक और व्यंजक को स्पष्ट करते हुए इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शब्द शक्ति पर कविता का प्रभाव अवलंबित है, अतः उसका कोटि विभाजन भी आवश्यक है। कुलपति इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं —

वाचक विंजक लच्छकों सब्द तीनि विधि होय।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीनि विधि होय॥

इसके साथ ही तात्पर्य वृत्ति निर्देश करते हुए उन्होंने टीका में लिखा है —

'अरु इन तीनौनि के व्यवहार ते न्यारी सी प्रतीत करे सोऊ एक तातपरजका मति कहत है वाको शब्द नाहीं।' इसके पश्चात् वाचक, लक्षक, व्यंजक तथा शब्द-शक्तियों के अनेक भेदों की परिभाषायें आती हैं। कुलपति परिभाषाओं को दोहों में देकर उदाहरण देते हैं और उसके पश्चात् अपने विचारों को और स्पष्ट करने के लिये वे गद्य में वार्तिक देते हैं जिसको 'वचनिका' कहा है 'गूढ़ व्यंग' का उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं --

सज्जन सुख, मीठे वचन कहत न सहज बनाय।
लैयो कौन सुगंध को मौरन देत सिखाय॥

"हियाँ सज्जन की बड़ाई व्यंग ते प्रकट है। यही याँ शब्दालक्षक ही है।"

तीसरे वृत्तान्त में ध्वनि और काव्य-कोटियों का वर्णन है। ध्वनि के आधार पर ही कवित्त के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद होते हैं —

"कवित होत धुनि-भेद ते उत्तम मध्यम और।"

यह सब 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर है। जहाँ पर व्यंजना प्रधान और लक्षणा या अभिधा आधार रहती है वहाँ ध्वनि होती है। पहले लक्षणा के आधार पर खड़ी व्यंजना की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं —

मूल लछना है जहाँ गूढ़ व्यंग परधान।
अर्थ न काहू अर्थ को सो धुनि जानो जान॥

इसके पश्चात् अभिधा-मूला ध्वनि के संलक्ष्यक्रम व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-भेदों का वर्णन है। नौ रस व भावों का वर्णन असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत आता है। आचार्य कुलपति कहते भी हैं —

जिहि टा क्रम नहिं जानिये सो धुनि बहुत प्रकास।
भव रस भाव अभाव विधि पुनि तिनके आभास॥

वे रस ध्वनि की प्रधानता मानते हैं और इसी के साथ रस, विभाव, अनुभाव, सात्विक सचारी, स्थायी आदि भावों पर विचार करते हैं। इन सबमें लक्षण 'काव्य प्रकाश' के ही अनुवाद हैं।

इसके पश्चात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्य पर विचार है इसमें शब्द, अर्थ, अलंकार तथा उनके कारणों का वर्णन है।

चौथे वृत्तान्त में मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य का विवेचन है और पाँचवें में काव्य-दोषों पर विचार है। काव्य-दोषों की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं —

शब्द अर्थ में प्रकट है, रस समुझन नहिं देय।
सो दूषन तन मन बिया ज्यों जिय की हरि लेय॥
जाहि रहत ही जो रहे जिहि करे फिरि जाय।
सब्द अर्थ रस छन्द को सोइ दोष कहाय॥

इस प्रकार यदि कोई शब्दविशेष, अर्थविशेष, छन्दविशेष अथवा रस विशेष अपनी उपस्थिति से दोष ला देता है तो उसको क्रमशः शब्द, अर्थ, छन्द या रसदोष कहेंगे। इनके अतिरिक्त प्रबन्ध-दोष और पद-दोष पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार से 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लगभग सभी दोषों के लक्षण एवं उदाहरणों और अन्त में दोष समाधान के अन्तर्गत उन दोषों को दूर करने के उपायों का वर्णन है।

छठे वृत्तान्त में गुणों का विवेचन है। गुण का लक्षण कुलपति आचार्य के शब्दों में है:—

जो प्रधान रस धर्म को निपट बढ़ाई हेतु।
सो गुन कहिए अचल छित सुरा की परम निकेत॥

कुलपति गुणों को रस का मुख्य धर्म मानते हैं अतः यही कविता का प्रधान अंग हुआ। औरों की भाँति ये भी तीन गुणों को ही मानते हैं:—

"तीनि भाँति सो मधुरता ओज प्रसादहि गान।"

सातवें और आठवें वृत्तान्त क्रम से शब्दालंकार अर्थालंकार के वर्णन से पूर्ण हैं। इसमें लक्षण अधिकांशतः दोहों और उदाहरण सवैयों और कवित्तों में दिये गये हैं। कुलपति ने अलंकारों का निरूपण भी बड़ी पूर्णता से किया है।

इस प्रकार से कुलपति का 'रस रहस्य' यद्यपि मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर है फिर भी हिन्दी काव्य-शास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष आदि के विवेचन में बड़ी ही दक्षता और सच्चाई दिखलाई देती है। 'काव्य प्रकाश' के विषयों को पूर्ण रूप से ग्रहण करके ग्रन्थकार ने उनको स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। यह विद्वत्ता पूर्ण ढंग से लिखी हुई हिन्दी की विरल पुस्तकों में से है। और काव्य शास्त्र के अनेक अंगों पर विचार करते हुए कुलपति ने अपनी आचार्य की पदवी हिन्दी साहित्य में सुरक्षित करली है। फिर भी इसका स्थान काव्य-शास्त्र के विद्वानों में ही है, काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तकारों में नहीं। हिन्दी के प्राचीन लेखकों में यह कम महत्व की बात नहीं।

सुखदेव मिश्र

कुलपति के बाद सुखदेव मिश्र का समय* (१७२०—१७६० सं०) आता है। उनकी छः पुस्तकें —'वृत्त विचार', 'छन्द विचार', 'रसार्णव' 'शृंगार लता', 'पिंगल' और

* शुक्ल जी का इतिहास, पृ० ३११

'फाजिल अली प्रकाश' हैं। 'शृंगार लता' के विषय और विवरण ज्ञात नहीं हैं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में इनका जीवनवृत्त देते हुए लिखा था कि यह ग्रन्थ इनका नहीं वरन् इन्हीं के किसी वंशज का है। शृंगार लता (संस्कृत) के भी रचयिता एक सुखदेव मिश्र हैं। कहा नहीं जा सकता कि दोनों एक हैं या भिन्न भिन्न। इनका ग्रन्थ 'फाजिल अली प्रकाश' औरंगजेब के मंत्री फाज़िल अली की प्रशंसा में उसके पूर्वजों के वर्णन से युक्त, रस और छन्दों पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सं० १७३३ वि० है। 'वृत्त विचार' (सं० १७२८) 'छन्द विचार' और 'पिंगल', ग्रन्थ छन्दशास्त्र पर हैं। छन्द-शास्त्र का वर्णन इनका बड़ा रोचक और पूर्ण है और ये पिंगल के आचार्य माने जाते हैं। 'रसार्णव' मतिराम के 'रस राज' की भांति रस पर लिखी पुस्तक है[1]। नायक-नायिका भेदों का वर्णन विशेष विस्तृत है शृंगार रस का वर्णन तो काफी है पर अन्य रसों पर बहुत संक्षेप में कहा गया है। नायक, नायिका, सखी, उद्दीपन, आलंबन, अनुभाव, इत्यादि का वर्णन बड़े सुन्दर उदाहरणों द्वारा किया गया है। उद्दीपन का एक सुन्दर उदाहरण देखिये —

> फूलि रहे बन बाग सबै छवि फूलनि फूलि गयो मन मेरो।
> फूलनि ही को बिछावनो कै गहनो कियो फूलनि ही को घनेरो॥
> आज पलासन में चहुँ ओर तें मैन प्रताप कियो घन घेरो।
> ऐसेहि फूल फैलाइ फैलाइ भयो रितुराज री मानहु केरो॥

इसी प्रकार शुक्ला अभिसारिका का एक उदाहरण देखिये.—

> आई जहाँ मग नन्दकुमार तहाँ चली चन्द्रमुखी सुकुमार है।
> मालति ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुन्द की डार है॥
> भीतर ही झलकी झलकी अब बाहिर जाहिर होत न दार है।
> जोन्ह सी जोन्हें गई मिलि यों मिल जात ज्यों दूध में दूध की धार है॥

इस प्रकार इनके उदाहरण बड़े सुन्दर हैं, इनकी गणना प्रसिद्ध आचार्यों में इनके छन्द विवेचन के कारण है।

सुखदेव के बाद राम जी का 'नायिका भेद' (सं० १७६०) और गोपालराय का 'रस सागर' और 'भूषण विलास', बलिराम का 'रस विवेक', बलवीर का 'उपमालंकार'

---

[1] 'रसार्णव' को लेखक ने टीकमगढ़ के राजपुस्तकालय में देखा था। यह पुस्तक लाइट प्रेस बनारस में गोपीनाथ पाठक द्वारा सं० १८६६ में मुद्रित हुई थी।

और 'दंपति विलास', कल्यानदास का 'रसचंद' तथा श्रीनिवास का 'रस सागर' आदि ग्रंथ भी इसी समय के आस पास की रचनायें हैं। इनमें से सभी के ग्रंथ, प्रसिद्धि में और तथ्य में भी, साधारण महत्त्व के जान पड़ते हैं। और इनको भी हम रीति-कालीन परम्परा निभानेवाले कवियों के अन्तर्गत समझ सकते हैं। इनमें से कुछ तो काव्यात्मक गुणों से पूर्ण हैं परन्तु काव्य-शास्त्र के हेतु महत्त्व के नहीं हैं। इनके ही समकालीन बहुत प्रसिद्ध कवि और आचार्य देव के ग्रंथ आते हैं जिन्होंने कि काव्य शास्त्र के अंगों पर काफी स्वच्छन्दता पूर्वक विचार किया है।

आचार्य कवि देव

देव का जन्म सं० १७३० के लगभग और रचना काल सं० १७४६ से १७६० तक माना जा सकता है। इनके प्रसिद्ध ७२ और देखे सुने २५ ग्रंथों में बहुतेरे रीति ग्रंथ हैं जैसे 'भाव विलास', 'भवानी विलास', 'सुजान विनोद', 'कुशल विलास', 'रसविलास', 'काव्य रसायन', 'सुखसागर तरंग' इत्यादि। रस और नायिका-भेद तो इन ग्रन्थों में से अधिकांश का विषय है किन्तु कुछ में अलंकार, शब्द-शक्ति, वृत्ति आदि काव्य-शास्त्र के सभी विषयों का विवेचन किया है। ये जितने ग्रंथ हैं सभी एक दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र ग्रंथ नहीं हैं। एक के लक्षण और उदाहरण दूसरे के लक्षणों और उदाहरणों में बराबर पाये जाते हैं। कारण यह कि उन्होंने कई राज-दरबारों एवं राज्याश्रयों का सहारा तका किन्तु सम्भवतः कहीं भी संतोषकारी आश्रय प्राप्त नहीं हुआ। अतः एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने पर इन्होंने अनेक नामों से ग्रंथ लिखे जिनमें कि विषय लगभग एक ही है केवल नामों का ही अन्तर है। इनमें से मुख्य चार पर हम विचार करेंगे।

रस विलास

देव ने इसे सं० १७८३ में भोगीलाल के लिये बनाया जो इनके आश्रयदाताओं में सबसे अधिक उदार थे। देव ने उनके लिए लिखा है—"भोगीलाल भूप लाख पाखर लवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।" 'रसविलास' का समाप्ति-काल नीचे के दोहे में दिया हुआ है —

> संवत् सत्रह सै बरस और तिरासी जानि।
> रसविलास दसमी विजय पूरन सकल कल्यानि॥

इस ग्रंथ में अन्य पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकार की स्त्री,

जातियों तथा दूतियों का वर्णन है, केवल प्रचलित नायिकाओं का ही नहीं। इसका वर्गीकरण और वर्णन-क्रम स्वाभाविक और तर्कसंगत है। सबसे पहले देव कहते हैं — ।

कोटि कोटि विधि कामिनी तिनके कोटिन भेद।
तिन पै आया माधुरी बरनत हैं कवि देव॥

एक और स्पष्टता है कि देव ने नायिका-भेद में वर्गीकरण के नीचे लिखे आठ आधारों का भी वर्णन किया है —

जाति कर्म गुन देस अरु काल वय क्रम आनि।
प्रकृति सत्व हैं नायिका आठौं भेद बखानि॥

जाति-भेद के अन्तर्गत पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी कर्मभेद के अन्तर्गत स्वकीया, परकीया और सामान्या, गुणभेद के अन्तर्गत उत्तमा, मध्यमा और अधमा देशभेद के अन्तर्गत मध्यदेश, मागध वधू कौशल वधू, पाटल वधू, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बंगाल तथा अन्य अनेक प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। वय-क्रमभेद के अन्तर्गत मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा प्रकृति भेद के अन्तर्गत वातगुणी, पित्तगुणी, कफगुणी तथा सत्वभेद के अन्तर्गत देवसत्व, मानुषसत्व, गन्धर्वसत्व, यक्षसत्व, पिशाचसत्व इत्यादि का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त वह नायिका के अष्टांग यौवन, रूप, गुण, प्रेम, शील, कुल, वैभव, भूषण का विवरण देते हैं और अन्त में नागरी और अन्य अनेक नायिकाओं जैसे —राजपुरनागरी, पूजनहारी, द्वारपालिका, रावल नागरी, धाई, दूती, दासी, दरजिन, जौहरी, पटावन, सुनारिन, मधिन, तेलिन आदि का बड़ा रोचक एवं मनोग्राही वर्णन देकर नायिकाभेद पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। पुस्तक के अवशिष्ट भाग में हाव, भाव, अनुभाव इत्यादि का वर्णन है परन्तु अन्य रसों का वर्णन नहीं। पुस्तक ७ अध्यायों में समाप्त हुई है।

भवानीविलास

यह पुस्तक भवानीदत्त के लिए लिखी हुई रस-निरूपण से सम्बन्ध रखने वाली है। इसमें देव, रस को राधा और कृष्ण से उद्भूत आनन्द के रूप में मानते हैं। देव के विचारानुसार, यह कहना कि रस नौ हैं असत्य है, यथार्थ में श्रृंगार ही मूलरस है। उसी के द्वारा उत्पन्न उत्साह, वीर रस का रूप धारण करता है। रति से जो निराशा या निर्वेद

होता है यही शांत रस ।[1] केशव ने भावों को पाँच प्रकार का बताया था । देव के विचार से रस की निष्पत्ति के लिए ६ भाव हैं ।[2] स्थायी, विभाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी तथा हाव । शृंगार रस के विवेचन में ये कहते हैं कि प्रेम का बीज रति है जो ही शृंगार का स्थायी भाव है, यह विभाव के द्वारा उत्पन्न और उत्तेजित होकर अनुभाव के द्वारा प्रकट होता है । इस प्रकार से स्थायी रति, विभाव का संयोग पाकर सात्विक, अनुभाव संचारी भावों और हावों में अपने को प्रकट करती है । स्थायी भाव का अनुभव तब होता है जब हृदय प्रिय की बात सुन या देख कर उसकी ओर आकृष्ट होता है । आलम्बन और उद्दीपन ये दो प्रकार के विभाव हैं जो स्थायी भाव को अनुभावों के रूप में पूर्ण रीति से प्रकट होने के लिए प्रेरित करते हैं ।

देव के विचार से[3] कायिक संचारी आठ हैं और यही सात्विक भाव कहलाते हैं क्योंकि इनका प्रभाव शरीर पर दिखलाई देता है, किन्तु अन्य संचारी भाव मानसिक हैं और उनका प्रभाव मन और हृदय पर होता है । उन्हें व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं इनकी संख्या ३३ है (अध्याय १ १३ ३४) इस प्रकार सात्विक और संचारी को देव एक ही कोटि में रखते हैं । इसी प्रकार अनुभावों का अलग एक वर्ग है जो रस के अनुभव को प्रकट करते हैं । इस प्रकार प्रसन्नता, मुसकानि आदि भी अनुभाव हैं । अत देव का विचार दूसरों से कुछ भिन्न है, ये सात्विक भावों को संचारी से भिन्न मान कर अनुभावों के भीतर रखते हैं ।

इसके पश्चात् ये शृंगार के दो भेद संयोग और वियोग को लेते हैं जिनको ये प्रच्छन्न

---

१ भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल शृंगार ।
तेहि उछाह निरवेद लै, बीर सांत संचार ॥ (१ १०-वाँ)

२ थिर विभाव अनुभाव अरु कहौं सात्विक भाव ।
संचारी अरु हाव ये रस कारण षट भाव ॥ (१ १४वाँ)

३ कायिक बसु सात्विक अपर मानस निरवेदादि ।
संचारी सिंगार के भाव कहत भरतादि ॥ (१ ३०)

देखिये भावविलास –

रसहि जनाय बहुरि जो रस सउ अनुभाव ।
आनन नयन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसुक्यानि ॥
ये अभिनय सिङ्गार के जग मत सुन जानि ॥

और प्रकाश नामक दो विभेदों में बाँटते हैं जैसा कि केशव ने भी किया है। देव पहले वियोग शृंगार को लेते हैं जो शोकात्मक है और उसकी चार अवस्थायें बताते हैं —पूर्वानुराग, मान,प्रवास और सभोग संयोग। सदा आनन्दमय होता है, देव के विचार से संयोग, वियोग के बीच में आता है। प्रथम अवस्था, पूर्वानुराग की होती है जिसके बाद दस वियोग की दशायें आती हैं और उसके पश्चात् संयोग होता है जिसके पश्चात् मान, प्रवास और संयोग की अवस्थायें [१] होती हैं। इस वर्गीकरण और क्रम से यह स्पष्ट है कि देव ने इस पर बड़े ही नवीन, स्वाभाविक, तर्क-युक्त और मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। यह स्पष्टता अन्य आचार्यों में दुर्लभ है।

शृंगार के आधार नायक और नायिका हैं। स्वकीया मुख्य आधार है। इन दो आधारों में नायिका अधिक आकर्षक है अब देव नायिका का वर्णन आरम्भ करते हैं। यह देव का समझाने का ढंग है। सदैव इनकी प्रणाली तर्कसंगत है। इसके पश्चात् 'रस विलास' की भाँति' ही नायिका-भेद का आठ आधारों में तथा उनके अष्टांगों सहित वर्णन है। ये आठ अंग हैं —"भूषण, यौवन, रूप, गुन, सील, विभव, कुल, प्रेम। (१६)"

देव कहते हैं कि स्वकीया के अधिकार में ये आठों है। परकीया, कुलमर्यादाहीन होती है किन्तु सामान्या शील, कुल, प्रेम और विभव सभी से हीन होती है। देव के विचारों से जो नायिकायें भूषण, यौवन, रूप और गुण से युक्त होती हैं, उन्हें उत्तमा कहते हैं। नायिकाओं का प्रयोजन बताते हुए देव कहते हैं कि[२] स्वकीया सुख और संतान के लिए

---

१ रस सिंगार के भेद द्वै हैं वियोग संयोग।
सो प्रच्छन्न प्रकास करि द्वै द्वै कहूँ प्रयोग॥
सो पूरब अनुराग अरु, मान प्रवास सयोग।
वियोग चौविधि, एक विधि आनन्दरूप सयोग॥
प्रथम होत दम्पतिन के पूर्वऽनुराग वियोग।
अभिलाषादिक रस दसा सो पीछे संयोग।
है वियोग संयोग तें मान प्रवास सयोग।
यहि विधि मध्य वियोग के होत शृंगार सयोग॥ (२ १, २ ३, ४)

२ कुलिया सुख संतान हित प्रेम दरस पर भारि।
सामान्या उत्सव समय भगत रूप निहारि॥

परकीया प्रेम के लिए और सामान्या उत्सव आदि के लिए होती है। परकीया के प्रेम में दुख अधिक सुख कम है। इसके अतिरिक्त और वर्णन वैसा ही है जैसा 'रस विलास' का।

पूर्वानुराग के वर्णन में श्रवण और दर्शन के द्वारा उद्भूत वे प्रेमांकुर का वर्णन करते हैं। दर्शन तीन प्रकार का है— चित्र, स्वप्न और साक्षात्। नायक-भेद का भी उसी प्रकार का वर्णन है। आठवें विलास में देव नव रसों का वर्णन करते हैं। देव के विचार से उत्साह स्थायी भाव, इस प्रकार के दृश्यों जैसे युद्ध-क्षेत्र में शत्रु को देखकर तथा भिखारी व दुखी को देखकर जाग्रत होकर युद्धवीर, दानवीर और दयावीर के रूप में प्रकट होता है। शान्त रस को उन्होंने प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति, शुद्ध प्रेम तथा शुद्ध शान्त में विभाजित किया है। अन्तिम प्रकार में पूर्ण निर्वेद होता है। हास्य तीन प्रकार का है। उत्तम, मध्यम और अधम। देव शृंगार, वीर और शांत रसों को ही प्रधान रस मानते हैं। दूसरे रसों को इन्हीं रसों का अंग कहते हैं इस प्रकार से रसों का वर्णन पूर्ण है। यह वर्णन नवीन ढंग और मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर क्रमबद्ध किया गया है अतः देव की महत्ता स्पष्टता, सुव्यवस्था और स्वाभाविकता में औरों से बढ़ जाती है।

भाव-विलास

रस और अलङ्कारों पर लिखी यह देव की दूसरी पुस्तक है। रचनाकाल की दृष्टि से 'भावविलास' देव की पहली लिखी पुस्तक है जिसका निर्माण उन्होंने सं० १७४६ में 'चढ़त सोरहीं वर्ष' में किया था। रस का विवेचन इसमें लगभग वैसा ही है जैसा कि 'भवानी विलास' में है किन्तु विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों का वर्णन भी आ गया है। पूर्व विलास में सात्विक और संचारी भावों का उदाहरणों के द्वारा विशेष पूर्णता के साथ वर्णन है। नायिका-भेद और रसों के वर्णन का क्रम इसमें 'भवानी विलास' से भिन्नता रखता है परन्तु बहुतेरी परिभाषायें बिल्कुल एक ही हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में देव कहते हैं कि धर्म से धन और धन से काम, काम से सुख होता है और सुख का फल शृंगार रस है। उसके कारणभाव हैं। भाव छः प्रकार के हैं जैसा कि 'भवानी विलास' में वर्णित है। विभावों का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष विस्तार के साथ है। शृंगार के उद्दीपन विभाव का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

> गीत नृत्य उपवन गमन आभूषन बन केलि।
> उद्दीपन शृंगार के विधु बसन्त बन बेलि॥

इसी प्रकार अनुभावों का भी वर्णन है। इनकी परिभाषायें 'भवानी विलास' के लक्षणों सी ही हैं।

दूसरे विलास में सचारी भावों का वर्णन है जिनके व कायिक और मानसिक दो भेद करते हैं। इसमें उनके नाम शरीर और आंतर हैं। शारीर सचारी आठ हैं। देव कहते हैं कि भरत के अनुसार आंतर सचारी ३३ हैं किन्तु अन्त में व ३४ वाँ 'छल' सचारी भी जोड़ देते हैं जिसे देव अन्य सस्कृत आचार्यों[1] के विचार से सम्मत मानते हैं, पर उनका नाम नहीं लेते। इन कुछ नवीनताओं के विषय में शुक्लजी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहते हैं —

"कुछ लोगों ने मस्तिष्क अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हें कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग हैं जिन्हें तात्पर्यवृत्ति एक नया नाम मालूम होता है और जो सचारियों में एक छल और बढ़ा हुआ देखकर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्यवृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आरही है और वह सस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्यवृत्ति वास्तव में वाक्य के भिन्न भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है। अत वह अभिधा से भिन्न नहीं, वाक्यगत अभिधा ही है। रहा 'छल' सचारी वह सस्कृत की रस तरंगिणी' से जहाँ से और बातें ली गई हैं लिया गया है। दूसरी बात यह है कि साहित्य के सिद्धान्त-ग्रन्थों से परिचितमात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ संचारी उपलक्षण मात्र हैं सचारी और भी कितने हो सकते हैं।"[2] हम इसमें देव की शास्त्रीय उद्भावना की बात न मानें तो भी ३४वाँ छल अन्य आचार्यों ने नहीं रक्खा इसलिये यह देव के विवेचन की विशेषता तो हुई ही। उन्होंने लिया है प्राचीन आचार्यों से अवश्य, पर उस पर सोचा विचारा भी है और उसके विवेचन में नवीन सामग्री उपस्थित की है। तात्पर्य वृत्ति का वर्णन शब्द शक्तियों के प्रसंग में अनेक आचार्यों ने किया है।

तीसरे विलास में रस का विवेचन करते हुए देव कहते हैं कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायी मिलकर रस की उत्पत्ति करते हैं। वह रस दो प्रकार का होता है — लौकिक और अलौकिक।

> नयनादिक इन्द्रियन के जोगहिं लौकिक जानु।
> आतम मन सयोग ते होय अलौकिक मानु॥
>
> कहत अलौकिक तीन विधि प्रथम स्वापनिक मानु।
> मानोरथ कवि देव कहि औपनायकी बखानु॥

---

१ यह वर्णन भानुदत्त कृत 'रसतरंगिणी' के आधार पर है।

२ देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३२० ३२१

अलौकिक रस के तीन भेद स्वापनिक, मानोरथ और औपनायक तथा लौकिक रस के शृंगार, वीर, करुणा आदि नव भेद हैं। हावों का वर्णन इसके उपरान्त, अलग है। ये शृंगार रस से सम्बन्धित हैं। शेष रूप में शृंगार का वर्णन ऐसा ही है जैसा 'भवानी विलास' में। करुणात्मक वियोग और करुणा रस का अन्तर बताते हुए,देव कहते हैं —

> जहाँ आस जिय जियन की सो करुनातम जानु।
> जीमैं निहचै मरन को करुना ताहि बखानु॥
> करुनातम सिंगार जहँ और शोक निदानु।
> केवल सोग जहाँ तहाँ सिध करुन रस जानु॥

'भाव विलास' में अन्य रसों का वर्णन नहीं है। चौथे विलास में नायक-नायिकाओं के भेद हैं। पाँचवें विलास में अलंकारों का वर्णन है। देव के विचार से मुख्य अलंकार ३६ हैं।[1] संशय की परिभाषा को उन्होंने उपमा और उपमेय में जहाँ सन्देह हो वहाँ माना है, यह सन्देह अलंकार ही है केवल लक्षण के शब्दों में भिन्नता है। जो अलंकार भी रसों में सरसता पहुँचावें देव ने उसे रसवत् माना है। देव की यह धारणा नवीन है। इस प्रकार जो भी परिभाषा है, वह स्पष्ट है।

काव्य रसायन

देव के ग्रन्थों में 'काव्यरसायन' सबसे अधिक महत्त्व का है। इस ग्रन्थ में शब्दशक्ति, वृत्ति, रीति, गुण, रस और अलंकारों का विवेचन है। इसमें ध्वनि-सिद्धान्त का वर्णन है। 'काव्यरसायन' के अन्त में छन्दशास्त्र का भी विवरण है। देव, काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं —

> सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस सरीर।
> चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर॥

इस प्रकार देव ने शब्द को जीव, अर्थ को मन और रस से युक्त सुन्दर यश वाले काव्य को शरीर माना है। शब्द को जीव मानने का तात्पर्य शब्द-शक्ति के विवेचन करने का उद्देश्य ही है। इसके आगे वे कहते हैं —

---

१ अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहे ये हो पुरातनि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कवित के संमत अनेक और इनही के भेद और विविध बताइये॥
—भाव विलास, ५ वि०, १ छंद।

'सब्द सुमति मुख तें कढ़ै लै पद बचननि अर्थ।
छन्द भाव भूषन सरस सो कहि काव्य समर्थ॥
ताते पहले सब्द अरु कीनै अर्थ विचार।
सुजन रसाइन देव कवि काव्य श्रुति सुपदार॥"

इसी प्रसग में अभिधा लक्षणा, व्यंजना का वर्णन है। वाचक, वाच्य और वृत्ति को स्पष्ट करते हुए देव ने लिखा है —

सब्द बचन से अर्थ कहि, चढ़े सामुहे चित्त।
ते दोऊ वाचक वाच्य हैं, अभिधा वृत्ति निमित्त॥

शब्द वाचक होता है, अर्थ वाच्य और वृत्ति का नाम अभिधा है। इसी प्रकार से लक्षक-लक्ष्य-लक्षणा, व्यंजक-व्यंग्य व्यंजना का भी वर्णन है। अभिधा वृत्ति के उदाहरण में देव लिखते हैं—

पाँवरिन पाँवड़े परे हैं पुर पौरि लागि धाम धाम धूपन को धूम धुनियत है।
कस्तूरी अगर सार चोवा रस घन सार दीपक हजारन अध्यार लुनियत है॥
मधुर मृदग राग रग के तरगनि में अग अग गोपिन के गुन गुनियत है।
देव सुखसाज महराज ब्रजराज आजु राधा जू के सदन सिधारे सुनियत है॥

इसमें प्रधान अभिधा है, क्योंकि जो कहा गया है वही अभिप्रेत है। देव के विचार से जिस वृत्ति की प्रधानता होती है उसी शक्ति को वहाँ मानना चाहिए। ऊपर के पद में लक्ष्य और व्यग्य दोनों अर्थ हैं पर प्रधान वाच्यार्थ ही है किस प्रकार? यह स्पष्ट करते हुये देव कवि कहते हैं —

जहाँ वाच्य वाचक दिवस लक्ष्य सखी मुख गर्व।
व्यग्य सौतिन को निरादरु अभिधा तहाँ अपर्व॥
तिहूँ शब्द के अर्थ य तीनों ओत प्रोत।
ये प्रवीन ताही कहत जाको अधिक उदोत॥

अत यहाँ वाच्यार्थ ही प्रधान है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी स्पष्ट किया गया है। लक्षणा के रूढ़ि, प्रयोजनवती और रूढ़ि के व्यग्य और बिन व्यग्य भेदों, प्रयोजनवती के शुद्ध और मिलित, तथा शुद्ध के अजहत, जहत, सारोपा, साध्यवसाना और मिलित के केवल सारोपा और साध्यवसाना आदि भेद विभेदों का स्पष्ट वर्णन है। इन सभी

के लक्षण सुस्पष्ट और उदाहरण सुन्दर हैं। देव ने इन सभी के तथा अभिधा और लक्षणा के भी सम्मिश्रण के उदाहरण दिये हैं। अभिधामध्यलक्षणा का एक उदाहरण देखिये —

> साँझ ते भूषन सेज बनाइ दुकूलनि, फूलनि केलि खिलौंगी।
> देखी पराई अवखिय ही, सुन सेज के पालक पौढ़ि मिलौंगी॥
> सोऊँगी लाज के साज निवारिकै साजन सौं सपनेहुँ हिलौंगी।
> कानन मूँदि मिहीचि के आँखिन चित्त हू सौं चुरि मित्त मिलौंगी॥

यहाँ चित्त हूँ सौं चुरि में लक्षणा सम्पूर्ण अभिधात्मक वर्णन के मध्य शोभित है। प्रियमिलन वाच्यार्थ और लज्जा लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार व्यंजना-मध्य-व्यंजना का उदाहरण देखिये —

> बानर बीर बसाय बड़ो रंग मंदिर में सुक सारी चिरैया।
> मोर लौं अखिल भीर अथाहन द्वार न काहू किवार भिरैया॥
> कौलौं घिरे घर में रहौं देव बधू मिथुट के ौ कौन पिरैया।
> भूले न बाग समूले निमूलऊ भूले सर उर भूले फिरैया॥

यहाँ घर में मिलन नहीं हो सकता, इस वाच्यार्थ के मध्य यह व्यंजना है कि बाग में भेंट होगी। तत्पश्चात् इन तीनों वृत्तियों के सकीर्ण भेदों का वर्णन करते हुए मूल-भेद कहे गये हैं। देव के अनुसार अभिधा के जातिभेद, क्रियाभेद, गुनभेद, शास्त्रकथितरूपादि भेद हैं।

'काव्य रसायन' के तीसरे प्रकाश में रस निरूपण है। देव के विचार से रस ही काव्य है[1] और काव्य स्वयं शब्द और अर्थ का सार है। काव्य के शब्दार्थ, अलंकार आदि अनेक स्वभाव हैं। काव्य की अमर-तरु से तुलना करते हुए और इस प्रकार उसका स्वभाव स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है —

> रस लच्छन—चित्त थापित थिर बीज विधि सात अर्करस भाव।
> चित्त बदलि रस फल फलि बासत सरस सभाव॥

> भावनि के बस रस बसत, विलसत सरस कवित्त।
> कविता शब्द अर्थ पद तिहि बस सज्जन चित्त॥
> काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यैसार।
> सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार॥

खेत बीज अंकुर सलिल साखा दल फल फूल।
पाठ भाग रस भ्रमर तरु सुवत अमीरस मूल॥
खेत पात्र प्रारब्धि विधि बीज सुअंकुर थाय।
सलिल मेह भाव सु विटप छन्द पत्र परिभोग॥
अलंकार रस अर्थ के फल फूलनि आमोद।
मधुर सरस रस अमरतरु भ्रमर अमीरस मोद॥

देव, नवरसों के नाम-कथन करने के बाद उनके स्थायी, सात्विक, संचारी भावों को स्पष्ट करते हैं किन्तु विशेष विवरण के लिये 'भावविलास'[1] और 'भावानीविलास' देखने को कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि यह उनके बाद का रचा ग्रन्थ है। देव शृंगार को मुख्य रस मानते हैं और जैसा कि 'भवानीविलास' में है। तीन रसों को प्रमुख और अन्यों को सहायक के रूप में देखते हैं। इन तीनों में प्रत्येक के दो आधीन रस हैं।[2] देव के उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। विभाव का उदाहरण देखिये —

दौरइ सी बन दौरईं फूलनि औरइ भार बयार की झोंके।
फेरइ से विष कोरई खोलि रही बही ठौर कठोर हियो के॥
भौरई सों रह सूमि परी वर रौरई दब रूक मांहि रोकै।
भौरई सी भइ बाग लौं आवत बौरई सी भई ठौर विलोकै॥

रसों के वर्णन भी बड़े पूर्ण हैं। हास्य के तीन प्रकार उत्तम, मध्यम, अधम और

---

१ 'सात्विक अरु संचारियो, रस को करत प्रकास।
सबको लक्षन उदाहरण, बरनत भावविलास॥"

२ "नौरस सब संसार मय नौरस मय संसार।
नौरस सार सिंगार रस, जुगुल सार सिंगार।
जुग को सवस नायका, नायक जुगल सरूप।
जोबन सबम जुगल को जोबन प्रेम अनूप॥"

— — — — —

तीनि मुख्य नौ रसनि में द्वै द्वै प्रथमनिलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिहुन में दोऊ तिहि आधीन॥
हास्यऽरुभय सिंगार संग, रुद्र करुन संग बीर।
अद्भुत अरु बीभत्स संग सान्त सुबरनत धीर॥"

करुना के, अति करुना, महा करुना, लघु करुना और सुख करुना हैं जिनमें दुख न मिलन समय रोने को भी रक्खा है, इसके बाद रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त रसों का वर्णन है। शान्तरस का स्थायी भाव समबुद्धि है। इसी प्रसंग में वे रस-दोष[1] और रस शत्रु का भी विवरण देते हैं। देव का कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों आदि का वर्णन पृथक नहीं है। 'काव्य-रसायन' में नायिका-भेद का वर्णन करते हुए वे १३ प्रकार की वय के विचार से और ८ अवस्था के विचार से नायिकाओं का वर्णन करते हैं —

> तेरह बिधि वय भेद, फर कहत अवस्था आठ।
> स्वीया परकीया द्विविधि सर्व अथ तिहि पाठ ॥

इसके पश्चात् देव द्वादश रीतियों का वर्णन करते हैं। श्लेष, इलथ, प्रसाद, सम, मधुर भाव, सुकुमार, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति, ओज उदार आदि दस गुण हैं और इनमें से प्रत्येक को नागर और ग्रामीण दो भेदों में बाँटकर द्वादश रीति कही गई है, जोकि उपयुक्त नहीं। देव, नागर और ग्रामीण दोनों को ही महत्व देते हैं। नागर में रुचि अर्थात् सुघराइ अधिक है किन्तु ग्रामीण में रस अधिक है देव के ही शब्दों में—

> नागर गुन आगार द्वितिय रस सागर रुचि हीन ॥ ५
> नागर अरु ग्रामीन गति समुक्त परम प्रवीन।
> काम कहा तिनको जु सर कामुक हृदय मलीन ॥ ६
> सुन्दर सरस सरोवरी, हंस कमल जिहि बीच।
> तहाँ गरजि रज पुञ्ज गज पैठि उठावत कीच ॥ ७
> नगर ग्राम अन्तर इतौ मालति मृदु मकरन्द।
> तजि चम्पा मंदार चढ़ि माधव अलि स अनन्द ॥ ८
> जी लौं पावै पद्मिनी, स्वास समीरन मोद।
> मधुकर करिवर कुम्भ पर, करत न विविध विनोद ॥ ९

नागर के साथ कलात्मक और कृत्रिम सौन्दर्य है किन्तु ग्रामीण के साथ स्वाभाविक और प्राकृतिक सौन्दर्य है। फिर भी लोग नागर को अधिक चाहते हैं। यह देव का विचार है।

---

[1] सरस, निरस, उदास सन्मुख, विमुख स्वनिष्ट और परनिष्ट ये रस-दोष हैं।

गुणों के वर्णन के उपरान्त अलंकारों का वर्णन आता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, अनेक भेदों सहित चित्र तथा अन्तर्लापिका का वर्णन है, और अर्थालंकारों में दो वर्ग हैं मुख्यालंकार तथा गौणमिश्रालंकार। मुख्यालंकार के अन्तर्गत--स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, हेतु, सहोक्ति, सहोक्तिमाला, सूक्ष्म, लेश, भय, प्रेम, रसवत, उदात्त, ऊर्जस्वि, अपन्हुति, समाधि, निदर्शना, दृष्टांत, निन्दास्तुति, स्तुतिनिंदा, संयम, विरोध, विरोधाभास, तुल्य-योगिता, अप्रस्तुत, असम्भव, असंगति, परिकर, तद्गुन, आदि हैं।

गौणमिश्रालंकार में अनुगुन, अनुज्ञा, अवज्ञा, गुनवत, प्रत्यनीक, लेसलार, मिलित, कारन माला, एकावली, मुद्रा, मालादीपक, समुच्चय, सम्भावना, प्रदर्शन, गूढोक्ति व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, विकल्प, सकीर्ण, भाविक, आसिष्य, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्यान्यभित, सामान्यविशेष, उन्मीलित, पिहित, अर्थापत्ति, विधि, निषेध, प्रत्युक्ति प्रेयुक्ति, अन्योक्ति आदि हैं।

इनका 'संशय' सन्देह से भिन्न है। केवल उपमा देने में ही जब अनिश्चय होता है वहाँ वे 'संशय' मानते हैं जब कि संदेह अन्य आचार्यों के द्वारा निरूपित सन्देह अलंकार के समान है। संशय को अलग अलंकार मानना उपयुक्त नहीं।

एक प्रकार के अलंकार एक ही छन्द में स्पष्ट किये गये हैं। नवें प्रकाश तक उपयुक्त विषय समाप्त हो जाते हैं।

दशवें प्रकाश में छन्दों का वर्णन है। 'काव्यरसायन' उत्तम ग्रन्थों में है। वर्गीकरण और विवेचन दोनों के विचार से यह ग्रन्थ रोचक है। यद्यपि आधार संस्कृत के ग्रन्थ हैं, फिर भी क्रम और ढंग तथा विषय-विभाजन आदि में नवीनता है। इन अनेक ग्रंथों में हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के एक विशेष अंग को प्रमुख बनाकर वर्णन किया गया है, यद्यपि एक विषय पर विचार सर्वत्र एक से ही हैं। इस प्रकार हमें देव में विचार की स्पष्टता वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता के दर्शन होते हैं। उन्होंने काव्यशास्त्र के लगभग सभी विषयों पर विचार किया है उनका स्थान आचार्य और कवि दोनों की दृष्टि से आदरणीय है।

३

रीति-ग्रन्थों का विस्तार और उत्कर्ष

चिन्तामणि त्रिपाठी के पश्चात् देव और कालिदास क समय तक लगभग पचास वर्षों में काव्यशास्त्र क विषयों पर हिन्दी में लिखने की परम्परा बँध गई थी। लक्षण अथवा रीति-ग्रन्थों की, जनता और राजदरबार, दोनों क बीच प्रतिष्ठा बन चुकी थी। अब कवि के लिए यह आवश्यक सा हो गया था कि वह जो कुछ भी लिखे, उसे रीति-परम्परा में ढाल कर लिखे। उसे रस, अलकार, नायिकाभेद, ध्वनि आदि क वर्णन के सहारे ही और किसी वस्तु का वणन करना होता था। सफल कवि वही समझा जाता था जो कि लक्षण ग्रन्थों का निमाण करे। राजदरबारों में भी उदाहरणों पर विवाद होते थ। किसी भी स्त्री क वणन में, यह कौन नायिका ह ! का प्रश्न उठता था। अत कवि लोग इसी के सहारे चलते थे। टीकाओं और ग्रथ तक में का य-सौन्दय को स्पष्ट करने के लिए उसके भीतर, कौनअलकार, कौन रस या भाव, कौन नायिका अथवा कौन शब्द-शक्ति विद्यमान् है, यह बताना आवश्यक समझा जाता था।

राजदरबारी कवि भी राजा की प्रशसा तथा उसक जीवन आदि का वणन इन्हीं रीति-ग्रन्थों क ही अ तर्गत करत थे। रीति-परम्परा से स्वच्छन्द काव्य लिखने वालों को प्राय उचित सम्मान न मिलता था। बिहारी आदि कुछ कवि तो प्रतिवाद ही मानने चाहिए। यद्यपि इनके दोहों में भी अलकार और नायिका-भेद का आधार प्राप्त होने के कारण ही इनकी सतसई का इतना आदर हुआ था। कवियों की गोष्ठियों में भी किसी कविता के भीतर उपर्युक्त बातों पर ही वाद-विवाद चला करता था। अत लगभग सभी कवि अपनी कविता को इन्हीं प्रणालियों क अन्तर्गत ढालत थ। वे लक्षणों के उदाहरण-रूप कविता लिखते थे।

इसका प्रचलन सं० १७५० वि० के पश्चात् बहुत अधिक हो गया। इस समय बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गये और प्रसिद्ध आचार्य भी हुए। इनमें सूरति, सोमनाथ, श्रीपति, भिखारीदास, दूलह, बैरीसाल, पद्माकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका महत्व इसी रीति-परम्परा के ही अन्तर्गत है, इससे बाहर नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी काव्यशास्त्र पर लिखे जाने वाले ग्रन्थों का यह उत्कर्ष काल था, इस काल की काव्य की प्रगति लक्षण-ग्रन्थों के रूप में ही मिलती है। इस उत्कर्ष-काल के ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया जायगा।

कालिदास त्रिवेदी का 'वधूविनोद'

'वधूविनोद' नायिका भेद पर लिखा प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसको देव के समकालीन कालिदास ने सं० १७४६ के लगभग बीजा में जलिम जोगाजीत के आश्रय में लिखा था। जैसा कि नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है:—

नगर एक बीजौ तहाँ, बहु विधि नृपति अनूप।
सरे बहै सुपदा नदी, सुपथगामिनी रूप॥

उसमें पहले जालिम जोगाजीतसिंह के वंश का वर्णन है उसके पश्चात् कथानक है कि राधा और कृष्ण के बीच ललिता ने दूती का काम किया। राधा को कृष्ण के पास आने के लिए कहकर कृष्ण को समझाने के लिये ललिता गई और उस बीच में जबतक राधा, कृष्ण के यहाँ तक पहुँचे, ललिता ने कृष्ण से नायिकाओं के भेद कहे और समझाया कि कुलवधू बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है —

भेद कहे कुलवधुन के, प्रथमहिं रचि रचि बैन।
मिलै लाख गोकुल वधू, पै कुलवधू मिलै न॥

पुस्तक में स्वकीया, परकीया, सामान्या आदि के सामान्य लक्षणों के साथ सुन्दर काव्यपूर्ण उदाहरणों से युक्त वर्णन है। सामान्या का विस्तार से वर्णन है। राधा-कृष्ण के विलास का भी इसमें वर्णन है। परन्तु राधाकृष्ण के शृंगार-वर्णन में कवि की भक्ति भावना के भी दर्शन होते हैं। कालिदास के अनेक उत्कृष्ट कवित्वपूर्ण छन्द इसमें मिलते हैं।

सूरति मिश्र

सूरति, आगरे के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, जैसा इनके दोहे के एक चरण से पता चलता है —

''सूरति मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास'

इन्होंने कई ग्रन्थ काव्यशास्त्र के विषयों पर लिखे जैसे—'अलंकार माला' 'रसरत्नमाला, 'रस ग्राहक चन्द्रिका' 'काव्य सिद्धांत' 'रस रत्नाकर' 'सरस रस' आदि। इन्होंने 'कविप्रिया' और रसिकप्रिया' की टीकाएँ भी ब्रजभाषा गद्य में लिखी हैं। 'रसग्राहक चन्द्रिका' रसिक प्रिया की टीका है जो इन्होंने जहानाबाद के नवाज मुहम्मद उपनाम 'रसग्राहक' के लिए सं० १७९१ में लिखी थी। इन्होंने १७६० में दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह से भी भेंट की थी। सूरति को कुलगुरु की पदवी प्राप्त थी। इनका 'अलंकार माला' ग्रन्थ सं० १७६६ की रचना है। यह अलंकारों पर लिखा हुआ 'भाषाभूषण' के ढंग का ग्रंथ है जिसका आधार 'चन्द्रालोक' जान पड़ता है इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण दोनों एक ही दोहे में देने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु यह 'भाषा भूषण' के समान सुगठित लक्षण और उपयुक्त उदाहरण देने का गौरव नहीं प्राप्त कर सका।

काव्य सिद्धान्त

सूरति के अन्य ग्रन्थ रस के सम्बन्ध के हैं पर 'काव्य सिद्धान्त'[1] में काव्यशास्त्र के सभी विषयों पर विचार है और यह एक महत्व का ग्रन्थ है। इसमें उन बातों का वर्णन है जिनका जानना कवि के लिये आवश्यक है और जो कविता में भी आनी चाहिये। काव्य की परिभाषा भी इनकी अपनी निश्चित की हुई जान पड़ती है। वे कहते हैं —

> "बरनन मन रंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ।
> निपुन कर्म कवि को जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥"

इस परिभाषा के अन्तर्गत रस, गुण, अलंकार आदि सभी आवश्यक बातें आ जाती हैं। साथ ही साथ सूरति मिश्र, काव्य की अत्यन्त आवश्यक तीन बातों का निर्देश करते हैं। कारण के सम्बन्ध में इन बातों को उन्होंने लिखा है —

> कारण देवप्रसाद जिहि, सक्ति कहत सब कोइ।
> बितपत्त और अभ्यास मिलि, ग्रंथ बिन काव्य न होइ॥

देवप्रसाद या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, ये तीन बातें काव्य की उत्पत्ति की कारणस्वरूप हैं। इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं —

> जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन।
> तबही तरु उपजै सुत्यों, इनते कविता आन॥

'वितपत' का अर्थ व्युत्पत्ति या शास्त्रज्ञान है, अतः सूरति के विचारानुसार प्रतिभा, फिर शास्त्रीय ज्ञान और इनके उपरान्त अभ्यास तीनों का ही क्रमशः महत्व है। एक

[1] टीकमगढ़ में लेखक-द्वारा देखी प्रति के आधार पर।

इसका प्रचलन सं० १७५० वि० के पश्चात् बहुत अधिक हो गया। इस समय बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे गये और प्रसिद्ध आचार्य भी हुए। इनमें सूरति, सोमनाथ, श्रीपति, भिखारीदास, दूलह, बैरीसाल, पद्माकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका महत्व इसी रीति-परम्परा के ही अन्तर्गत है, इससे बाहर नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी काव्यशास्त्र पर लिखे जाने वाले ग्रन्थों का यह उत्कर्ष काल था, इस काल की काव्य की प्रगति लक्षण-ग्रन्थों के रूप में ही मिलती है। इस उत्कर्ष-काल के ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया जायगा।

कालिदास त्रिवेदी का 'बधूविनोद'

'बधूविनोद' नायिका भेद पर लिखा प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसको देव के समकालीन कालिदास ने सं० १७४६ के लगभग बीना के जालिम जोगाजीत के आश्रय में लिखा था। जैसा कि नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है :—

> नगर एक बीनौ तहाँ, बहु विधि नृपति अनूप।
> तरे बहै सुपदा नदी, सुपथगामिनी रूप॥

उसमें पहले जालिम जोगाजीतसिंह के वंश का वर्णन है उसके पश्चात् कथानक है कि राधा और कृष्ण के बीच ललिता ने दूती का काम किया। राधा को कृष्ण के पास आने के लिए कहकर कृष्ण को समझाने के लिये ललिता गई और उस बीच में जबतक राधा, कृष्ण के यहाँ तक पहुँचे, ललिता ने कृष्ण से नायिकाओं के भेद कहे और समझाया कि कुलवधू बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है —

> भेद कहे कुलवधुन के, प्रथमहि रचि रचि बैन।
> मिलै लाख गोकुल बधू, पै कुलवधू मिलै न॥

पुस्तक में स्वकीया, परकीया, सामान्या आदि के सामान्य लक्षणों के साथ सुन्दर काव्यपूर्ण उदाहरणों से युक्त वर्णन है। सामान्या का विस्तार से वर्णन है। राधा-कृष्ण के विलास का भी इसमें वर्णन है। परन्तु राधाकृष्ण के शृंगार-वर्णन में कवि की भक्ति भावना के भी दर्शन होते हैं। कालिदास के अनेक उत्कृष्ट कवित्वपूर्ण छन्द इसमें मिलते हैं।

सूरति मिश्र

सूरति, आगरे के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, जैसा इनके दोहे के एक चरण से पता चलता है —

> ''सूरति मिश्र कनौजिया नगर आगरे वास

इन्होंने कई ग्रन्थ काव्यशास्त्र के विषयों पर लिखे जैसे —'अलकार माला' 'रसरत्नमाला, 'रस ग्राहक चन्द्रिका' 'काव्य सिद्धांत' ' रस रत्नाकर' 'सरस रस' आदि। इन्होंने 'कविप्रिया' और रसिकप्रिया' की टीकाएँ भी ब्रजभाषा गद्य में लिखी हैं। 'रसग्राहक चन्द्रिका' रसिक प्रिया की टीका है जो इन्होंने जहानाबाद के नवाज मुहम्मद उपनाम 'रसग्राहक' के लिए सं० १७९१ में लिखी थी। इन्होंने १७८० में दिल्ली के बादशाह महम्मदशाह से भी भेंट की थी। सूरति को कुलगुरु की पदवी प्राप्त थी। इनका 'अलकार माला' ग्रन्थ स० १७६६ की रचना है। यह अलकारों पर लिखा हुआ 'भाषाभूषण' के ढंग का ग्रंथ है जिसका आधार 'चन्द्रालोक' जान पड़ता है इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण दोनों एक ही दोहे में देने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु यह 'भाषा भूषण' के समान सुगठित लक्षण और उपयुक्त उदाहरण देने का गौरव नहीं प्राप्त कर सका।

काव्य सिद्धान्त

सूरति के अन्य ग्रन्थ रस के सम्बन्ध के हैं पर 'काव्य सिद्धान्त'[1] में काव्यशास्त्र के सभी विषयों पर विचार है और यह एक महत्व का ग्रन्थ है। इसमें उन बातों का वर्णन है जिनका जानना कवि के लिये आवश्यक है और जो कविता में भी आनी चाहिये। काव्य की परिभाषा भी इनकी अपनी निश्चित की हुई जान पड़ती है। ये कहते हैं —

> "बरनन मन रंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ।
> निपुन कर्म कवि को जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥"

इस परिभाषा के अन्तर्गत रस, गुण, अलंकार आदि सभी आवश्यक बातें आ जाती हैं। साथ ही साथ सूरति मिश्र, काव्य की अत्यन्त आवश्यक तीन बातों का निर्देश करते हैं। कारण के सम्बन्ध में इन बातों को उन्होंने लिखा है —

> कारण देवप्रसाद जिहि, सबित कहत सब कोइ।
> बितपत और अभ्यास मिलि, त्रय बिन काव्य न होइ॥

देवप्रसाद या प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, ये तीन बातें काव्य की उत्पत्ति की कारणस्वरूप हैं। इसको और अधिक स्पष्ट कहते हुए वे कहते हैं —

> जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन।
> तबही तरु उपजै सुन्यों, इनते कविता आन॥

'बितपत' का अर्थ व्युत्पत्ति या शास्त्रज्ञान है, अत सूरति के विचारानुसार प्रतिभा, फिर शास्त्रीय ज्ञान और इनके उपरान्त अभ्यास तीनों का ही क्रमश: महत्व है। एक

१ टीकमगढ़ में लेखक-द्वारा देखी प्रति के आधार पर।

की भी कमी होने पर काव्य नहीं हो सकता है। काव्य प्रयोजन को ये औरों की भाँति ही मनोरंजन, अशुभ का नाश, यश और धन आदि की प्राप्ति में बताते हैं। इसके पश्चात् ये कहते हैं कि काव्य का रूप शब्द, अर्थ, गुण, दोष, रस और अलंकार आदि के द्वारा निश्चय होता है। अतः इन्हीं का ये क्रमशः वर्णन करते हैं। शब्द तीन प्रकार का—वाचक, लक्षक और व्यंजक होता है और उससे निर्गत अर्थ वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य होते हैं। यह विवेचना 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर है। आगे भी ये ध्वनि या व्यंग्य को काव्य का प्रमुख अंग मानते हुए उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों का वर्णन करते हैं। अधम काव्य में व्यंग्य कुछ भी नहीं रहता, अतः इसके अन्तर्गत चित्र, अनुप्रास आदि आते हैं।

तत्पश्चात् दोषों का वर्णन है। जिन दोषों को सूरति ने लिया है वे अश्लील, जुगुप्सा, व्रीड़ा, अमंगल, श्रुतिकटुत्व, दुस्संधान, हीनरस, ग्राम्यत्व, पगु, मृतक, संदिग्ध, क्लिष्ट, पुनरुक्त, निरर्थक, अधिक न्यून पद, क्रमहीन, यतिभंग, असमर्थ, विरोधी आदि हैं। इन दोषों का दूर करने के उपाय 'दोषांकुश' शीर्षक के अन्तर्गत दिए हैं। गुणों में ये तीन गुणों को ही लेते हैं—प्रसाद, ओज और माधुर्य और उसके पश्चात् संक्षेप में रस और उसके अंगों का वर्णन करते हैं। औरों की भाँति सूरति ने शृंगार-रस का अधिक विवरण नहीं दिया, वरन् सबका एक सा ही विवेचन है और सभी को बराबर महत्त्व दिया है।

अलंकारों के वर्णन को लक्षण में भी अधिक स्पष्ट और पूर्ण बनाने का प्रयत्न है, केवल उदाहरण भरने का ही नहीं। इससे सूरति का उद्देश्य काव्य-शास्त्र का विवेचन कवि के रूप में नहीं, वरन् आचार्य के रूप में करने का जान पड़ता है।

'काव्य सिद्धान्त' के अन्त में छन्दों का वर्णन है जिसमें अनेक विभिन्न प्रकार के मात्रिक और वर्णिक छन्दों का पूर्ण रीति से विवेचन है। इस प्रकार काव्य-शास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डालने के कारण सूरति की गणना हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रधान आचार्यों में होती है।

कृष्ण भट्ट की 'शृंगाररस माधुरी'

कृष्णभट्ट देवऋषि का सं० १७६६ की लिखी हुई 'शृंगाररस माधुरी',[१] रस और विशेष रूप से नायिका भेद पर लिखी पुस्तक है। वह विंदमतीपुर के महाराज बुद्धसिंह देव के

---

१ याज्ञिक संग्रहालय से देखी प्रति के आधार पर

लिये रची गई थी। यह 'रसिकप्रिया' की भाँति रसों पर पुस्तक है। संयोग और वियोग का दोनों भेदों—प्रच्छन्न और प्रकाश में वर्णन किया गया है। कवि ने कहीं-कहीं 'लाल' उपनाम का भी प्रयोग किया है विभाव के अन्तर्गत नायिका-नायक-भेदों का वर्णन है और उनमें भी अधिक दशाओं का प्रच्छन्न और प्रकाश दो रूपों में वर्णन है। सखी के वर्णन में अनेक प्रकार की स्त्रियों का वर्णन है जैसे—नाइन, नटिन, परोसिन आदि, जैसा कि देव ने किया है। अन्त में हास्य, करुणा आदि रसों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। पन्द्रहवें स्वाद में वृत्तियों का भी वर्णन है। यह ग्रंथ १६ स्वादों में पूर्ण है। अधिकांश उदाहरण बहुत अच्छे हैं और काव्य की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट हैं। इन्होंने शृंगार की प्रतिष्ठा 'महारस' के रूप में की है। देवऋषि निस्सन्देह प्रतिभा सपन्न कवि थे।

गोप कवि

गोप कवि ओरछा नरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रय में थे। मिश्रबन्धुओं ने इनका रचनाकाल सं० १७७३ दिया है और इनका ग्रन्थ रामालंकार ही लिखा है तथा उसका भी अन्य कोई विवरण नहीं दिया, किन्तु लेखक ने दतिया राजपुस्तकालय में इनका बनाया ग्रन्थ 'रामचन्द्र भूषण' और टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय (ओरछा) में 'रामचन्द्र भूषण' और 'रामचन्द्राभरण' नामक दो ग्रन्थ देखे हैं।

रामचन्द्र भूषण

यह अलंकारों का ग्रंथ है। दोहों में ही उनके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। प्रथमार्द्ध में अलंकार के लक्षण और द्वितीयार्द्ध में उदाहरण हैं और उदाहरण राम के चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं। पहले अर्थालंकारों का और बाद में शब्दालंकारों का वर्णन है। उदाहरण स्पष्ट और लक्षण संक्षेप में दिये गये हैं। इनके विचार से शब्दों और अर्थों की रुचिर रचना अलंकार है, जिनका प्रादुर्भाव भाव, रस और गुणों के सौन्दर्य से होता है। अलंकार की इस रूप में परिभाषा यथार्थत अलंकार के महत्व को बढ़ाने वाली है। देखिये —

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सों जान।
भाव भेद गुन रूप ले, प्रगट होत है आन॥

अलंकारों का वैसे तो वर्णन पुरानी परिपाटी पर ही है, पर स्वाभावोक्ति के उन्होंने

---

१ देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग २, पृ० ६१२ (१९८४ संस्करण)
,, , २ पृ० ९०६-९०८ ,, ,,

चार भेद जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर किये हैं। यह वर्णन मानो कुवलयानन्द के सामान्यालंकार का सा है। केशव के वर्णन से यह अधिक स्वाभाविक है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'रामचन्द्राभरण' भी 'रामचन्द्र भूषण' के ही समान है। लक्षणों में तो समानता है ही, वर्णन-क्रम और उदाहरणों में भी साम्य है। इनके उदाहरणों में कवित्त, सवैया और छप्पय छन्दों का प्रयोग है और ये अधिकतर सुन्दर बन पड़े हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने अपनी वंशावली दी है और यह भी दिया है कि यह ग्रन्थ ओरछा-नरेश पृथ्वीसिंह के आश्रय में रचा गया ग्रन्थ है।

याकूब खां का 'रसभूषण'

मिश्रबन्धु विनोद[1] के अनुसार सं० १७७५ का लिखा याकूबखाँ का 'रसभूषण'[2] ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें अलंकार व नायिकाभेद के लक्षण और उदाहरण साथ साथ चलते हैं। अपने वर्णन-क्रम के विषय में प्रारम्भ में ही कवि ने कह दिया है :—

अलंकार संयुक्त, कहौं नायिका भेद पुनि।
बरनौं क्रम निजु उक्ति, लच्छन और उदाहरनि॥

अब इसका कारण देते हुए वे कहते हैं कि कोई भी नायिका बिना आभूषणों के शोभित नहीं होती है अतः जब नायिका भेद वर्णन करना है तो अलंकार अवश्य रहना चाहिए[3]। अतः सबसे पहले पूर्णोपमा और नायिका को एक साथ लेते हुए वे कहते हैं :

पूरन उपमा जानि, चारि पदारथ होइ जिहि।
ताहि नायिका मानि, रूपवन्त सुन्दर सुछवि॥
उदाहरण—हैं कर कोमल कज से, ससि सी दुति मुख मैन।
कुन्दन रंग पिक बचन से, मधुरे जाके बैन॥

इसमें तीन पूर्णोपमायें हैं और वर्णन नायिका का है। दूसरे छन्द में लुप्तोपमा और स्वकीया को एक साथ लेकर उदाहरण में कहते हैं :—

कोकिल सी ऐसी मद्दू, मधुरे तेरे बैन।
लाज बानि तोमें लखी, है को मैक लखै न॥

---

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ० ६१२

२ दतिया राजपुस्तकालय में लेखक—द्वारा देखी प्रति के आधार पर।

३ अलंकार बिनु नायिका, सोभित होइ न मान।
अलंकारयुत नायिका, याते कहीं बखानि॥

इस लुप्तोपमा को याकूबखाँ टीका में स्पष्ट करते हैं—"कोकिल के बचन तें बचन की उपमा दियों कोकिल के बचन से बचन कहे, कोकल से बचन कहे ताते उपमा लुप्ता है।" इस प्रकार वे एक अलंकार और एक नायिका-भेद का लक्षण एक साथ लेते चलते हैं। टीका का प्रयोग बहुत नहीं किया गया है जहाँ पर लक्षण में कुछ अस्पष्टता रह गई है वहीं पर टीका लिखी गयी है। पुस्तक भर में दोहा और सोरठा छन्दों का प्रयोग किया गया है। नायिका-भेद और अलंकारों के किसी मार्गविशेष-द्वारा लक्षण और उदाहरण देने में बड़ी विद्वत्ता और कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। इसका महत्व इसी प्रकार का है जैसे कि व्यंग्यार्थकौमुदी आदि का। इसी 'रस भूषण' के आधार पर सं० १८६६ में शिवप्रसाद ने भी 'रस भूषण' लिखा, जो साधारण पुस्तक है। 'रस भूषण' के अन्तर्गत याकूब खाँ ने रस, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि का भी वर्णन किया है। रस के सभी भेद पूर्णरीति से वर्णित है। हास्य रस का वर्णन नितान्त हिन्दी का सा ही जान पड़ता है संस्कृत से लिया हुआ सा नहीं। ऐसा जान पड़ता है इसका आधार हिन्दी के ग्रन्थ हैं संस्कृत के नहीं। हास्य के मृदु हास, मद हास, अतिहास, अट्टहास प्रकार हैं, वर्णन क्रम में रौद्र के साथ भावोदय[1], वीर के साथ भावसंधि और भावशबलता और अद्भुत के साथ यमकालंकार का वर्णन है। वर्णन का यह सम्मिश्रण स्वाभाविक और प्रभावकारी है। कौन अलंकार किस रस के साथ अधिक उपयुक्त है, इस पर भी प्रकाश पड़ता है। अन्त में परुषा, उपनागरिका और कोमला वृत्तियों का वर्णन है। ग्रन्थ के अन्त में अपने वर्णन-क्रम पर एक टिप्पणी देते हुए याकूब खाँ लिखते हैं "या ग्रन्थ के विषे उदाहरन में भूषन के क्रम ते पहली तुक में तौ अलंकार बरन्यो है और दूसरी तुक में नायिका भेद है। दोनों ही तुक में अलंकार को निर्वाह न जानिए। एक ही तुक में है।" इस प्रकार वर्णन प्रणाली के विचार से इसमें नवीनता है परन्तु अन्यथा इसमें विवेचन की गहराई नहीं है।

कुमारमणि भट्ट

ये वत्सगोत्री तैलंग ब्राह्मण हरिवल्लभ जी के पुत्र थे कि जो सप्तशतीकार गोवर्द्धनाचार्य के छोटेभाई बलभद्र जी की छठवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए। कुमारमणि भट्ट संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और कवि भी। इनका लिखा 'रसिक रसाल'[2] काव्यशास्त्र

---

१ भावोदय है सोय, उदित दसा जो भाव की।
जानौ रुद्र जु होय, सोऊ कोप मन में अधिक॥
नवल वधू की रूप लखि, सौति गिरी मुरझाइ।
सतरौंहीं भौंहें करी, तिरछी लखी रिसाइ॥

२ टीकमगढ़ में देखी प्रति के आधार पर। इनका यह ग्रन्थ छप भी चुका है।

का अच्छा ग्रंथ है। यह 'काव्यप्रकाश' के आधार पर है, जैसा कि आगे के कथन से स्पष्ट है —

काव्य प्रकाश विचारि कछु, रचि भाषा में हाल।
पंडित सुकवि कुमारमणि, कीन्हो रसिक रसाल॥

'रसिक रसाल' का रचना काल सं० १७७६ है जो नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है —

रस सागर रवि तुरग विधु, संवत मधुर बसन्त।
विकस्यो रसिक रसाल शुभि, हुलसत सहृदय सन्त॥

'रसिक रसाल' के प्रथम अध्याय में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर ही काव्य प्रयोजन काव्य कारण, ध्वनि, उत्तम मध्यम और अधम काव्य आदि का वर्णन है। उसके पश्चात् उत्तम काव्य भेद, शब्दशक्ति, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ आदि पर सुन्दर और रोचक उदाहरण-द्वारा स्पष्टरीति से विचार किया गया है। 'वक्ता के विषय से व्यंजना' के उदाहरण में एक छन्द देखिए —

सोंहि गई सुनि कृष्ण कलिन्दी के डीठि गई सुनि हेलि हमारी।
भूली अकेली कहूँ बरपी मग में सखि कुंजन पुंज अन्धारी॥
गागर के जल के छलके घर आवत, क्यों सम भीगि गो भारी।
कम्पत आसन मेरी बिसासिनि मेरी उसास रहे न सम्हारी॥

इसकी व्याख्या करते हुए ये कहते हैं —"इहाँ वक्ता के विशेष तें स्वेद कंप उसास प्रभृत रति कार्य दुराइवो व्यंग है" इस प्रकार उनकी छोटी व्याख्यायें विषय को और भी स्पष्ट कर देती हैं। अधिक स्थलों पर ये लक्षण न देकर केवल उदाहरण देते हैं, किन्तु अन्त में गद्य में व्याख्या करके उसे और स्पष्ट कर देते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि विषय विवेचन और काव्य के सौन्दर्य दोनों ही को समझाना उनका यथार्थ उद्देश्य है।

कुमारमणि, वियोग शृंगार का सर्व प्रथम तीन प्रकारों में विभाजित करते हैं वर्तमान, भूत और भविष्यत् और फिर प्रवास कल्पनात्मिका, मान तथा पूर्वानुराग और दश अवस्थाओं आदि का वर्णन है। इसके पश्चात् रस का वर्णन है और एक अलग अध्याय में स्थायी भावों का वर्णन है। कुमार मणि, दश रसों का विवरण देते हैं और वात्सल्य को दसवाँ रस मानते हैं। भाव-विभाव आदि का वर्णन सामान्य ढंग पर है। नायिका भेद में मध्या का वयःसन्धि वर्णन तथा प्रौढ़ा के अवस्था और प्रवृति के अनुसार कुछ नये नामों जैसे उन्नत यौवना, नवलवना, लघुलज्जा आदि शब्दों का प्रयोग किया

गया है। इसके पश्चात् अलंकारों का भी वर्णन है जिन्हें बाद में रखी व्याख्या से वे स्पष्ट करते हैं। सबसे अन्त में गुण और दोषों का वर्णन है। इस प्रकार 'रसिक रसाल' में लगभग सभी काव्यांगों पर विवेचन है और इसे हम अच्छे ग्रन्थों के अन्तर्गत रख सकते हैं। समझाने का सुन्दर प्रयत्न इस ग्रन्थ से हम मिलता है।

आचार्य श्रीपति

आचार्य श्रीपति की गणना काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों में है। इन्होंने कई ग्रंथों का निर्माण किया जैसे 'कविकुलकल्पद्रुम' 'रससागर' 'अनुप्रास विनोद' 'विक्रम विलास' 'सरोज कलिका' 'अलंकार गंगा' तथा 'काव्य सरोज'। 'काव्य सरोज' इनका सबसे अधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में दोषों का विवेचन, विस्तृत और स्वतंत्र रीति से किया है और दोषों के उदाहरणों में बहुत से केशव के पद्यों को ढूँढकर रक्खा है[1]। केशव ही नहीं अन्य कवियों और लेखकों के दोषों का भी वर्णन है। 'काव्य सरोज' या 'श्रीपति सरोज' में काव्यशास्त्र के विषयों का सुन्दर और स्पष्ट विवेचन है। इनकी प्रौढ़ता और महत्व इसी से स्पष्ट है जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार है कि आचार्य भिखारी दास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में बहुत सी बातें श्रीपति के 'काव्यसरोज' की अपना ली हैं[2]। प्रत्येक बात से उनकी विद्वता टपकती है।

काव्य-सरोज

'काव्य-सरोज' की रचना सं० १७७७ वि० सावन कृष्ण ५ बुधवार को हुई थी। श्रीपति काल्पी नगर के रहने वाले ब्राह्मण थे जैसा कि उनकी नीचे लिखी पंक्तियों से पता चलता है —

> संवत मुनि मुनि मुनि ससी सावन सुभ बुधवार।
> असित पचमी को लियो, ललित ग्रन्थ अवतार॥ १४
> सुकवि कालपी नगर को द्विज मनि श्रीपति राइ।
> अस रसस्वाद अहान कों बरनत सुप समुदाय॥ १-२

---

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ५१८-१९ (१८१४ संस्करण)

२ देखिये रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२८ (सं० १९९७ संस्करण)

३ पं० कृष्णविहारी मिश्र के पुस्तकालय से उनके सुपुत्र श्री ब्रजकिशोर मिश्र द्वारा प्राप्त प्रति के आधार पर यह विवेचन है।

'काव्य-सरोज' काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। काव्य का लक्षण बताते हुए श्रीपति कहते हैं कि दोषहीन तथा गुण अलंकार-रस से युक्त शब्दार्थ काव्य है।[1] और इसका प्रस्फुटन शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिमा से होता है। इनमें से प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार की है। शक्ति वह पुण्य विशेष है जिसके बिना कवित्व नहीं होता और उसके बिना यदि कोई हठपूर्वक कविता की रचना करता है तो वह हठी कहलाता है और हँसी का पात्र होता है। जिस बल से पद और उसका अर्थ कवि को सहज प्राप्त हो जाता है उसे निपुणता कहते हैं। संसार का जो व्यवहार है, वही लोकमत होता है। अनेक शास्त्रों का ज्ञान व्युत्पत्ति कहलाता है और किसी सत्कवि के पास नित्य कविता करना अभ्यास है। नवीन तर्क, सुन्दर पदों और युक्ति की सूझ प्रदान करनेवाली शक्ति प्रतिमा है।[2] उपर्युक्त छः बातों से शक्ति, निपुणता और प्रतिमा में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। इसीलिए प्रायः अन्य आचार्यों ने प्रतिमा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही लिया है। श्रीपति की काव्य-परिभाषा और काव्य कारण विवेचन का अधिकांश आधार 'काव्यप्रकाश' है।

इसके पश्चात् त्रिविध कविता का वर्णन है, उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम वह है जिसमें वाच्य से व्यंग्य अधिक बढ़कर रहता है, गुणीभूत व्यंग्य में वाच्य

---

१ शब्द अर्थ बिन दोष गुन, अलंकार रसवान।
ताकों काव्य बखानिये, श्रीपति परम सुजान॥
—काव्यसरोज, दल १

२ शक्ति निपुणता लोकमत, बिउपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत हैं, ताकों ललित प्रकास॥ ७
शक्ति सुपुण्य विशेष है, जा बिन कवित न होइ।
जो कोऊ हठ सो रचै, हँसी करै कवि लोइ॥ ८
पद पदार्थ पावै सुरस, ताहि निपुनता जानु।
जो सब कों व्यवहार है, वही लोकमत मानु॥ ९
परिज्ञान बहु सास्त्र मैं सो बिउपत्ति बखान।
रचै कवित नित सुकवि ढिग सों अभ्यास प्रमान॥ १०
नूतन तर्क प्रसन्न पद, युक्ति बोध करतार।
प्रतिभा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति अगार॥ ११
—काव्यसरोज, प्रथम दल

प्रधान रहता है और प्रथम वह काव्य है, जिसमें शब्दचित्र और वाच्यचित्र होते हैं और व्यंग्य नहीं रहता है।[1] द्वितीय दल में शब्द निरूपण है जिसमें शब्द के तीन भेदों—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि का वर्णन है। तृतीय दल में अर्थ का विवरण है। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बाद लक्षणा के छः भेदों का वर्णन किया गया है और इसी प्रकार व्यंजना का। यह विवरण मुख्यतया 'काव्यप्रकाश' के ही आधार पर दिया गया है।

चतुर्थ दल में दोषों का वर्णन है। 'काव्यसरोज' का यह वर्णन अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं के उदाहरण लेकर दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। दोषों की परिभाषा करते हुए श्रीपति कहते हैं —

> जा पदार्थ के दोष ते, चाहे कवित्त नसाइ।
> दूषन तासों कहत हैं, श्रीपति पंडित राइ॥ १

दोष दो प्रकार का है, शब्द और अर्थ। शब्द-दोष के अन्तर्गत श्रुतिकटु, अनर्थक, व्याहताथ, यतिभंग, अप्रयुक्त, असमर्थ शिथिल, ग्राम्य, असंगत, मापाच्युत, अश्लील, प्रतिकूल आदि हैं। उदाहरणार्थ, अनर्थक का वर्णन इस प्रकार है—

> जिमि आखर बिन कवित को, मुख्य अर्थ न नसाय।
> ताहि अनर्थक कहत हैं, श्रीपति पंडित राय॥

इसके उदाहरण-स्वरूप नीचे का कवित्त देखने योग्य है —

> जमुना जल तीर जुरी जुवती घन के ढिग बीजुरी सी भरकैं।
> कवि 'केहरि' नेक चितै चहुँओर लियो हरि हेरि हियो हरिकै॥
> तन चम्पकली सी भली जु चलीं वृषभान सखी सों भली रसिकै।
> झट भृकुटि दिखाय गरै अलसाय घरै तित घाय जितै रसकै॥
> यामे जल शब्द अनर्थी।

इन्हीं दोषों के बीच गणागण का भी वर्णन है जो कि इस प्रसंग के बीच बीच अनुचित सा जान पड़ता है। अनर्थक दोष के बाद गणागण और उसके पश्चात् श्रुतिकटु दोष के भीतर केशवदास की 'रसिकप्रिया' का "कानन करेंगे रस नैनन के दोलों संग" वाला छन्द रखा है। अभ्र शब्द को श्रुतिकटु बताया है। यतिभंग में भी पुन 'रसिकप्रिया' का छन्द ही लिया है।

---

[1] काव्य सरोज, प्रथम दल १३, १४, १०

अप्रयुक्त दोष वहाँ होता है जहाँ व्याकरण से शुद्ध, पर प्रयोग में न आने वाला अर्थ प्रयुक्त होता है। जैसे कुंच, फरा के अर्थ में नीति के छन्द में आया है —

'प्रति लोचे सब कुच हैं लदकारे सकुमार।'

इसी प्रकार असमर्थ में 'रसिकप्रिया', और शिथिल में 'कविप्रिया' के छन्दों को लेकर दोषों का रूपक किया गया है। 'उपहति' दोष वहाँ माना है जहाँ पर सन्धि करने से अक्षर अर्थ देवें। इस दोष में 'ब्रह्म' कवि का कवित्त है —

' काम कलाधिक राधिका आधिक राति हौं काम की बेलि बनाई।
कामु से कान्हर साह गये कर दे कुच पै रति काम की नाई॥
मंजु बराइ की मूदरी में मन की अति ज्योति अनूप सुहाइ।
देखन को पिय को तिय के हिय की अंखियाँ जनु बाहेर आई॥' ४-२१

इसमें 'कलाधिक' शब्द में दोष माना गया है।

'ग्राम्य' दोषों के तीन भेद हैं —लघुग्राम्य, महाग्राम्य और अतिग्राम्य। भाषाच्युत के भी तीन भेद हैं, लघुभाषाच्युत वह है जिसमें अन्तर्वेद की भाषा मिल जाय, मध्यम भाषाच्युत जिसमें ब्रजभाषा में सुरभाषा मिलजाय और गुरुभाषाच्युत वहाँ होता है जहाँ पर यवन भाषा का मेल हो। इससे स्पष्ट है कि उस समय भाषा की शुद्धि पर भी काफी ध्यान विद्वानों का था।

पंचम दल में अर्थ-दोषों का वर्णन है। श्रीपति ग्रन्थ वर्द्धन के भय से अधिक दोषों का वर्णन नहीं करते केवल बारह अर्थ-दोषों का ही वर्णन किया है जो ये हैं —दुष्क्रम, खण्डित, असंमितमान, वस्तुखविधि, संदिग्ध, दुष्टवाक्य, अपक्रम, अगत, विरस, पुनरुक्ति, हीनोपमा, अधिकोपमा। काल-विरोधी पदों में सेनापति के 'सरस सुधारी राजमंदिर की फुलवारी' वाले पद में 'मोर करै शोर' वर्णन चैत में काल विरुद्ध माना गया है। इसी प्रकार 'लसत कुटज चंपक' वाले पद में वसंत में कुटज का फूलना, कालविरुद्ध है क्योंकि कुटज वर्षा में फूलता है। ऐसे ही 'अपक्रम' के उदाहरण में भी सेनापति के पद 'सेनापति कविता की [illegible] विलसत है' में 'कविता की कविताई' को दोषपूर्ण माना है, क्योंकि कविता की [illegible] प्रयोग श्रीपति की दृष्टि में [illegible] नहीं है। परन्तु यहाँ पर अर्थ [illegible] वरन् 'सेनापति कवि [illegible] विलसत [illegible] स्पष्ट [illegible]।

छन्द

लिए गए हैं। 'काव्य-सरोज' में श्रीपति ने संक्षेप में दोषों का वर्णन किया है, साथ साथ इसमें इस बात का भी उल्लेख है कि इन्होंने अपने 'कविकल्पद्रुम' ग्रन्थ में इनका अधिक विस्तार से वर्णन किया है। इनके वर्णन से यह भी ज्ञात पड़ता है कि इनका एक ग्रन्थ 'रससागर' भी इसके पहले की रचना है क्योंकि इसके भी उदाहरण श्रीपति के नाम से हैं।

आठवें और नवें दलों में काव्य-गुणों का वर्णन है। इसके अन्तर्गत अर्थगुणों का अलग वर्णन हुआ है। दशम दल में अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए श्रीपति लिखते हैं —

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, बनिता कविता रूप॥

श्रीपति के विचार से जिसमें चमत्कार बढ़े, वही अलंकार है। दसवें दल में शब्दालंकारों, ग्यारहवें में अर्थालंकारों तथा बारहवें दल में उपमालंकारों का वर्णन है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत तत्पर और अतत्परविधान-चित्र नामक नवीन अलंकारों का वर्णन किया गया है, पर इनके लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। अर्थालंकारों के प्रसंग में श्रीपति लिखते हैं कि 'कविकल्पद्रुम में' मैंने ४ प्रकार की उपमा का वर्णन किया है, पर 'काव्यसरोज' में आगे लिखी उपमाओं का ही उल्लेख है —उपमेयोपमा, प्रतीपोपमा, प्रकारोपमा, वाक्योपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, नियमोपमा, निश्चयोपमा, संशयोपमा, अमूर्तोपमा, ललितोपमा। इसमें उपमा के अतिरिक्त प्रतीप, सन्देह, निश्चय आदि अलंकार भी हैं। अलंकारों का वर्णन अधिक स्पष्ट नहीं है। यद्यपि वर्गीकरण और निरूपण के ढंग में आचार्यत्व का गुण अवश्य है।

तेरहवें दल में रस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए श्रीपति कहते हैं:—

"जदपि दोष बिनु गुन सहित अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छवि नहीं रस बिन तदपि प्रवीन॥"[1]

इससे स्पष्ट है कि श्रीपति काव्य के अनेक अंगों में सभी को आवश्यक मानते हैं पर रस को अधिक महत्व देते हैं। रसों के कारण-स्वरूप भाव को मानते हुए श्रीपति कहते हैं कि कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती, अतः कवि-गण पहले कारणों का ही वर्णन करते हैं। भरत के मतानुसार इसके कारण भाव हैं अतः भावों का ही सबसे पहिले वर्णन है। रस

---

1 काव्य सरोज १३ दल, प्रथम छन्द

काव्यलिंग, अर्थान्तर न्यास, ललित, अनुज्ञा, रत्नावलि, गूढ़ोत्तर भाविक,उदात्त, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, दृष्टान्त, प्रस्तुतांकुर, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, असंगति, सम, विचित्र, व्याघात, प्रत्यनीक तथा अनुप्रास आदि। इनके बीच जहाँ कहीं अन्य आवश्यक शब्दों को अलंकार के समझने में आवश्यकता होती है उनको भी ये स्पष्ट करते चलते हैं जैसे उपमेय उपमान को उपमा में, विशेष्य विशेषण को परिकर-परिकरांकुर में, वाक्य और पद को प्रतिवस्तूपमा आदि में। इस प्रकार 'अलंकार चन्द्रोदय' में अलंकारों का अच्छा वर्णन है और 'कुवलयानन्द' के आधार पर समझाने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है।

इसी समय के आस पास श्रीधर के 'नायिका भेद' और 'चित्रकाव्य', लाल का 'विष्णु विलास' नामक बरवै में लिखा नायिका भेद, कुन्दन बुन्देलखंडी का नायिका भेद', केशवराय के 'नायिका भेद' और 'रस ललिता', गोदूराम का 'रस भूषण' और 'दश रूपक' बेनीप्रसाद का 'रस शृंगार समुद्र', रसराम के 'रस दीपक' नायिका दीपक' प्रभृति ग्रन्थ साधारण कोटि के लिखे गये। इसके अतिरिक्त गजन का[1] 'कमरुद्दीन खाँ हुलास', भाव भेद और रस भेद का कवित्तपूर्ण ग्रन्थ है, भूपति के 'कंठाभूषण' और 'रस रत्नाकर' अलकार और रस पर लिखे गये ग्रन्थ हैं, बीर की 'कृष्णचन्द्रिका'[2] भाव भेद व रस भेद पर अच्छा ग्रन्थ है तथा यशोधर और दलपति राय के 'अलकार[3] रत्नाकर' ग्रन्थ 'भाषा भूषण के आधार पर रचे गये ग्रन्थ हैं। ये सब साधारण महत्व के ही हैं।

सोमनाथ का 'रसपीयूषनिधि'

सोमनाथ मिश्र, गंगाधर के छोटे भाई और नीलकंठ मिश्र के पुत्र थे। ये जयपुर नरेश महाराज रामसिंह के मंत्रगुरु और छिरोरा वंश के माथुर ब्राह्मण नरोत्तम मिश्र के वंश धरों में से थे।[4] इन्होंने व्रज (भरतपुर) के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के लिये 'रसपीयूष-निधि'[5] नामक ग्रन्थ बनाया था जैसा कि आगे लिखे दोहे स्पष्ट है —

---

१ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३११

२ ,, 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, पृ० ६०५

३ ,, शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३११ ३१०

४ देखिये मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, पृ० ६१७, ६४८, ६४४

,, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४१।

५. यह मयाशंकर याज्ञिक संग्रहालय से डा० भवानीशंकर के सौजन्य से प्राप्त एक पूर्ण और दूसरी खंडित प्रति के आधार पर लिखा गया विवरण है।

कही कुँवर परताप ने, सभा मध्य सुख पाय।
सोमनाथ हमको सरस, पोथी देउ बनाय॥

और इस प्रकार 'रसपीयूष निधि' की रचना संवत् १७९४ वि० में हुई जैसा कि ग्रंथ के अन्त की निम्नांकित पंक्तियों से प्रकट है —

सत्रह सै चौरानवे, सुवत जेठ सुमास।
कृष्ण पक्ष दसमी भृगौ, भयो ग्रन्थ परकास॥

यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध और पूर्ण ग्रन्थों में से है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है —"इन्होंने सवत् १७९४ में 'रसपीयूष निधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दास जी के काव्यनिर्णय से बड़ा ग्रन्थ है। काव्यांग-निरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।"[1] इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं ने भी इस ग्रन्थ की बड़ी प्रशंसा की है। सबसे पहले के पाँच तरंगों में मात्रिक और वर्णिक छन्दों का वर्णन है। पश्चात् पिंगल की वन्दना[2] करके ये गुरुलघु मात्रा, गण, अगण, देवता, गणों के शुभाशुभ विचार आदि पर विवेचन करते हैं अनेक मात्राओं और वर्णों के मिलान से अनेक छन्दों का वर्णन है। उसके पश्चात् सोमनाथ ६ वीं तरंग में कवित्त की परिभाषा यों देते हैं —

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिङ्गल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध॥

इससे यह स्पष्ट है कि सोमनाथ दोष हीन, छन्दोबद्ध, गुण, अर्थ, अलङ्कार से युक्त पद को कविता मानते हैं। यह अधिकांश मम्मट के आधार पर है। पर यहाँ एक बात यह विशेष है कि मम्मट के 'सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' को न मानकर, इन्होंने अलङ्कार युत ही कहा है। अलंकार से हीन भी कविता हो सकती है, इस बात पर जोर हिन्दी के किसी भी आचार्य ने नहीं दिया है यद्यपि विवेचन-पद्धति से यह स्पष्ट है कि वे इस बात को मानते हैं।

काव्य प्रयोजन को बतलाते हुए सोमनाथ कहते हैं कि कविता यश, धन, आनन्द

---

1 देखिये 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३४१

2 'जय फनिन्द पिङ्गल सदा सब जग के सुखदाय'

और मंगल के लिए होती है। काव्य का प्राण 'काव्यप्रकाश' तथा 'ध्वन्यालोक' के अनुसार ये भी व्यंग्य ही मानते हैं। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ, गुण उसकी शोभा और दोष दोष है —

> ध्वनि प्राण अरु अंग सब, शब्द अरथ पहिचानि।
> दोष और गुण अलंकृत, दूषणादि उर आनि॥

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि सोमनाथ अपने उदाहरणों के पश्चात् अपनी गद्य व्याख्या में उदाहरणों का स्पष्ट कर लक्षण को समझाते हैं। वे व्यंग्य-युक्त काव्य को उदाहरण द्वारा यों समझाते हैं —

> फूल निरखि रसाल पथ, दोनों विरह सहाय।
> पियरानी तिय बदन पर, लसी भरवाई आय॥

"यहाँ फूल रसाल करिके बसन्त की अवधि ध्वनि है ताके आगम ते उत्साह ध्वनि है" सोमनाथ ध्वनि सिद्धान्त के अनुयायियों में से थे और व्यंग्य ही कविता का प्राण मानते थे। अतः वे वाचक, लक्षक, व्यंजक, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ और अभिधा, लक्षणा, व्यंजना के लक्षण और उदाहरण देते हैं।

सातवीं तरंग में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर सोमनाथ ध्वनि का विवेचन करते हैं। लक्षणा-मूला और अभिधा-मूला, पुनः उनके भेद अर्थांतरसंक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत तथा असंलक्ष्यक्रम, संलक्ष्यक्रम व्यंग्य आदि ध्वनियों का वर्णन और व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि —

"अर्थ और वाच्यार्थ ध्वनि के लायक है जहाँ सो विवक्षित वाच्यध्वनि। ताके द्वै भेद। एक असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि और दूजो संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि। और असंलक्ष्य क्रम के भेद नव रस, पंचास भाव और रसाभास, भावाभास और रस की और भावन की शान्ति, सन्धि, शबलता उदय इति सौ भाव विधि कहत है' भावों का रसों का मूल निर्धारित करते हुए सोमनाथ, भाव को वासना रूप मानते हैं जो 'ध्वन्यालोक' और 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रंथों से सम्मत है। 'चित्तवृत्ति ही सों ठहराय भाव वासना रूप बताय" और उसके बाद बताते हैं कि जो विकार जब रस से स्वभावतः सम्बन्धित होता है तब भाव होता है, किन्तु भाव की परिभाषा रस के सम्बन्ध से देना अनुचित है क्योंकि रस को समझाना ही तो मुख्य उद्देश्य है। अतः यह इस प्रकार का सम्बन्ध केवल स्पष्टीकरण के लिए ही दिखलाया गया है। ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि विकार क्या है? इसके

उत्तर में सोमनाथ कहते हैं कि चित्त जब किन्हीं कारणों को पाकर एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है तब उन अवस्थाओं को विकार कहते हैं —

चित कछु हेतुहिं पाय जब, होइ और ते और।
ताको नाम बिकार कहि, बरणत कवि सिरमौर ॥

इनमें से जो विकार आनन्दोन्मुख होते हैं उनको भावों की संज्ञा मिलती है।

भाव दो प्रकार के हैं —आन्तर और शारीरिक। स्थायी और संचारी भाव आन्तर भाव हैं, यह तो सोमनाथ बताते हैं परन्तु शारीरिकों का कोई उल्लेख नहीं किन्तु यहाँ पर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि शारीरिक भाव अनुभाव ही हैं। पुनः भावों के चार प्रकार—विभाव, संचारी और स्थायी—कहते हुए वे सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखते हैं —

"सात्विक भाव जुदे सु यह, अनुभावनि में जानि।"

यहाँ पर यह बात स्पष्ट है कि देव के विचार से सोमनाथ सहमत नहीं हैं।

देव ने संचारी के ही दो भेद —मानसिक और कायिक करके सात्विक अनुभावों को कायिक संचारी भावों के अन्तर्गत रक्खा है और अनुभावों को बिल्कुल ही अलग कोटि में माना है किन्तु सोमनाथ का विचार भिन्न है। इसके पश्चात् विभावों का वर्णन आता है। विभाव रसविशेष के स्थायी भाव के कारण स्वरूप होते हैं वे दो प्रकार के हैं—आलम्बन और उद्दीपन। अनुभावों के लिए वे कहते हैं —

बिहँसि चितैबो रस बचन, सात्विक भाव जु और।
घुम्मनादि अनुभाव ए बरणत कवि सिरमौर ॥

आठ सात्विक और ३३ संचारी भावों के लक्षण देकर तत्पश्चात् स्थायीभाव को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं

नायक सब ही भाव को, टारे टरै न रूप ॥
तामों थाइ रूप कहि बरणत है कवि भूप ॥

इसके बाद फिर नवों स्थायी भावों के लक्षण बताते हैं। सोमनाथ के विचार से रति प्रिय से मिलने की चाह है जो कि उसके देखने, सुनने या सुमिरण करने से उत्पन्न होती है[१]।

---

१ इष्ट मिलन की चाह जो, रति समुझ सो मित्त।
दरसन ते कै श्रवण ते, कै सुमिरण ते चित्त ॥

'शाग' की भी इसी प्रकार का परिभाषा दे रहे हैं। 'शोक' के सम्बन्ध में वे कहते हैं प्रिय के बिछुड़ने या विरक्ति में पड़ने से यह भाव तब उत्पन्न होता है जब कि मिलन की कोई आशा नहीं रहती है। सम्भव है यहाँ पर सभी सहमत न हों, पर यह शोक भी है यथार्थ अवस्था। इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों का बड़ी ही स्पष्टता के साथ समझाया गया है।

इसके बाद सोमनाथ रस विवेचन को लेते हैं। रस वहाँ होता है जहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव मिलकर स्थायी भाव की व्यंजना करते हैं। वे कहते हैं कि यह भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अनुसार है जैसा कि नीचे लिखे उद्धरण में स्पष्ट है —

"जहाँ विभाव अनुभाव सहित संचारी व्यंग कियो थिर भाव। इहि सो रस रूप बतान। भरत मत को लच्छन कह्यो"। किन्तु भरत के मत में स्थायी भाव व्यंग्य किया जाय ऐसा स्पष्ट नहीं। "विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः।" यह भरत का मत है इसके बाद वे अभिनवगुप्त पादाचार्य का मत देते हैं—

> सुनि कवित्त को मध्य सुधि, न रहे कछु और।
> होहि मगन यहि कवित में हिय के थायी भाव॥
> तासो कहत विभाव सब, समुझि रसिक कवि भाव।

यहाँ पर भी बात स्पष्ट नहीं है और अभिनव गुप्त का भी कोई मत विशेष लक्षित नहीं होता है। उसके पश्चात् विभाव, रस-स्वामी रस देवता आदि का वर्णन सातवीं तरंग में करते हैं।

आठवीं तरंग में शृंगार रस के संयोग व वियोग पक्षों का वर्णन है। इसका वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से स्पष्ट भाषा में मनोहारी उदाहरणों के साथ हुआ है। कवित्व और भाषा दोनों की दृष्टि से उदाहरण बड़े सुंदर हैं। इसी के अन्तर्गत नायिका भेद, पद्मिनी चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी, स्वकीया, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि के वर्णन भी हैं। नवीं तरंग में परकीया तथा दसवीं तरंग में मान और मानमोचनी तथा ग्यारहवीं और बारहवीं तरंग में अन्य आधारों पर नायिका-भेद, सखी दूती आदि के वर्णन हैं। तेरहवीं तरंग में नायक, सखा, अनुराग, चेष्टा आदि के तथा चौदहवीं तरंग में हावों के वर्णन हैं। संयोग शृंगार पर इतना कहने के बाद पन्द्रहवीं तरंग में वियोग शृंगार का वर्णन करते हैं। पूर्वानुराग की दस अवस्थाओं का वर्णन आगे लिखे ढंग पर करते हैं—

विप्रलम्भ को भेद पुनि सुनि पूरब अनुराग ।
है ताहो में दस दिसा बरनत सुकवि सुभाग ॥

इनके उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं । उद्वेग को लीजिए । उसका लक्षण है—

हाय सुखद हु दुखद सब, जहँ वियोग में थाय ।
सो उद्वेग दसा समुझि, बरनत हैं कविराय ॥

उदाहरण—

"सीतल बयारि तरवारि सी बढ़त तैसी, लहकनि बेलनि की सूल सरसन लागी ।
धरकत छाती घोर घन की गरज सुनि, दामिनि की दमक दवा सी दरसन लागी ॥
सोमनाथ यातै पै करतु कमनैती काम कौन बिधि जीवो री बिपति बरसन लागी ।
गेह पिय संग बरसत ही पियूष धार तेई अब घटा बिषधार बरसन लागी ॥

इस प्रकार शृंगार का वर्णन पूर्ण रूप से किया गया है ।

सत्रहवीं तरंग में अन्य रसों का वर्णन है । हास्य, करुणा रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, शान्त का लक्षण और उदाहरण के साथ वर्णन कर अन्त में संक्षेप में रसांगों को स्पष्ट करने के लिये वे गद्य व्याख्या भी देते हैं । उदाहरणार्थ देखिये करुणा रस का उदाहरण ।

काम की देह सरोस हिये हर लोचन ज्वाल बिसाल सों दागी ।
त्यों रति की तत ही परी दीठि सु भागनि दुःख दवागिन जागी ॥
बेर अनेक भरी उनसों तुम ऐसी करी प्रभु हूं अनुरागी ।
धारौ सिंगार उतारि सबै अँसुवा दृग पूरि बिसूरनि लागी ॥

इहाँ काम अरु रति आलंबन विभाव को जिवारिबो उद्दीपन विभाव भस्म होईबो और रति को बिसूरिबो अनुभाव और विषाद संचारी भाव इनते शाक्र स्थायी भाव तातें करुणा रस ।"

इसी प्रकार युद्धवीर और रौद्र रस का भेद बताते हुए सोमनाथ कहते हैं—"रुद्ररस में प्रधानता क्रोध की करिके झूठ उन्य वचन कहिबे को विचार नहीं और युद्ध वीर में आप समर्थता के वचन प्रधान हैं ।

इसके पश्चात् अठारहवीं तरंग में भावध्वनि और रसध्वनि का वर्णन है । [illegible] ही व कहते हैं कि जहाँ संचारी व्यंग्य होता है वहाँ पर भाव ध्वनि होता है । [illegible] भी व भाव ध्वनि के अन्तर्गत है । इस विषय में उदाहरण—जहाँ मरन है [illegible] ध्वनि है मरने और निर्वेद स्थायी भाव व्यंग हेतु [illegible]

ध्वनि ही क्यों न कहिए। रति निर्वेद ये सचारी हू हैं। या त अब याको उत्तर है जहाँ विभावादिकन सों पुष्टि होइ तहाँ रस ध्वनि और जहाँ साधारन होहि तहाँ भावध्वनि जानिय।" जहाँ रस और भाव अनुचित होते हैं वहाँ रसाभास व भावाभास होते हैं। भाव सधि, भाव शबलता आदि के उदाहरण बड़े ही स्पष्ट हैं। उसके पश्चात् सलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि आती है जिसका शब्द ध्वनि, अर्थ-ध्वनि और शब्दार्थ ध्वनि के अन्तर्गत वर्णन होता है। शब्द ध्वनि में या तो शब्द-द्वारा अलकार व्यग्य होगा या वस्तु व्यग्य होगी, अत यही दो उसके भेद हैं। वस्तु ध्वनि का उदाहरण देखिये—

"मूँदी ानि अँखियाँ अरुण, झलकत जावक भाल।
कहा बनावत बात अब, हम सब जानत हाल॥"

इसके बाद १२ प्रकार की अर्थ ध्वनि और शब्दार्थ ध्वनि का वर्णन कर ध्वनि या उत्तम काव्य के १८ प्रकारों का वर्णन सोमनाथ ने किया है।

उन्नीसवीं तरग में ८ प्रकार के गुणी भूतव्यग्य का वर्णन है। वह है—अगूढ़ व्यग्य अपराग व्यग्य, वाच्यसिद्धांग व्यग्य, अस्फुट व्यग्य, सन्देहप्रधान व्यग्य, अतुलप्रधान व्यग्य काकु व्यग्य, असुन्दर व्यग्य। यह सब वर्णन 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है।

बीसवीं तरग में दोषों के लक्षण और उदाहरण बड़े ही सुव्यवस्थित ढग से दिये हैं। इक्कीसवीं तरग म गुणों का वर्णन है। प्रसाद, माधुर्य, ओज तीन गुणों का तथा उनकी सामग्री का वर्णन है। उसके पश्चात् व ऐसे उदाहरण देते हैं जहाँ अलकार रस के सहायक होकर आते हैं और जहाँ सहायक होकर नहीं आते। और अन्त म बाइसवीं तरग में शब्दालकार, चित्रालकार और अर्थालकार का विशद वर्णन है। अलकारों का वर्णन सामान्य रीति पर है। लक्षण दोहों में और उदाहरण अन्य छन्दों में हैं। इसमें एक विशेषता यह और है कि किन्हीं अलकारों के विवेचन में अन्य सस्कृत आचार्यों के भी मत दे दिये गये हैं जैसे काव्यलिंग अलकार में। इस प्रकार बाइस तरगों में सोमनाथ कृत "रस पीयूषनिधि" नामक वृहत् ग्रथ पूर्णता के साथ समाप्त हुआ है। यह काव्य शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रथों में से एक है।

---

१ देखिये काव्य प्रकाश के गुणीभूत व्यंग्य के भेद।

"अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुंदरम्॥४५

—काव्यप्रकाश, पचम उल्लास

करन कवि कृत रसकल्लोल

करन कवि शिवसिंह सेंगर के अनुसार पन्नानरेश के यहां थे। ये श्रीधर के पुत्र थे और षटकल भरद्वाज वंशी पांडे थे। छत्रसाल की प्रशंसा करते हुए इन्होंने उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने वाला छन्द लिखा है जिससे इनका छत्रसाल के समय के कुछ आसपास का होना प्रमाणित होता है। हिन्दूपति की भी प्रशंसा के छन्द हैं। ये हिन्दूपति पन्ना नरेश और छत्रसाल के वंशजों में से थे। करनकवि का रचनाकाल सं० १७५७ है। अपने ग्रंथ 'रसकल्लोल' में इन्होंने समय का उल्लेख नहीं किया है। इसमें रस, गुण, ध्वनि, शब्दशक्ति, काव्यभेद, वृत्ति आदि का वर्णन हुआ है। रीति का वर्णन इन्होंने नहीं किया परन्तु लिखा है —

रीति चारिहू देस की, सो समास तें होइ।
भाषा में पावे न में बरनी, सुमति कवि सोइ ॥२२४

अधिकांश इनका आधार नाट्यशास्त्र है। भाव का लक्षण इन्होंने इस प्रकार दिया है—

रस अनुकूल विकार को, भाव कहत कवि गोत।
इक मानस सारीर इक, है विधि कहत उदोत ॥ ८

रस का लक्षण भी इनका इसी प्रकार का है —

भाव विभावनि करि सदा होत जु है परिपुष्ट।
ताही सों रस कहत हैं, रसविद् मनि सतुष्ट ॥ ३१

इसमें नायिकाभेद का वर्णन नहीं। ग्रंथ सामान्य महत्व का है।

गोविन्द का 'कर्णाभरण'

गोविन्द कवि कृत 'कर्णाभरण' सं० १७९७ की रचना है। रचना तिथि का निर्देश करने वाला इस ग्रंथ का अन्तिम दोहा इस प्रकार है—

मग निधि रिषि विधु बरष में, सावन सित तिथि सम्भु।
कीन्हों सुकवि गुविन्दजू, कर्णाभरण अरम्भु ॥ ३३८

यह पुस्तक भारत जीवन प्रेस में मुद्रित होकर सन् १८९४ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के अन्तर्गत दोहा छन्दों में ७० कारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। अधिकांश में दोहे के प्रथम अर्द्ध भाग में लक्षण और दूसरे अर्द्धभाग में उदाहरण

दिये गए हैं। यह 'भाषाभूषण' के ढंग से पुराना है, पर इसके लक्षण और उदाहरण उसमें अधिक स्पष्ट हैं। इसमें किसी टीका की आवश्यकता नहीं। यह 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर लिखी जान पड़ती है, पर उदाहरणों में मौलिकता है। उदाहरण छोटे, किन्तु शुद्ध और स्पष्ट हैं। भेदों सहित लगभग १८० अलङ्कारों का वर्णन है। कहीं कहीं अन्य लेखकों से नवीनता इनके वर्णन में पाई जाती है, जैसे रतप के भेद गाविन्द के अनुसार तीन—प्रस्तप्रस्तुत, प्रस्तुताप्रस्तुत और अप्रस्तुताप्रस्तुत हैं, ये शब्दों से निकलनेवाले प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत अर्थों के आधार पर हैं। सावह्नानियशक्ति का उदाहरण पयस्ता द्युति का सा है। इसी प्रकार से इनकी तुल्ययोगिता और दीपक का लक्षण देखने में एक लगता है, पर व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है, अन्यथा सामान्य रीति से भ्रम हो सकता है। तुल्ययोगिता का लक्षण है—

> एकै धर्म अवर्न्य को, और वर्न्य को होइ।
> सिगरे कवि कोविद कहत, है तुल्ययोगिता सोइ।

दीपक का लक्षण है —

> वर्न्य अवर्न्यन को जहाँ, एकै धरम लखाइ।
> दीपक तासों कहत हैं, सिगरे कवि समुदाय॥

यहां पर तुल्ययोगिता में यह अर्थ करना पड़ेगा कि जहां अवर्ण्यों का एक धर्म और वर्ण्यों का एक धर्म हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है और जहाँ वर्ण्य और अवर्ण्य दोनों का एक धर्म होता है वहाँ दीपक। फिर भी इनके लक्षण और उदाहरण द्वारा सुस्पष्ट और सुबोध हैं, ऐसे भ्रम के भी स्थल अधिक नहीं। 'कण्ठाभरण' अलङ्कार के विद्यार्थियों के लिए अच्छा ग्रन्थ है।

रसलीन

सैयद गुलाम नबी बिलग्राम (हरदोई) के एक प्रसिद्ध और विद्वान् मुसलमान कवि थे इनका उपनाम 'रसलीन' था। बिलग्राम के कई अन्य मुसलमान कवियों जैसे—शेरशाह मुहम्मद कमली, सैयद निज़ामुद्दीन 'मदनायक', मै० रहमतुल्लाह और मीर जलील ने हिंदी में कविता रची। रसलीन सबसे अधिक प्रसिद्ध थे और मीर जलील के भानजे थे। इनका जन्म सं० १७४७ के लगभग हुआ और मृत्यु १८०७ वि० में आगरे के समीप सफ़दरजंगकी सेना में युद्ध करते हुए हुई थी। काव्यशास्त्र से सम्बन्धित इनके दो ग्रन्थ हैं—अंग दर्पण और रस प्रबोध। अंगदर्पण में सुन्दर दोहों में नखशिख सौंदर्य का वर्णन हुआ है। इसमें १८० दोहे हैं। "अमी हलाहल मदभरे" नामक प्रसिद्ध दोहा इसी अंगदर्पण का है। इनका दूसरा

ग्रन्थ सं० १७६८ का लिखा दोहों में रसनिरूपण पर ग्रंथ 'रस प्रबोध'[1] है। पुस्तक की रचना बिलग्राम में हुई। इसमें नवरसों का वर्णन है, इसलिए इसका 'रस प्रबोध' नाम रक्खा गया है। इसकी परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है —

जब विभाव अनुभाव अरु, व्यभिचारी मिलि आनि।
परिपूरन व्यापी जहाँ, उपजै सो रस जानि॥

उसके बाद रस और भाव का स्वरूप वर्णन कुछ अधिक विस्तार से है और स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि का भी विवरण है। उसके बाद शृंगार रस का वर्णन है। सबसे पहले शृंगार रस के देवता कृष्ण का, जो सबसे बड़े देवता हैं, वर्णन है। उसके बाद इस बात का निर्देश है कि किस प्रकार और रस शृंगार के व्यभिचारी भाव के रूप में आते हैं, जिसके कारण उसको 'रसराज' कहते हैं। नायिका भेद का वर्णन इसके पश्चात् आता है। उनका वर्गीकरण परम्परागत होता हुआ भी नवीनता लिए हुए है। क्योंकि उसके भीतर शैशव-यौवना, उन्नत यौवना, लघुलज्जा, मूर्द्धपतिदु खिता, बालनख सुख साध्या जैसे सूक्ष्म भेदों का भी उल्लेख है। यह सूक्ष्म भेद-विस्तार इस ग्रन्थ की नवीनता है। उनके उदाहरण बड़े रसपूर्ण हैं। वैसे भी रसलीन कवि के रूप में बहुत प्रसिद्ध हैं। नायिका-भेद, नायक-भेद, हाव भाव का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। पर शास्त्रीय विवेचन का अभाव अवश्य है।

रघुनाथ बंदीजन के 'काव्य कलाधर' और रसिक मोहन' ग्रन्थ भी काव्यशास्त्र पर सुन्दर रचनायें हैं। 'रसिक-मोहन' सं १७९६ का लिखा अलंकार का ग्रंथ है इसमें न केवल शृंगार के वरन् वीर आदि अन्य रसों के भी सुन्दर उदाहरण हैं। 'काव्यकलाधर' सं० १८०२ वि० का बना है इसके अन्तर्गत भाव भेद, रस-भेद, नायिका-भेद आदि का बड़ा विस्तृत वर्णन है।[2]

उदयनाथ कवीन्द्र का 'रस चन्द्रोदय'

यह सं० १८०४ का लिखा नायिका भेद का ग्रन्थ है। उदयनाथ, कालिदास के पुत्र थे। 'रस चन्द्रोदय' और 'विनोद-चन्द्रोदय' एक ही ग्रंथ है इसका रचना काल सम्बन्धी दोहा यह है—

---

१ यह पुस्तक लेखक ने टीकम गढ़ राज पुस्तकालय में देखी थी। यह भारत जीवन प्रेस काशी में मुद्रित प्रति थी।

२ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४५

दिये गए हैं। यद्यपि 'भाषाभूषण' के रूप की पुस्तक है, पर इसके लक्षण और उदाहरण उससे अधिक स्पष्ट हैं। इसमें किसी टीका की आवश्यकता नहीं। यह 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर लिखा जान पड़ता है, पर उदाहरणों में मौलिकता है। उदाहरण छोटे, किन्तु शुद्ध और स्पष्ट हैं। भेदों सहित लगभग १८० अलङ्कारों का वर्णन है। कहीं कहीं अन्य लेखकों से नवीनता इसके वर्णन में आ जाती है जैसे श्लेष के भेद गोविन्द के अनुसार तीन—प्रकृतप्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृताप्रकृत हैं, ये शब्दों से निकलनेवाले प्रकृत अथवा अप्रकृत अर्थों के आधार पर हैं। सम्बन्धातिशयोक्ति का उदाहरण पद्माकर से मिलता है। इसी प्रकार से इनकी तुल्ययोगिता और दीपक का लक्षण देखने में एक लगता है, पर व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है, अन्यथा सामान्य रीति से भ्रम हो सकता है। तुल्ययोगिता का लक्षण है—

> एकै धर्म अवर्न्य को, और वर्न्य को होय।
> सिगरे कवि कोविद कहत, है तुल्ययोगिता सोय।

दीपक का लक्षण है —

> वर्न्य अवर्न्यन को जहाँ, एकै धरम उदार।
> दीपक तासों कहत हैं, सिगरे कवि समुदाय ॥

यहाँ पर तुल्ययोगिता में यह अर्थ करना पड़ेगा कि जहाँ अवर्ण्यों का एक धर्म और वर्ण्यों का एक धर्म हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है और जहाँ वर्ण्य और अवर्ण्य दोनों का एक धर्म होता है वहाँ दीपक। फिर भी इनके लक्षण और उदाहरण दोनों सुन्दर और सुबोध हैं, एवं भ्रम के भी स्थल अधिक नहीं। 'कण्ठाभरण' अलङ्कार के विद्यार्थियों के लिए अच्छा ग्रन्थ है।

रसलीन

सैयद गुलाम नबी, बिलग्राम (हरदोई) के एक प्रसिद्ध और विद्वान् मुसलमान कवि थे इनका उपनाम 'रसलीन' था। बिलग्राम के कई अन्य मुसलमान कवियों जैसे—शेख शाह मुहम्मद फरशली, सैयद निजामुद्दीन 'मदनायक', सै० रहमतुल्लाह और मीर जलील ने हिंदी में कविता रची। रसलीन सबसे अधिक प्रसिद्ध थे और मीर जलील के भानजे थे। इनका जन्म सं० १७४७ के लगभग हुआ और मृत्यु १८०७ वि० में आगरे के समीप सफदरजंगकी सेना में युद्ध करते हुए हुई थी। काव्यशास्त्र से सम्बन्धित इनके दो ग्रन्थ हैं—अंग दर्पण और रस प्रबोध। अंगदर्पण में सुन्दर दोहों में नखशिख सौंदर्य का बयान हुआ है। इसमें १८० दोहे हैं। "अमी हलाहल मदभरे" नामक प्रसिद्ध दोहा इसी अंगदर्पण का है। इनका दूसरा

आधार लेकर लिखा है। 'काव्य प्रकाश' एवं 'चन्द्रालोक' के विशेष आधार पर इसकी रचना हुई है, यह बात उन्होंने स्वयं ग्रंथ में स्वीकृत की है फिर भी विषय-वर्णन क्रम उनका अपना है। दास, मम्मट द्वारा 'काव्य प्रकाश' में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त के अनुगामी थे और इसी को इस ग्रंथ में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। बड़ी गम्भीरता और विचार पूर्वक लक्षण और परिभाषा देते हुये भी भिखारीदास का अपने प्रयास पर विश्वास नहीं और वे कहते हैं —

"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

काव्य निर्णय का विषय-विश्लेषण —'काव्यनिर्णय' में भिखारीदास सबसे पहले काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हैं। यह प्रयोजन तीन प्रकार का है। कुछ तो काव्य-द्वारा अपनी तपस्या और साधना के फलस्वरूप संसार में पूजनीय होते हैं और पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करते हैं, जैसे सूर-तुलसी और कुछ बहुत अधिक धन-वैभव प्राप्त करते हैं, जैसे केशव, भूषण, बिहारी आदि और कुछ केवल यश को ही प्राप्त करते हैं जैसे रहीम, रसखान आदि। इस प्रकार काव्यरचना किसी न किसी रूप में सुखदायी अवश्य होती है। कवि बनने के साधनों के विषय में वे कहते हैं कि काव्य प्रतिभा, काव्य शास्त्र का ज्ञान और सुकवियों से कविता की शिक्षा तथा लोक-अनुभव ये तीन ही उत्तम कविता का कारण होती हैं।[२] अन्तिम दोनों बातें रथ के दो पहियों के समान हैं इनमें से एक के बिना भी रथ नहीं चल सकता, ऐसा दास का मत है।

काव्यांग का वर्णन करते हुए दास ने अपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का अंग है। अलंकार आभूषण है। गुण, रूप और रंग तथा दोष कुरूपता के समान है।[३] यद्यपि दास ने यह स्पष्ट नहीं कहा, परन्तु उनके न कहने पर भी यह स्पष्ट है कि वे काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं। इन काव्यांगों पर विस्तृत विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व कविता की भाषा पर भी वे प्रकाश डालते हैं। दास जी के विवेचन की यह नवीनता है। किसी भी लेखक ने भाषा पर इस प्रकार विचार नहीं किया। वे कहते हैं कि काव्य के लिए सबसे उत्तम ब्रजभाषा है किन्तु संस्कृत और फारसी से मिलकर भी यह

---

१ यह पुस्तक लेखक ने टीकमगढ़ राजपुस्तकालय में देखी थी। भारत-जीवन प्रेस, काशी में मुद्रित प्रति हुई थी। अब इसके कई संस्करण छप चुके हैं।

२ देखिये शुक्लजी का हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ३४१

३ देखिये काव्यनिर्णय, प्रथम उल्लास, १३वाँ छन्द

सम्वत् सतक अठारह चार । माइक मास्कादि निरधार।
खिरधीह कविन्द ललित रसमय । कियो विनोद चन्द्रोदय ग्रंथ ॥

इसमें प्राचीन परिपाटी पर सामान्य-रूप से नायिका-भेद का वर्णन है। शृङ्गार-रस के वर्णन में नायक और नायिकाओं के विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण करते हुए उनका वर्णन दिया गया है। शृङ्गार के संयोग तथा वियोग पक्षों का भी वर्णन है। लक्षण, दोहों में तथा उदाहरण कवित्त और सवैया छन्दों में दिये गये हैं। लक्षणों से अधिक रोचक उदाहरण हैं। अतः स्पष्ट है कि इसका महत्व शास्त्रीय नहीं, वरन् काव्यगत ही है। काव्य शास्त्र के दृष्टिकोण से पुस्तक का अधिक मूल्य नहीं।

आचार्य भिखारीदास

मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' के द्वितीय भागमें वर्णित रीतिकालीन साहित्य को दो भागों में बाँटा है १ पूर्वालङ्कृत काल २ उत्तरालङ्कृत काल, प्रथम के चिन्तामणि त्रिपाठी प्रमुख और प्रारम्भिक आचार्य हैं और दूसरे के भिखारीदास। इस प्रकार दो वर्गों का नाम चाहे जो कुछ हो और चाहे हम यह बात भी मानें कि भिखारी दास का कोई ऐसा नवीन प्रभाव उनके परवर्ती कवियों पर नहीं पड़ा जिससे उनकी कोई विशेष छाप दिखलाई पड़े, फिर भी यह बात मान्य है कि भिखारीदास रीतिकालीन अन्तिम वर्ग के सबसे बड़े आचार्य थे उनके वर्णन में—विशेषतः 'काव्य निर्णय' में—चाहे उनकी सामग्री हिन्दी के सभी पूर्ववर्ती कवियों, काव्याचार्यों केशव, चिन्तामणि, सूरति, श्रीपति आदि से ली गई हो—जो पूर्णता है वह बड़ी सन्तोषकारी है और उससे भिखारीदास की विद्वत्ता ही टपकती है। भिखारीदास की गणना काव्यशास्त्र के उन यथार्थ आचार्यों में से थी जो कवि-प्रतिभा के साथ उससे अधिक काव्यशास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे।

काव्य निर्णय

भिखारीदास का काव्य निर्णय हिन्दी की प्रसिद्ध प्राचीन पुस्तकों में से है और उसकी गणना काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट ग्रंथों में की जाती है। इस पुस्तक में वे काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन करते हैं और वे एक आचार्य की भाँति ही अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। उनका ढंग बड़ा स्पष्ट, वर्णन क्रम सुलझा हुआ और वैज्ञानिक तथा विषय-विवेचन पूर्ण है। 'काव्यनिर्णय' हिन्दी के कवियों और प्रेमियों के लिए सुन्दर पुस्तक रही है और अब भी प्राप्य और प्रचलित पुस्तकों में उसका स्थान अनेक विषयों पर प्रकाश डालने वाले प्रकाशित ग्रंथों में अकेला है। दास ने इस ग्रंथ को अनेक संस्कृत-ग्रंथों का

आधार लेकर लिखा है। 'काव्य प्रकाश' एवं 'चन्द्रालोक' के विशेष आधार पर इसकी रचना हुई है, यह बात उन्होंने स्वयं ग्रन्थ में स्वीकृत[1] की है फिर भी विषय-वर्णन क्रम उनका अपना है। दास, मम्मट द्वारा 'काव्य प्रकाश' में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त के अनुगामी थे और इसी को इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। बड़ी गम्भीरता और विचार पूर्वक लक्षण और परिभाषा देते हुये भी भिखारीदास को अपने प्रयास पर विश्वास नहीं और वे कहते हैं —

'आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'

काव्य निर्णय का विषय विश्लेषण —'काव्यनिर्णय' में भिखारीदास सबसे पहले काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हैं। वह प्रयोजन तीन प्रकार का है। कुछ तो काव्य-द्वारा अपनी तपस्या और साधना के फलस्वरूप संसार में पूजनीय होते हैं और पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करते हैं, जैसे सूर-तुलसी और कुछ बहुत अधिक धन-वैभव प्राप्त करते हैं, जैसे केशव, भूषण, बिहारी आदि और कुछ केवल यश को ही प्राप्त करते हैं जैसे रहीम, रसखान आदि। इस प्रकार काव्यचर्चा किसी न किसी रूप में सुखदायी अवश्य होती है। कवि बनने के साधनों के विषय में वे कहते हैं कि काव्य प्रतिभा काव्य शास्त्र का ज्ञान और सुकवियों से कविता की शिक्षा तथा लोक-अनुभव ये तीन ही उत्तम कविता का कारण होती हैं।[2] अन्तिम दोनों बातें रथ के दो पहियों के समान हैं इनमें से एक के बिना भी रथ नहीं चल सकता, ऐसा दास का मत है।

काव्यांग का वर्णन करते हुए दास जी अपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का अंग है। अलंकार आभूषण है। गुण, रूप और रंग तथा दोष कुरूपता के समान है।[3] यद्यपि दास ने यह स्पष्ट नहीं कहा, परन्तु उनके न कहने पर भी यह स्पष्ट है कि वे काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं। इन काव्यांगों पर विस्तृत विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व कविता की भाषा पर भी वे प्रकाश डालते हैं। दास जी के विवेचन की यह नवीनता है। किसी भी लेखक ने भाषा पर इस प्रकार विचार नहीं किया। वे कहते हैं कि काव्य के लिए सबसे उत्तम ब्रजभाषा है किन्तु संस्कृत और फारसी से मिलकर भी यह

---

१ यह पुस्तक लेखक ने टीकमगढ़ राजपुस्तकालय में देखी थी। भारत-जीवन प्रेस, काशी में मुद्रित प्रति हुई थी। अब इसके कई संस्करण छप चुके हैं।

२ देखिये शुक्लजी का हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ३४५

३ देखिये काव्यनिर्णय, प्रथम उल्लास, १३वाँ छन्द

ध्वनि के¹। उसके पश्चात् दासजी उस काव्य का जिसमें व्यंग्य कुछ नहीं रहता है 'अवर'² काव्य कहते हैं। इसकी चतुराई मन के सम्मुख रोचक चित्र उपस्थित करने में ही है और कभी कभी कवि इसमें भी बड़ी रोचकता भर देते हैं।

अष्टम उल्लास में अलंकारों का वर्णन है। अलंकारों पर विचार करते हुए दासजी कहते हैं कि कविता की सुघराई कवि की प्रतिमा पर निर्भर करती है और जो तीन प्रकार की होती है—शब्दशक्ति, प्रौढ़ोक्ति और स्वतःसम्भवी। अलंकार भी इन्हीं तीन आधारों पर ठहरते हैं जहाँ पर केवल अलंकार है वह अवर काव्य होता है किन्तु जहाँ पर अलंकार युक्त कविता के साथ गुण, बिना व्यंग्य के मिले रहते हैं वहाँ पर मध्यम काव्य होता है किन्तु जहाँ पर व्यंजना के साथ रस, गुण, अलंकार आदि होते हैं, वहाँ उत्कृष्ट काव्य होता है।[3] अतः अलंकार कविता की कोटि का निर्धारित नहीं करते, वरन् वे सभी प्रकार के काव्यों में पाये जाते हैं इसलिए अलंकार कविता का प्रधान अंग नहीं है। यह दासजी का बड़ा ही तथ्यपूर्ण निष्कर्ष है।

अलंकारों का वर्गीकरण जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है, वहाँ तो केवल वर्ग के प्रथम अलंकार के नाम पर ही रख दिया गया है जैसे कि उपमादि, उत्प्रेक्षादि किन्तु ध्यान से देखने पर यह वर्गीकरण तर्क-संगत आधार पर स्थित जान पड़ता है। पहला वर्ग उपमादि का उपमेय उपमान के आधार पर समानता को लेकर किया गया है इसके अन्तर्गत उपमा, अनन्वय, प्रतीप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता प्रतिवस्तूपमा आदि हैं। उत्प्रेक्षादि में आरोपित समानता का आधार है इसमें उपमान का महत्व अधिक है किन्तु तीसरे वर्ग में क्रम से इसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय का महत्व बढ़ता जाता है। जैसे रूपक की अपेक्षा व्यतिरेक में उपमान उपमेय से हीन रहता है। इस वर्ग के वर्णन में नवीन बात यह है कि समानविषयक रूपक के अन्तर्गत और अलंकारों के आधार पर अन्य रूपक का वर्णन है जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति परिणाम आदि। अतिशयोक्ति को भी वे सम्भावना, उपमा, अपह्नुति, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि पर आधारित करते हैं। जैसे रूपकातिशयोक्ति है इसी प्रकार उत्प्रेक्षातिशयोक्ति, उपमातिशयोक्ति, सापह्नवातिशयोक्ति आदि भी सम्भवतः इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार अन्योक्ति के आधार पर अन्योक्ति आदि, विरोध के आधार पर विरुद्धालंकार आदि। उल्लासादि अलंकार

---

१ इहि विधि उत्तम काव्य को, जानि लहु व्यवहार।
जितने भामें भेद हैं, जितने ध्वनि विस्तार ॥ (सप्तम उ० २४)

२ बचनारथ रचना जहाँ, व्यंग्य न नेक लखाइ।
सरल जानि तेहि काव्य कों, अवर कहैं कविराइ ॥ ७ २५

३ देखिए काव्य निर्णय, अष्टम उल्लास, २, ३, ४, ५

सम्मिश्रण के आधार ८८ हैं। इनके अतिरिक्त जो किसी आधार में नहीं आ सकते हैं उन्हें अलग रक्खा है और कह दिया है —

"अरु कछु मुक्तक रीति लखि कहत एक उल्लास।"

इसमें सम, समाधि, परिवृति, भाविक, हर्ष, विषाद, असम्भव, सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थापत्ति आदि अलकार हैं।

इस प्रकार अनेक अलकारों का सामान्य आधार ढूँढकर उनका वर्ग बाँधना दास की विशेषता है जैसा कि न किसी ने पहले और न किसी ने उनके पीछे किया। इसके पश्चात् १६ वें उल्लास में गुणों का वर्णन है और इसी के अन्तगत वृत्तियों का भी। मम्मट के आधार पर दास जी ने भी कहा है कि सब पहले आचार्यों ने दस गुणों का निरूपण किया परन्तु बाद को यह प्रकट हुआ कि ये दसों, तीन गुणों के अन्तगत आ जाते हैं, किन्तु दास निरूपण दसों गुणों का करते हैं। यहाँ भी विशेषता यह है कि अक्षर-गुण पर तो माधुर्य, ओज और प्रसाद को लेते हैं और अर्थ-गुण के अन्तगत समता, कान्ति, उदारता, अर्थव्यक्ति और समाधि और तीसरे वर्ग में वाक्य गुण के अन्तगत श्लेष और पुनरुक्ति प्रकाश को।

अब माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण, व्यजनों के विविध प्रकार के योग के द्वारा बनते हैं और इस प्रकार से हमारे कानों पर प्रभाव डालते हैं अत प्रमुखत उनका कार्य अर्थ द्योतक नहीं है। समता वहाँ होती है जहाँ पर कोई बात रूढ़ि विरुद्ध कही जाय पर यथार्थ में वह हो दोषहीन, जैसे —

मेरे दृग कुवलयन को, होति निसा सानन्द।
सदा रहे ब्रजदेस पर, उदित साँवरो चन्द॥

रात को कमल खिलना और चन्द्र का साँवला होना ये विरुद्ध बातें पड़ती हैं, किन्तु फिर भी सत्य हैं। कांति में मधुर शब्दों में सुन्दर बात कही जाती है और उसका तात्पर्य भी गहरा होता है। उदारता वहाँ पर होती है वहाँ पर बुद्धिमानों को तो अर्थस्पष्ट होता है किन्तु वैसे कठिन जान पड़ता है। 'बन्दन जुत बन्दन करो पुस्कर पुस्कर पाइ।"
अर्थ-व्यक्ति में अर्थ स्पष्ट होता है और ढंग स्वाभाविक होता है —

इकटक हरि राधे लखै, राधे हरि की ओर।
दोऊ आनन इन्दु भौ, चारयो नैन चकोर॥

समाधि, वहाँ होता है, जहाँ पर क्रम से गुण का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाया जाय यथा—नौ गुनी नीरज ते मृदुता सुखमा मुख में ससि से मद सौगुनी" ऐसे ही श्लेष और

पुनरुक्ति । इसके बाद १० गुणों को वे तीन गुणों के अन्तर्गत ही सिद्ध करते हैं, माधुर्य के अन्तर्गत ही श्लेष समता, कान्ति इत्यादि वे कहते हैं कि करुणा, हास्य और शृङ्गार में इनकी विशेष आवश्यकता रहती है। ओज के अन्तर्गत श्लेष, समाधि, उदारता आदि आ जाते हैं और प्रसाद में अर्थव्यक्ति। प्रसाद गुण में समास नहीं होना चाहिए।

यहाँ पर एक और विशेष बात यह है कि गुण जब रस के सहायक रूप में आते हैं, तब तो गुण कहलाते हैं पर जब वे रस के सहायक नहीं होते तब वे अनुप्रास के ही रूप में आते हैं अतः ये गुण ही अनुप्रास का आधार हैं। वृत्त्यानुप्रास के साथ ही दास ने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का वर्णन किया है, जो क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के ही परिभाषास्वरूप हैं। इसी प्रकार में वे रस, गुण, अलंकारों पर अपना मत देते हैं। उनके विचार से रस जीवात्मा के समान है और उसके गुणों के समान ही गुण होते हैं। गुण वह अवस्था है जब रस पूर्ण रूप से जाग्रत होता है यह रस के उत्कर्ष की अवस्था है। अंगी की सुन्दरता और कुरूपता होती है अंग की नहीं और जिस प्रकार छोटे व्यक्ति को देखकर लोग उसमें कायरता का और बड़े शरीर को देखकर वीरता का विचार कर लेते हैं,[1] ऐसे ही रस भी गुणों के द्वारा प्रभावित होता है। अलंकार ऊपरी शरीर को भूषित करते हैं अतः अलंकार बिना रस के और रस बिना अलंकार के हो सकता है, किन्तु गुणों का रस में स्थान आवश्यक है।[1]

२०वें उल्लास में चित्र को छोड़कर अन्य अलंकारों का जैसे श्लेष, विरोधाभास मुद्रा, वक्रोक्ति, पुनरुक्तिवदाभास आदि का वर्णन है। दास ने उभयालंकार नहीं मानते हैं। चित्रालंकार में २१वें उल्लास के अन्तर्गत वे अनेक प्रकार के चित्र-काव्य का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि इसमें अर्थहीनता दोष नहीं और इसमें व और ब, ज और य एक दूसरे के स्थान पर रक्खे जा सकते हैं और अनुस्वार का भी कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। इसमें वे प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, बानी का चित्र, लेखनी चित्र आदि का वर्णन करते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक चित्रालंकारों का वर्णन उदाहरणों सहित सम्पन्न हुआ है।

२२वें उल्लास के अन्तर्गत तुक का वर्णन है। तुक तीन प्रकार के हैं उत्तम, मध्यम, और अधम। उत्तम तुक के समसरि, विषमसरि और कष्टसरि भेद हैं तथा मध्यम के असंयोग, मिलित और स्वर मिलित। अतः के 'ब्यादि' और 'चादि' में असंयोग मिलित हैं और ते, ह, दे में स्वर मिलित कहा गया है। अधम तुक के अमिल, सुमिल, आदिमत्त

---

१ काव्य निर्णय १६वाँ उल्लास, ६१, ६२, ६४

अमिल, अन्तमत्त अमिल आदि भेद हैं। चौगा, याम और लाटिया आदि भी तुक के ही अन्तर्गत है। इन सबके दास, केवल उदाहरण देते हैं, लक्षण नहीं। उदाहरण भी सवत्र स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि तुक निर्णय का वर्णन हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत दास जी का अनोखा प्रयत्न है। उस समय तुक हिन्दी काव्य का एक आवश्यक अंग बन चुका था अत तुक निर्णय भी हिन्दी काव्यशास्त्र का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। इस बात पर सबसे पहले ध्यान आचार्य भिखारीदास का ही गया। अन्य अनेक विशेषताओं के साथ यह वर्णन भी उन्हें आचार्य की दृष्टि से सबसे सुदृढ़ स्थान पर प्रतिष्ठित करता है।

दोष निरूपण—दास ने 'काव्य निर्णय' में चार प्रकार के दोषों का वर्णन किया है, शब्द दोष वाक्य-दोष, अर्थ-दोष, और रस-दोष। शब्द-दोष सोलह प्रकार के हैं, जिनमें प्रमुख हैं—अश्लील, ग्राम्य, सन्दिग्ध, अप्रतीत, नेयार्थ, क्लिष्ट अविमृष्ट, विधेय और विरुद्धमति आदि।

वाक्य-दोषों के अन्तर्गत प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, विसन्धि, न्यूनपद, अधिकपद, पतत प्रकर्ष, पुनरुक्ति, समाप्त पुनरात्त, चरणान्तर्गत पद, अभवन्मतयोग, अकथितकथनीय योग, अस्थानपद, सकीर्णपद, गर्भित दोष, अमत पदार्थ, प्रकरन भंग और प्रसिद्धहत है।

अर्थ दोषों में, अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहत, पुनरुक्ति, दुष्क्रम, ग्राम्य, सदिग्ध, निर्हेतु, अनधिकृत, नियम अनियम, विशेषवृत्त, सामान्यप्रवृत्त, साकांक्षा, अमुक्त, प्रसिद्ध, विद्या विरुद्ध, प्रकाशितविरुद्ध, सहचरभिन्न, अश्लीलार्थ और त्यक्तपुन स्वीकृत आदि हैं।

यह दोष-वर्णन भी 'काव्य प्रकाश' के ही आधार पर है। दास कहते हैं कि इसमें से बहुतेरे दोषों की दोषों में गणना नहीं है क्योंकि उनसे काव्य के अंगों का सौन्दर्य बढ़ता है। कभी कभी ये शब्दालंकार को सहारा देते हैं, कभी छन्द और कभी अर्थगत प्रसंग को जब कोई भी पद इनका सहायक होता है तो उसे दोषों के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। रस-दोषों के अन्तर्गत वे कहते हैं कि रस या स्थायी भाव शब्दों-द्वारा प्रकट हो जाता है वहाँ प्रथम प्रकार का रस-दोष होता है, दूसरा वहाँ है जहाँ पर कि विभाव या अनुभाव जो जो उद्दिष्ट है यही कठिनाई से समझ जा सके, तीसरा जहाँ पर विरोधी रस या भाव एक ही स्थान पर वर्णित हो। चौथा जहाँ गौण वस्तु पर अधिक बल दिया जाय, और प्रधान बात पर कम। पाँचवाँ प्रकृति-विपर्यय है जो तीन प्रकार की प्रकृति दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य में एक के स्थान पर दूसरी के ऐसे वर्णन आदि में होता है जिससे परम्परा से आदृत भावना में बाधा पड़े। इस प्रकार के अन्य अनुचित वर्णन भी रस-दोष के अन्तर्गत आते हैं।

दोष-वर्णन के साथ ही दास अपने 'काव्यनिर्णय' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी म काव्यशास्त्र के ग्रन्थों म सबसे अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक ढंग पर है, यद्यपि अधिकांश आधार 'काव्य प्रकाश' तथा हिन्दी के ग्रन्थ हैं फिर भी कुछ स्थानों पर जैसे भाषा, अलंकारों के वर्गीकरण, तुकनिर्णय आदि के वर्णन में दास जी की मौलिकता है। विषय क्रम का वैज्ञानिक ढंग, उदाहरणों की स्पष्टता और काव्य सौन्दर्य तथा विषय-विवेचन की पूर्णता के कारण 'काव्यनिर्णय' ग्रन्थ का अपना निजी स्थान है और भिखारीदास हिन्दी काव्यशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आचार्यों में प्रतिष्ठा के साथ परिगणित हैं।

शृंगार-निर्णय —

भिखारीदास की काव्यशास्त्र पर लिखी दूसरी पुस्तक 'शृंगार-निर्णय' है जिसमें शृंगार रस का अर्थात् नायिका-नायक भेद, संयोग, वियोग—इत्यादि विषयों का वर्णन है। काव्य शास्त्र के विषय-विवेचन की दृष्टि से जो महत्व 'काव्यनिर्णय' का है उसका एक अंश भी 'शृंगार-निर्णय' का नहीं है इसमें गम्भीर अध्ययन और विद्वत्ता का कोई भी चिन्ह नहीं है, हाँ कविता की दृष्टि से इसका स्थान रीतिकाल के अच्छे ग्रन्थों में है। यह मतिराम की 'रसराज' पुस्तक के ढंग पर है जिसका मुख्य विषय, नायिका-नायक भेद वर्णन करना और शृङ्गारिक काव्य की सरिता बहाना है। अतः इसका विषय विश्लेषण भी किसी विशेष आवश्यकता का साधक नहीं है, फिर भी दास जी के 'शृंगार निर्णय' में अन्य सामान्य ग्रन्थों से कुछ विशेषतायें हैं जिनका निर्देश अधिक यहाँ पर रोचक होगा।

'शृंगार निर्णय' में नायक, नायिका, सखी, दूती आदि का वर्णन क्यों करते हैं इस प्रश्न का 'दास' ने उत्तर यह दिया है कि नायक-नायिका शृंगार के आलंबन और दूती आदि उद्दीपन[1] हैं अतः विभाव वर्णन के रूप में नायक नायिका के भेद, उनके सौंदर्य तथा दूती आदि का वर्णन करना आवश्यक है। इसके पश्चात् नायक भेद के वर्णन में पति और उपपति का अन्तर बताते हुए वे कहते हैं कि जो नायक अपनी विवाहिता पत्नी ही से प्रेम करता है वह तो पति और जो उसके अतिरिक्त अन्य से भी प्रेम करता है वह उपपति होता है। ये दोनों भेद, पति और उपपति, अन्य भेदों अर्थात् अनुकूल, दक्षिण शठ और धृष्ट के साथ बराबर चलते हैं जिनकी यथार्थ में कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि परिभाषा के अनुसार पति अनुकूल ही हो सकता है अन्य नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि

---

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद, भाग १, पृ० १७४

नखशिख वर्णन अलग न करके व नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में ही नखशिख का वर्णन करते हैं। अधिकांश के लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दे देते हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि परकीया नायिका का विभाजन कई आधारों पर किया है, परकीया का प्रकरण दो बातों पर निर्भर करता है प्रगल्भता और धीरता। पहले प्रकार का भेद है ऊढ़ा और अनूढ़ा दूसरे प्रकार का भेद है उद्बुद्धा और उद्बोधिता। अनूढ़ा परकीया की दो अवस्थायें होती हैं—अनुरागिनी और प्रेमासक्ता। अनुरागिनी अपने प्रेमी से विवाह करना चाहती है और उसके लिए उसके हृदय में प्रेम है प्रेमासक्ता और भी बढ़ जाती है क्योंकि यदि उसके प्रेम की बात लोग जान भी जाते हैं, तब भी वह किसी की परवाह न करके प्रेम को बनाये रहती है। उद्बोधिता समाज और सम्बन्धियों का भय मानती है और दूती की सहायता से ही उसका प्रेम चलता है। मिलन में भी उसको भय स्पष्ट दीखता है उसके और भेद हैं असाध्या और दुखसाध्या। उसके पश्चात् परकीया के विदग्धा, लक्षिता, मुदिता और अनुशयाना भेद भी किये हैं। स्वकीया के भेद जैसे सभी ने किए हैं वैसे ही हैं कोई विशेष बात नहीं है। इसके बाद विरही-नायिका के अन्तर्गत उत्कंठिता खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और प्रोषितपतिका आदि हैं। यह सबका वर्णन शृंगार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत हैं।

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखी, ऋतु आदि का वर्णन करते हैं। स्थायी आदि के तो वे केवल नामही गिनाते हैं और उदाहरण देते हैं। हावों का भी ऐसा ही वर्णन है। यह सब संयोग शृंगार के अन्तर्गत है।

वियोग-वर्णन में पूर्वानुराग, दर्शन, स्वप्न, छाया, माया, चित्र, श्रुति, विरह, मान और प्रवास तथा इन में दास विरह की दस दशाओं को मानते हैं। मरणावस्था को निरी निराशा की अवस्था के अन्तर्गत रखता है। अधिकांश पुस्तक उदाहरण व कविता के ही महत्व की है काव्य निर्णय की भाँति नहीं। 'शृङ्गार निर्णय' की रचना संवत् १८०७ में अरवर में हुई थी।

> "संवत विक्रमी भूप को, अट्ठारह सै सात।
> माधव सुदि तेरस गुरो अरवर थल विख्यात॥"

इनके रस सारांश और छन्दोर्णव पिंगल क्रमशः रस और छन्दों पर लिखे ग्रंथ हैं।

रससारांश—

'रससारांश' की रचना, दास जी ने अरवर राज्य के प्रतापगढ़ नगर में की थी।

इसका रचना काल मिश्रबन्धु के अनुसार सं० १७६१ वि० है, [1] पर शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इसका रचना काल सं० १७९१ वि० दिया है। [2] इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १७६१ ही ठीक जान पड़ता है जैसा कि ग्रंथ में उल्लिखित नीचे की पंक्तियों से विदित होता है —

सत्रह से पचयासवे, मघ सुदि छदि बुधवार।
अरवर देस प्रतापगढ़ भयो ग्रन्थ अवतार॥

इसमें रसों का विवेचन बड़ा ही रोचक और विस्तारपूर्ण है। 'काव्यनिर्णय' में तो विशेष रूप से उत्तम, मध्यम, अवर काव्य का निर्णय और ध्वनि तथा अलङ्कारों आदि का वर्णन है और शृंगार निर्णय में शृङ्गार और नायिका भेद का, पर इसमें रसों का पूर्ण वर्णन है। दास जी ने इसमें देव की भाँति ही, अनेक वर्गों की स्त्रियों, जैसे, धाय, सखी, नटिनि, चुरिहारिनि, बरइन, रामजनी, सन्यासिनि, चितेरिन, धोबिन, कुम्हारिन, अहिरिन बैदिन, गंधिन, मालिन आदि का वर्णन किया है, पर उन्हें देव की भाँति नायिका रूप में नहीं, वरन् दूती रूप में देखा है। परकीया में मुग्धा या परकीया का भी वर्णन है। साथ ही एक विशेषता यह है कि इस ग्रंथ में दास जी ने सामान्यतः कवियों द्वारा वर्णित दस हावों के स्थान पर बोधन, तपन, चकित, हसित, कुतूहल, उद्दीपन, केलि, विक्षिप्त, मद और हेला ये दस हाव और माने हैं। ग्रंथ में वर्णन और उदाहरण साधारण हैं। उनका यह ग्रंथ उतना प्रसिद्ध नहीं जितना 'काव्यनिर्णय' और 'शृङ्गारनिर्णय' है। इस प्रकार दास की मुख्य ख्याति उनके 'काव्य निर्णय' के आधार पर ही है।

सं० १८०० वि० के ही आस पास लिखे गये, शिवकवि के 'रसिक विलास' और 'अलङ्कार भूषण', क्रमशः नायिका भेद और अलंकारों पर ग्रंथ हैं 'रसिक विलास' 'रसराज' के समान विशद ग्रंथ है इसी समय की लिखी गुमान मिश्र की सात आठ पुस्तकें अलंकार, नायिका भेद, काव्य रीति आदि विषयों पर हैं। पर वे देखने में नहीं आईं। [1]

दूलह कवि

ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। शुक्ल जी ने इनका रचना काल सं० १८०० से १८२५ तक माना है। इनका बनाया अकेला ग्रंथ "कवि कुल कंठाभरण" अलंकार पर बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है। इनका रचना काल इस ग्रंथ में

---

१ देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, (पृ० २ ६२४)

२ देखिये रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', (पृ० ३३४, १९४७ सं०)

१ देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २, (पृ० ६७२, ७०४)

नहीं दिया गया है। यह स्वतन्त्र ग्रंथ जान पड़ता है। अलंकारों की परिभाषायें बहुत ही स्पष्ट और संक्षिप्त हैं और उदाहरण प्रत्येक अलंकार के लक्षण के ठीक बाद में रक्खे गये हैं। 'भाषा भूषण' की भांति वह यह भी अलंकार के प्रेमियों और विद्यार्थियों को कंठ कर लेन के लिए ही बना था। दूलह ने प्रारम्भ में ही इनका निर्देश कर दिया है —

'जो या कंठा भरन को कंठ करै सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इस उद्देश्य के कारण कहीं कहीं लक्षण इतने संक्षेप में कहे गये हैं कि बिना व्याख्या के उनके अर्थ स्पष्ट नहीं होते यद्यपि परिभाषायें हैं बहुत ही शुद्ध। एक ही सवैया में या एक से अधिक सवैयों या कवित्तों में ४, ५, ६ अलंकार, लक्षण और उदाहरण के साथ क्रम से आते हैं। अतः ये छन्द केवल काव्य की दृष्टि से जैसे और कवियों के उदाहरण हैं, महत्त्व पूर्ण नहीं, यह तो अलंकार को ही याद करने के लिए और उसके आधार पर व्याख्या करने अथवा अपनी अलंकार-सम्बन्धी विद्वत्ता को प्रदर्शित करने के लिये ही बहुत उपयुक्त ग्रंथ है। कभी कभी एक ही पद्य के अग्र भाग में परिभाषा और अवशिष्ट में उदाहरण चलते हैं। फुटकल उदाहरण के छन्द स्वतंत्र रूप से कुछ ही मिलते हैं।

दूलह का 'कविकुल कंठा भरण' 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानंद' के आधार पर है। जैसा कि बीच बीच में संकेत करते हुए इन्होंने स्वयं कहा है। देखिये —

'कुवलयानन्द चन्द्रालोक मते ते कहीं, लुपता ये आठौं आठौं प्रहर प्रमानिये।"

और पन्द्रह अलंकारों का जिनका वर्णन प्राचीन कवियों ने छोड़ दिया था वर्णन करते हुए दूलह कहते हैं —

"अरथालंकृत शत प्राचीन कहे ते कहे आधुनिक सतरि बहत्तरि प्रमाने हैं।
कहै कवि दूलह सु पन्द्रहौ औरौ सुनौ और और ग्रन्थन सो जो वै ठीक ठाने हैं॥
चारि रसवत प्रेय ऊर्जस्व समाहित है तीन भाव बदै सधि सबलता साने हैं।
परतच्छ प्रमुख प्रमान आठौं अलंकार कुवलयानन्द में बखाने जग जाने हैं॥ [१]

ऊपर के दिये हुए छन्द में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि, भाव शबलता प्रत्यक्ष के अतिरिक्त, अनुमति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव,

---

१ चन्द्रालोक में भी इनका वर्णन है—
'रसभावतदाभास भावशान्तिनिबन्धनं ।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितमिध ॥' ११७ पंचम मयूख, चन्द्रालोक

ऐतिहय अलकारों का वर्णन दूलह ने किया है कुवलयानन्द और चन्द्रालोक में दिये गये ऊपर कहे सात अलकार तो रस से संबंधित हैं। शेष आठ को दूलह ने मीमांसा, तर्क आदि की शब्दावली को लेकर अलकारों के अन्तर्गत रक्खा है। इनका वर्णन पहले के आचार्यों ने नहीं किया, पर पद्माकर ने इन्हें अपने पद्माभरण के अन्तर्गत रक्खा है। भिखारी दास ने केवल प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, सम्भव और अर्थापत्ति के उदाहरण दिये हैं, लक्षण नहीं। पर दूलह ने लक्षण भी दिये हैं और शब्द, ऐतिह्य आदि कुछ और भी नये अलकार रक्खे हैं। न्याय-शब्दावली में इन्होंने संकर और संसृष्टि अलकारों का भी वर्णन किया है। ये दोनों मिश्रण के आधार पर हैं जो दो प्रकार का होता है। एक क्षीर नीर का और दूसरा तिल तंदुल का या प्रथम संकर और द्वितीय संसृष्टि है। संकर के अंग अंगीभाव, समप्रधान, संदेह, एक वाचानुप्रवेश भेद हैं।

इस प्रकार 'कवि-कुल कंठाभरण' अलकार का बड़ा ही प्रामाणिक ग्रंथ है। इसमें दूलह ने ११७ अलकारों का बड़ी संक्षेप रीति और सफाई के साथ वर्णन किया है। और यह ग्रंथ यथार्थ में ही कवि-कुल का कंठाभरण रहा है। दूलह के कवित्व एवं आचार्यत्व दोनों, इसी ग्रंथ में सुरक्षित हैं।

इसी समय के लगभग शम्भुनाथ मिश्र की (सं० १८०६) की रचनायें हैं जिनमें 'रस कल्लोल' 'रस तरंगिणी' रस और नायिका भेद पर हैं और 'अलकार दीपक' अधिकांश दोहों में लिखा हुआ अलकार का ग्रंथ है। 'अलकार दीपक' के उदाहरण अलकार के अधिक न होकर अपने आश्रयदाता भगवंतराय (असोथर के राजा) की प्रशंसा में ही हैं। इसी प्रकार साधारण कोटि की रचनाओं में कालिंजर के हित रामकृष्ण का 'नायिका भेद' दोहों में लिखा ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त लाला गिरधारी लाल का 'नायिका भेद' जो कि भिन्न भिन्न पदों व गीतों में है तथा घासीराम के 'काव्य प्रकाश' व 'रस गंगाधर' के अनुवाद (जो देखने में नहीं आये) आदि ग्रंथ पुरानी पद्धति पर इसी समय के आस-पास लिखे गये जान पड़ते हैं।

चन्द्रदास का शृंगारसागर

शृंगार सागर में राधाकृष्ण प्रेमविलास के रूप में नायिका-भेद वर्णन है। इसमें स्वकीया और परकीया का ही वर्णन है। आन्तरिक तल्लीनता न होने से सामान्या का वर्णन इसमें नहीं है। कुल द्वादस अध्याय हैं। मान-वर्णन, विलास-वर्णन, रासक्रीड़ा आदि का वर्णन है। यह भक्तिभावना को शृंगारिक दृष्टि में वर्णन करने वाला ग्रन्थ है। रचनाकाल संवत् १८१? है।

रूपसाहि

उपर्युक्त ग्रन्थों म सबसे अधिक प्रसिद्ध स० १८१३ का लिखा हुआ रूपसाहि का 'रूप-विलास' ग्रथ है। रूपसाहि कायस्थ कमलनैन क पुत्र थे और पन्ना के रहने वाले थे। इन्होंने बुन्देला हिन्दू नरेश हिन्दूसिंह क आश्रय में 'रूप विलास'[1] ग्रन्थ लिखा था। हिन्दूसिंह पन्ना क महाराजा थ।[2] इस पुस्तक म सबसे पहले राज वश और कवि-वश का वर्णन है और उसके पश्चात् कविता के लक्षण, कविता क उद्देश्य, कारण आदि पर विचार है और फिर शब्द शक्ति का वर्णन है। दूसरे विलास से चौथे विलास तक मात्रिक छन्द, वर्णिक छन्द प्रत्यय आदि का वर्णन है, तत्पश्चात् दसवें विलास तक नायक-नायिका भेद आदि का और ग्यारहवें विलास में नव रस और चार वृत्तियों का वर्णन है जो रूपसाहि के विचार म तीन-तीन रसों के मिलने से बनती हैं। यथा —

कैशिकी—करुणा, हास्य, शृंगार स मिलकर भारती—हास्य, वीर, अद्भुत से मिलकर आरभटी—भयानक, वीभत्स, रौद्र से मिलकर और सात्वती—शांत, अद्भुत और वीर से मिलकर।

इस प्रकार यह विचार केशव की वृत्ति वर्णन का सा ही है।

बारहवें विलास म अर्थालंकारों का वर्णन है। यहाँ पर 'भाषाभूषण' की पद्धति क अनुसार वर्णन किया गया है, अर्थात् दोहों में ही लक्षण और उदाहरण सक्षेप में दिये हुए हैं। अर्थालकारों को ९६ छंदों म ही समाप्त कर दिया गया है। तेरहवें विलास में वर्णालंकारों का वर्णन है जिसके अन्तर्गत ५ प्रकार के शब्दालंकार तथा चित्रालंकार हैं। चौदहवें और अन्तिम विलास में षट् ऋतु का वर्णन है। इस प्रकार 'रूपविलास' में काव्य शास्त्र क सम्पूर्ण काव्यांगों का बड़ी ही संक्षिप्त और स्पष्ट शैली म निरूपण है और काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों क लिए यह बड़े काम की पुस्तक है।

बरीसाल

मिश्रबन्धु विनोद क अनुसार ये असनी क निवासी ब्रह्मभट्ट थ। इनके वशज और हवेली अब तक विद्यमान हैं।[1] इनका बनाया 'भाषाभरण' अलकारों पर बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है।

---

१ याज्ञिक सग्रहालय से प्राप्त प्रति के आधार पर।

२ देखिए मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ ७११।

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद, पृ ७२६

विषय का स्पष्ट विवेचन है और उदाहरण इतने सुन्दर हैं कि विषय बड़ी रोचकता के साथ हृदयगम हो जाता है। इसमें कुल ४७५ छद हैं और उसमें भी अधिकांश दोहे हैं। यह ग्रंथ 'कुवलयानन्द' के आधार पर है। इनके विवेचन से इनकी अलकारों की आचार्यता सी झलकती है। उदाहरण के दोहे बिहारी के दोहों की समता करते हैं।

'भाषा भरण' का रचनाकाल सं० १८२५ है जैसा कि नीचे के दोहे से प्रकट है —

शर कर वसु विधु वर्ष में, निर्मल मधु को पाइ।
त्रिदशि और बुध मिलि, कियो भाषाभरण सुभाइ॥[१]

प्रारम्भ में ही शब्द और अलकार की प्रधानता के अनुसार दो भेद करते हुये आगे वैरीसाल, अनेक अलकारों के एक ही पद में आने पर कौन समझा जाय, इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि कवि का अभिप्राय जिस पर हो उसी को मानना चाहिये। इस कथन का एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं —

"ज्यों ब्रज में ब्रजवधुन की, निकसति सजी समाज।
मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत मगराज।"

'भाषा भरण' का वर्णन-ढंग 'भाषा भूषण' का सा है। वैरीसाल ने पूर्णलुप्तोपमा को भी अलकार माना है, जहाँ पर उपमा के चारों अंग लुप्त हों जैसे —

"जहाँ न धारयों हैं यहाँ, पूरण लुप्ताणाम।
उपहि लखि लाजत कोकिला, ताहि सोजिए स्याम॥"

परन्तु इसमें उपमा से अधिक प्रतीप अलकार है, क्योंकि उपमान का अनादर होता है और फिर कोकिला के रूप में उपमान प्रगट भी है, अत उदाहरण ठीक नहीं। मेरी समझ में ऐसा कोई उपमा-भेद नहीं हो सकता, अन्य कोई अलकार चाहे-भले ही हो। अन्त में इन्होंने रसवत, उर्जस्वि, भावसंधि, भावशबलता आदि को भी अलकार के अन्तर्गत माना है। 'भाषाभरण' की रचना कुवलयानन्द, के आधार पर हुई जैसा कि ग्रंथ कर्ता ने स्वयं ही अन्त में कह दिया है —

"वेदि नारायण ईस को, करि मन मादि समर्थ।
रीति कुवलयानन्द की, कीन्ही, भाषाभर्थ॥"

'भाषाभरण' की शैली संक्षिप्त और उदाहरण स्मरणीय हैं। अलकार पर यह बड़ा सुन्दर ग्रंथ है।

---

१ भाषाभरण, छन्द ८

समनेस का 'रसिक विलास'

'रसिक विलास' संवत् १८२७ का लिखा ग्रंथ है, जैसा कि इस दोहे से प्रकट है -

सवत रिषि जुग वसु ससी, कुज पून्यो नभ मास।
सम्पूरन समनेस कृत बनिगो रसिक विलास॥

रसिक विलास[1] 'रसराज' की भाँति ग्रंथ है किन्तु इसमें अन्त में, संक्षेप में शृङ्गार रस के अतिरिक्त वीर, रौद्र, वीभत्स, करुणा, शांत आदि का भी वर्णन है। अधिकांश ग्रंथ में नायक-नायिका भेद, दूती-कर्म, भाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी आदि भावों तथा वियोग दशाओं का वर्णन है। इसमें वर्गीकरण अथवा विवेचन की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं, वरन् सुन्दर उदाहरणों में ही रोचकता है। बहुतेरे उदाहरण काव्य के सुन्दर नमूने हैं। इन्होंने दोहों में लक्षण और कवित्त तथा सवैयों में उदाहरण दिये हैं जैसा कि बहुतेरे कवियों ने किया है।

उदाहरणार्थ 'शांत रस' के लक्षण और उदाहरण देखिये —

लक्षण, दोहा—"तहाँ सांत रस जानिये, थाई जह वैराग।
साधु संग आदिक तहाँ, कियो विभाव विभाग॥
छमा दयादिक कहत कवि, तहँ अनुभाव बखानि॥
निर्वेदादिक जानिये, सचारी अनुमानि॥

उदाहरण— समनेस बिषै विष सो तजि कै धरि धीर ह्वै मारग सो रँगि है।
अरु साधुन के मत में रत ह्वैकै असाधुन के मत सौं भगि है॥
तन औ धन धाम वृथा सिगरे लखियों पुनि सोंवत सो जगि है।
मन ते लग चिन्तन सों भवि के कब धौं हरि चिन्तन सों लगि है।"

इसी प्रकार विषय को स्पष्ट करने वाले उदाहरण हैं। रस पर यह अच्छा ग्रंथ है।

शिवनाथ कृत रसवृष्टि

शिवनाथ, झाऊलाल के पुत्र कात्यायन गोत्री दुबे ब्राह्मण ब्रह्मदास की परम्परा में थे। निवास स्थान कुरसी, जिला बाराबंकी था। पवाया नगर (जिला हरदोई) के राजा कुशलसिंह के लिए रसवृष्टि[2] नामक रस और नायिका भेद पर ग्रंथ लिखा। इस ग्रन्थ में कुशलसिंह की सभा की इन्द्र की सभा से तुलना की गई है। रचना काल सं० १८२८ वि०

---

१ दतिया राज-पुस्तकालय में लेखक-द्वारा देखी प्रति के आधार पर।
२ काशी नागरी प्रचारिणी सभा में प्राप्त प्रति के आधार पर।

है। रसबुद्धि सोलह रहस्यों (अध्यायों) में व्यक्त है। प्रथम में कवि तथा आश्रयदाता का वर्णन है। दूसरे में नायक भेद तथा शेष रहस्यों में नायिकाभेद का वर्णन किया गया है यह केशव की रसिकप्रिया की परिपाटी पर लिखा गया ग्रंथ है। कुछ नवीन भेद और नाम जैसे—सामान्या के प्रसंग में चतरस, प्रगुति, अज्ञातास्व तथा मिश्रा के प्रसंग में जलविहार, वनविहार और वस्त्राभूषण की शोभा आदि इसमें मिलते हैं। उदाहरण कवि कृत हैं। शिवनाथ श्रेष्ठ कवि जान पड़ते हैं। ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में है।

रतन कवि

रतन का कविता काल शुक्ल जी ने १८३० सं० के आसपास माना है। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतेहसाहि के यहाँ रहते थे और उन्हीं के नाम पर 'फतेहभूषण' नामक ग्रंथ बनाया जिसमें शब्दशक्ति, काव्य भेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है।[1] दूसरी पुस्तक 'अलंकार दर्पण'[2] है। यह अलंकारों का ग्रंथ है और संवत १८४२ में लिखा गया था। एक ही छंद में लक्षण और उदाहरण दोनों ही दिये हैं। उदाहरणार्थ देखिये —

> "जाको उपमा दिये अनेकनि सो उपमेय प्रमाने।
> जाकी समता करै सरस कर ताहि कहत उपमानै॥
> समता बोध सुसब्द पद सूचक वाचक सम और ऐसो।
> धर्म होई साधारन जाका कहिये वाको वैसो।"

और "भरण होय चहिये उपमाये अवरण तो उपमानै" इसी प्रकार अलंकारों की विशेषता बतलाते और उदाहरण देते चलते हैं। पुस्तक साधारण कोटि की है।

ऋषिनाथ

ये ठाकुर कवि के पिता थे और असनी के रहने वाले बन्दीजन थे। इनकी बनाई 'अलंकारमणि मंजरी' अलंकार पर दोहा, सवैया, घनाक्षरियों तथा छप्पयों में लिखी पुस्तक है। इस ग्रंथ का रचना काल सं० १८३१ है। अलंकारशास्त्र की दृष्टि से पुस्तक साधारण है।

---

१ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ११३

२ दतिया राज पुस्तकालय में देखी प्रति के आधार पर।

जनराज कृत 'कवितारसविनोद'

'कवितारसविनोद'[1] सं० १८३३ की लिखी हुई पुस्तक है। लेखक का यथार्थ नाम जनराज था, किन्तु उनके कविता-गुरु कृष्ण कवि ने उन्हें यह नाम दिया था। यह जाति के वैश्य थे। 'कवितारसविनोद' काव्यशास्त्र के अनेक अंगों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक है। प्रथम चार विनोदों में तो छन्दों का वर्णन है और उसके पश्चात् काव्य की कोटियों का निरूपण है काव्य की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं —

"गुन गन भूषन रस उचित, दूषन प्रगट न होय।
बिग सु सब्दारथ सहित, कवित कहावै सोय॥"

जो कि अधिकांश मम्मट के "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" के आधार पर ही है। वर्णन-क्रम भी काव्य प्रकाश का सा है प्रथम, शब्द-शक्ति का निरूपण है उसके बाद ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का। अर्थालंकारों को भी उन्होंने अधम काव्य के वर्णन के साथ ही रक्खा है। "अथ अधम काव्य-वर्णन तामैं अर्थालंकार कहते हैं।" अलंकारों का वर्णन 'कुवलयानन्द' के आधार पर है। गुणों और दोषों का वर्णन नवें विनोद में है। दोषों का वर्णन बड़ा विस्तृत है। शब्द, वाक्य, पद तथा अर्थगत दोष और रस-दोषों का वर्णन इसमें किया गया है। दसवें विनोद में रसों का प्रसंग है जिसके अन्तर्गत भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि तथा समस्त रसों का वर्णन है। कृष्ण का नखशिख और आभरण भी वर्णित है और छः ऋतुओं का वर्णन भी बड़ा व्यापक हुआ है। तेइसवें विनोद में चित्रालंकार का सुन्दर चित्र-युक्त उदाहरणों के साथ विवेचन है और चौबीसवें विनोद में इन्होंने अपने आश्रयदाता जयपुर के पृथ्वीसिंह की प्रशंसा में तथा अन्य विषय में विवरण दिया है। पृथ्वीसिंह की आज्ञा से ही ये जयपुर में आकर बसे थे। इस प्रकार ४५०० छन्दों और २४ विनोदों में यह पुस्तक समाप्त हुई है।

उजियारे कवि[2]

उजियारे कवि, वृन्दावन निवासी सनाढ्य ब्राह्मण नवलशाह के पुत्र थे। इन्होंने 'जुगल रस प्रकाश' तथा 'रस-चन्द्रिका' नामक रस पर दो ग्रंथ लिखे। 'जुगल-प्रकाश'

---

१ डा० भवानीशंकर याज्ञिक की उदारता से प्राप्त, हस्तलिखित प्रति के आधार पर।

२ देखिए १—नागरी प्रचारिणी पत्रिका के माघ १९९९ के अंक में उजियारे कवि पर डा० भवानीशंकर याज्ञिक का लेख।

२—हिन्दुस्तानी पत्रिका में प्रकाशित उजियारे कवि पर डा० भवानीशंकर याज्ञिक का लेख।

दायरस निवासी चैनसुख के पुत्र, जुगुलकिशोर दीवान के लिए और 'रस चन्द्रिका' जयपुर के छाजूराम वैश्य के पुत्र दौलतराम के लिए लिखी गई। इन दोनों ग्रन्थों में लक्षण और उदाहरण लगभग एक से हैं। 'जुगुलप्रकाश' की रचना पहले हुई समझ पड़ती है और 'रस चन्द्रिका' इसी का परिवर्तित रूप जान पड़ता है।

रसचन्द्रिका[1]

'रसचन्द्रिका' की रचना तिथि, प्राप्त प्रति खंडित और जीर्ण शीर्ण होने के कारण नहीं जानी जा सकी, किन्तु 'जुगुलरस प्रकाश' की तिथि सं० १८३७ है। इन दोनों ग्रंथों में रस का विवेचन है और अधिकांश भरत के 'नाट्य शास्त्र' के आधार पर है। लेखक बीच बीच में यह बताते जाते हैं कि यह भरत के 'नाट्यशास्त्र' का लक्षण है। 'रस चन्द्रिका' पुस्तक १६ प्रकाशों में विभक्त है। इसमें विभाव, अनुभाव, संचारी और रसों का विस्तृत वर्णन है। जैसा कि अन्य पुस्तकों में कम मिलता है तीसरे प्रकाश में और इसी प्रकार आगे के भी प्रकाशों में रस-सम्बन्धी बातों को स्पष्ट करने के लिए कवि प्रश्न करता है और उनके उत्तर देता है। तीसरे अध्याय में रस नौ क्यों हैं, अधिक क्यों नहीं, इस विषय पर प्रश्नोत्तर का नमूना नीचे दिया जाता है —

प्रश्न— "वात्सलता अरु चपलता, भक्ति कृपणता जानि।
चारि और ये रस इहाँ, क्यों न सु कहे बखानि॥
आरदता अभिलाष पुनि, श्रद्धा स्पृहा सुजानि
लखि इन माइ भाव ये, चारि भाँति पहिचानि।

उत्तर— ये संचारी भाव हैं, अब सुनि लेहु सरूप।
वत्सलता करुणा विषै, हास चपलता रूप।
भक्ति शान्त मँह जानिये, स्पृहा कृपनता एक।
और और सम्बन्ध है, संचारी सुविवेक।"

इस प्रकार के प्रश्न उत्तर अनुवाद से ही लगते हैं, समस्याओं को सुलझाने की धुन, जोश और लगन का अभाव सा जान पड़ता है। इस पुस्तक में रसों पर अधिक विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि अन्य कवियों ने शृंगार का विस्तृत वर्णन तथा अन्य रसों का संक्षेप में वर्णन किया है, वैसा इसमें नहीं है। एक एक रस पर एक एक प्रकाश लिखा है

---

1 भवाशंकर याज्ञिक संग्रहालय से, डा० भवानीशंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त जुगुलप्रकाश और रसचन्द्रिका की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर।

और प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव और सञ्चारियों का वर्णन है और उजियारे यह भी बताते जाते हैं कि यह भरतनाट्य शास्त्र के अनुसार किया है। दसवें प्रकाश में भयानक रस का वर्णन देखिये —

"याके अनुभाव भरत सूत्र दोहा—
कम्पद नैननि कम्प बहु, होय सरीर सुभाइ।
कठ ओठ मुख सोषते लखौ भयानक भाइ॥

घास के गिरास मुख हास पसरन लागे ताके आस-पास फैन फैल खिसलतु है।
व्याकुल भयो है कुञ्जि गोकुल उचारे आँखि दहकि दकार मद मेक पिघलतु है॥
कंपि बेमभार स्वेद पूरन अपार अग अग सकुराने स्वास ओठन मिलतु है।
बैठो मुख बाइ बाइ पशगु बताइ भाजी हाइ हाइ सो मन की गाइ निगलतु है।"

'रूपक' अलंकार होने के कारण प्रभाव की तीव्रता इस वर्णन में नहीं है। पुस्तक के अन्त में 'रसनि कौ रोध' अर्थात् रस-दोषों का वर्णन है।

इसी पुस्तक से कहीं-कहीं भिन्नता लिये हुए 'जुगुल प्रकाश' है जो केवल बारह प्रकरणों में समाप्त हुई है। इसका रचना-काल नीचे के दोहे से स्पष्ट है —

"संवत् अष्टादस सतक बीते बरस सैंतीस।
चैत मदी सातैं रच्यो, भयो ग्रन्थ बकसीस।"

इसकी परिभाषायें और उदाहरण वैसे ही हैं जैसे 'रसचंद्रिका' के, संचारी भावों के वर्णन में इन्होंने भी देव की भाँति ३४वाँ सञ्चारी 'छल मान' है। उसकी परिभाषा है — 'गुप्त क्रिया कहँ कहत है सो छल जानहु जान" गुप्त क्रिया को ही छल कहा है और अनेक रसों में इसका भाव अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

"पनिहारिन के छल मिलै, यों श्रृंगार मईं लेखि॥
इन्द्रजाल छल रुद्र यह, हास माह सुबिसेषि।
बेस बीर को बीर, यह छल जानौ छल पेखि॥"

किन्तु इस प्रकार का 'छल' कहाँ तक आन्तरिक भाव या संचारी के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यह विचारणीय है। 'रसनि कौ रोध' में रस की विरोधी बातों को लेते हुए वे कहते हैं कि देश और समय के प्रतिकूल बात कहन से विरोध होता है और इसके वे ऐसे उदाहरण देते हैं जहाँ पर रस नहीं अलंकार प्रधानता से विकसित हुए हैं। इस प्रकार रसों के विवेचन में ये दोनों ग्रंथ बड़े ही रोचक हैं।

'जुगल प्रकाश' भी इन्हीं का। सं० १८९८ की भरतपुर में रामदयाल मिश्र द्वारा लाला ब्रजकिशोर के लिए की गई है जैसा कि ग्रन्थ के उद्धरण से ज्ञात होता है —

"संवत् १८९६ मिती माघ सुदी १० बुधवासरे प्रति लिख्यते मिश्र रामदयाल भरतपुर मध्ये लीनाय लाला जी ब्रज किशोर जी स्वात्म पठनार्थ शुभ राज्य बलवंतसिंह जी को।"

अन्य पुस्तकों के साथ-साथ अलंकार पर लिखा ह्रदनाथ का 'अलंकार दर्पण' (सं० १८२६) है। रसखाँ का[1] नायिका भेद पर ग्रंथ (१८४०) कुँवर सवाई-माधोसिंह के पुत्र प्रतापसिंह के लिए लिखा गया। चंदन का 'काव्याभरण' (सं० १८४५ का) अलंकार पर ग्रंथ तथा देवकी नन्दन के 'शृंगार चरित्र' (१८७१) 'अवधूत भूषण' (१८५७) और 'सरफराज चन्द्रिका' (१८४३) रस और अलंकार पर लिखे साधारण[2] ग्रन्थ हैं।

यशवंतसिंह का शृंगारशिरोमणि

यह 'शृंगार शिरोमणि' तेरवा नरेश महाराज जसवन्त सिंह का लिखा हुआ ग्रंथ है। 'शृंगारशिरोमणि' में रचनाकाल नहीं दिया गया, पर मिश्रबन्धुओं ने उसका रचनाकाल सं० १८५६ वि० माना है।[3] इसमें रस को प्रमुख मानकर उसी के वर्णन का उद्देश्य लेकर ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है। स्थायी भाव का लक्षण इसमें लिखा है कि —

> प्रगटत रस पै प्रथम ही, उपजत जौन विकार।
> सो थाई तासों कहत, नवधा नाम प्रकार ॥ १, म

---

१ रसखाँ की नायिका-भेद पर लिखी पुस्तक लेखक ने मायाशंकर याज्ञिक-संग्रहालय में देखी थी जिसमें पुस्तक का नाम "सुधा" " " के रूप में अपूर्ण था। पुस्तक की रचना तिथि नीचे के दोहे से प्रकट होती है—

> "संवत राकै आठ सत, चौकै थींदो आनि।
> मास असाढ़ जु दोज बदि, बासर रवि पहिचानि ॥"

नायिका-भेद और भावों के अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में चित्र-काव्य का भी कुछ अधूरा वर्णन है क्योंकि प्रति खंडित है। लक्षणों और उदाहरणों के बीच में 'जस कवित्त' हैं जो कवि ने अपने आश्रयदाता कूरम सवाई माधोसिंह के पुत्र प्रतापसिंह की प्रशंसा में लिखे हैं।

२ शुक्ल जी का इतिहास पृ० ३५४ ४

३ मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ८४२।

रस के पूर्व उत्पन्न होनेवाले विकारों को स्थायी भाव कहा है पर यह परिभाषा अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि रस के पूर्व उत्पन्न होनेवाले सभी विकार स्थायी भाव नहीं हो सकते। संचारी भाव भी रस के पूर्व प्रकट होते हैं, इच्छा का विकार प्रकट हो सकता है, पर यह कोई स्थायी भाव नहीं। इस ग्रंथ में रसों में शृंगार को शिरोमणि मानकर उसका वर्णन किया गया।[1] इन्होंने रति दो प्रकार की मानी है एक श्रवण और दूसरा दर्शन पर यह ठीक नहीं है, रति इनसे उत्पन्न होती है इन्हें प्रकार कहना ठीक नहीं है। दर्शन के स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन आदि भेद भी कहे हैं। इस प्रकार 'शृंगारशिरोमणि' के प्रथम अंग में भावों का वर्णन है।

द्वितीय अंग में विभावों का वर्णन है जो सामान्यतया अन्यों जैसा ही है। जसवन्तसिंह ने रस को प्रकटानेवाले को विभाव मानकर उसके आलम्बन और उद्दीपन दो भेद किये हैं। विभाव के बाद स्वकीया, परकीया, गणिका नायिकाओं का वर्णन है। भाव-वर्णन के बाद नायिकाओं के अनेक भेदों की ओर भी संकेत किया है। आगतपतिका नायिका के साथ इन्होंने पुनः शकुनों का वर्णन किया है, यह नवीनता रखता है। नायक-भेद का भी वर्णन विस्तृत रूप से है। चतुर, अनभिज्ञ, महाअनभिज्ञ को भी नायक भेदों के अन्तर्गत रखता है, किन्तु महाअनभिज्ञ को नायक मानना ठीक नहीं है।

इसके पश्चात् उद्दीपन-वर्णन है। उद्दीपन के अन्तर्गत नृत्य, गान, पावस, कवित्त भ्रमर, वन वर्णन, घन दर्शन, चन्द्रदर्शन, उपवन-गमन, नूपुर, सुमन, खंजरीट-दर्शन, शशि, नक्षत्र दर्शन, वसन्त, होली, तिलक आदि हैं।

तृतीय अंग में अनुभावों का वर्णन है। अनुभाव तीन प्रकार के हैं—आंगिक, वाचिक और आहार्य। आंगिक में अंग से, वाचिक में वचन से, आहार्य में भूषण-वसनों से भाव की प्रतीति होती है। इनके भेदों का भी 'शृंगारशिरोमणि' में विस्तार के साथ वर्णन है। सखी और दूतियों का भी व्यापक रीति से वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् नायक के सहायक नर्म, सचिव आदि के अनेक भेद आते हैं, जैसे व्याकरणी, नैयायिक, पूर्वमीमांसक, उत्तरमीमांसक, वेदान्ती, योगशास्त्री, ज्योतिषी, सामुद्रिकी, वैष्णव, शैव, अरहन्त, बौद्ध आगमी, पौराणिक आदि। ये अपने सिद्धान्तों के अनुकूल नायक को प्रेम की बातें बताते हैं।

चतुर्थांग में सात्विक भावों का वर्णन है और पंचम में संचारी भावों का। छठे अंग में हावों का वर्णन है। इस प्रकार 'शृंगारशिरोमणि' में दशों का वर्णन है। केवल शृंगार

१ 'नवरस में शृंगार रस सकल शिरोमणि रूप।'

का लगर इतना विस्तृत विवरण देनेवाला कम ग्रंथ है। यह व्यामवशावतंस महाराजाधिराज यशवन्तसिंह के द्वारा बनाया गया है। अन्य विवरण और रचनाकाल ग्रन्थ में नहीं दिया गया है। ग्रंथ का महत्व साधारण है।

जगत सिंह का 'साहित्य सुधानिधि'

इस ग्रन्थ की रचना विसेनवंश के महाराजकुमार दिग्विजयसिंह के पुत्र गोंडा-निवासी जगतसिंह के द्वारा सं० १८५८ वि० में की गयी थी जैसा कि नीचे लिखे छन्दों से प्रगट होता है —

श्री सरजू के उत्तर गोंडा ग्राम। तिहि पुर बसत कविगनन आठौं याम।
तिनमें एक अलप कवि अति मतिमंद। जगतसिंह सो बरनत बरवै छन्द ॥ ८
सवत वसु शर वसु शशि बार गुरुवार। शुक्ल पचमी भादौं रच्यौ उदार ॥

यह ग्रन्थ बरवै छन्दों में लिखा गया है और यद्यपि प्रमुख आधार 'चन्द्रालोक' का जान पड़ता है, फिर भी इसमें नाट्यशास्त्र, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी सहारा लिया गया है जैसा कि लेखक-द्वारा लिखी हुई ग्रन्थ की अन्तिम पंक्तियों से विदित होता है —

"जो प्राचीन काव्य मम किये उदार। तावे ही म और कछु कियो विचार ॥
भरत भोज अरु मम्मट श्री जयदेव। विश्वनाथ गोविन्दभट दीक्षित मेव।
भानुदत्त आदिक को करि अनुमान। दियो प्रगट करि भाषा कवित्तविधान।

प्रथम तरंग में काव्य के तीन भेदों, उत्तम, मध्यम, अधम का वर्णन है। व्यंग्यार्थ से युक्त काव्य उत्तम, साधारण व्यंग्यार्थ मध्यम और व्यंग्यार्थ-हीन काव्य अधम है। 'काव्य सरोज' की भाँति ही दूसरी तरंग में शब्द निरूपण है। तीसरी तरंग में उत्तम और मध्यम (गुणीभूत व्यंग्य) काव्य का वर्णन है। चौथी तरंग में कुटिला वृत्ति-वर्णन है। कुटिला वृत्ति लक्षणा के पर्यायरूप में प्रयुक्त हुई है और सरला वृत्ति या अभिधा का वर्णन पाँचवीं तरंग में है। इनमें लक्षण स्पष्ट नहीं हैं।

इसके बाद शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवरण है। अलंकारों के वर्णन अनुवाद से ही हैं। न लक्षण सन्तोषकारी हैं और न उदाहरण ही ललित और स्पष्ट हैं। अलंकार अधिकांश 'चन्द्रालोक' के सहारे हैं। सप्तम तरंग में गुणों का वर्णन है जो कि भोजकृत कण्ठाभरण के आधार पर है। अष्टम तरंग में भावों का उल्लेख है। जगतसिंह ने भावों के पाँच प्रकार माने हैं—स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव तथा सात्विक। इन सब का

अलग अलग वर्णन है। नवीं तरंग में रीति का वर्णन है। रीति-वर्णन इस ग्रन्थ की विशेषता है। यह हिन्दी के अधिकांश ग्रन्थों से अधिक विस्तृत है क्योंकि हिन्दी-ग्रंथों में रीति का वर्णन नहीं के बराबर है। चार प्रकार की रीतियों अर्थात् पांचाली, लाटी, गौड़ी और वैदर्भी का वर्णन हुआ है। संक्षेप में इन सबके लक्षण निम्नांकित हैं —

पंच, षष्ट, नग अंसु करि जहाँ समास।
पांचाली, लाटी क्रम गौड़ी भास॥ ५४
बिन समास जहँ कीजै पद निर्वाह।
वैदर्भी सो आना कविन सराहि॥ ५५

दसवीं तरंग में दोषों का वर्णन है। दोषों का निरूपण 'चन्द्रालोक' और मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर किया गया है। लेखक ने स्वयं ही यह कह दिया है कि अमुक दोष 'चन्द्रालोक' के अनुसार है और अमुक दोष मम्मट के अनुसार। उदाहरणार्थ अप्रयुक्त दोष का वर्णन करते हुए जगतसिंह कहते हैं —

"कहि पुल्लिग स्त्रीलिंग अस वहँ हात।
अप्रयुक्तता सो कहि कहि कवि गोत॥१०, ६४
कहि पुल्लिग देवता जहँ अस होइ।
चन्द्रालोक लिखे इमि बरनै सोइ॥

इसी प्रकार शिथिल का लक्षण व लिखते हैं —

उरत विलम्ब करि पद जहँ शिथिलो सोइ।
मम्मट मतो लिखो इमि कवि कहि सोइ॥१०, ६५

अधिकांश दोष 'काव्य प्रकाश' के ही आधार पर हैं। जगत सिंह ने दस दोषों का वर्णन किया है और इनका विचार है कि अन्य सभी इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार ६०६ बरवै छंदों में अनेक ग्रंथों के आधार पर 'साहित्यसुधानिधि' की रचना समाप्त हुई है।

महाराजा रामसिंह

महाराज रामसिंह बुन्देला राजा हिन्दूसिंह के पुत्र थे। ये नरवर गढ़ के राजा थे। इन्होंने 'अलंकार दर्पण', 'रस शिरोमणि', 'रस निवास' और 'रस विनोद', नामक ग्रन्थ अलंकार और रस पर लिखे।[१] इनमें से 'रस निवास'[२] ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध

१ देखिये मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ ७११

२ लेखक को यह ग्रन्थ दतिया में कवि श्री वासुदेव के यहाँ देखने को प्राप्त हुआ था।

है। अन्तिम तीन ग्रंथों में रस का विवेचन है। शृंगार रस और नायिका भेद का वर्णन अधिक विस्तार से है पर अन्य रसों का उतना नहीं।

रसशिरोमणि—रसशिरोमणि ग्रंथ की रचना रामसिंह ने संवत १८३० में की थी जैसा कि निम्नांकित दोहे में है—

माघ सुदि तिथि पूरना पग पुष्य अरु गुरुवार।
गिनि अगारह से बरस पुनि तीस संवत सार॥ ३३२॥

इस ग्रंथ में ३३२ छन्द हैं। इस ग्रंथ में रसों में श्रेष्ठ 'शृंगार रस' का वर्णन हुआ है इसी से इसका नाम रस शिरोमणि रखा गया है। नायिका भेद का वर्णन इसमें सामान्य पद्धति पर रसमंजरी के अनुसार किया गया है। दूती के कार्यों के प्रसंग में (१) नायिका की लगनि नाइका सों प्रगटिबो (२) नायक की लगनि नायिका सों प्रगटिबो (३) विरह निवेदन (४) संघट्ट की चर्चा है।

भावका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

तन मन जनित विकार जो, भाव रसै अनुकूल।
काइक मानस दुविध सो, रस प्रथम को मूल॥ २२१॥

यह वही मान्य धारणा है जिसे रामसिंह ने स्वीकार किया है और जो भरत मतानुकूल है। इसी प्रकार रस का लक्षण यों है—

जो विभाव अनुभाव सात्विक संचारिनि मिलि।
होत जु पूरन भाव थाई रसे सो जानिये॥ २२०॥

परन्तु इसमें अन्य रसों के केवल नाम कह गये हैं विवेचन शृंगार रस का ही है। उदाहरण बड़े सुन्दर हैं।

रस निवास

रस निवास ग्रंथ इनका सर्वश्रेष्ठ है। इसमें लक्षण और उदाहरण बड़े ही सुबोध है। जिस विषय को लिया है उसे बड़ी अच्छी तरह से समझा दिया है। इसमें लक्षणों पर भी काफी जोर है, और लक्षण शुद्ध हैं। दोहा, चौपाई और ललित छन्दों में इसका निर्माण हुआ है। व्यय की बात और भरती के शब्द बहुत कम हैं और उदाहरण भी उतने ही और वैसे ही हैं जैसे कि लक्षणों को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक हैं। तीन प्रकार की नायिकायें बताते हुए वह कहते हैं कि :—

"छन्द ललित—सुकिया परकीया अरु गनिका त्रिविध होत हैं नारी।
निज पति सुकिया, परकीया पर, गनिका अगत पियारी॥"

विषय वही है जो सभी ने नायिका भेद पर लिए हैं जैसे, अनेक प्रकार की नायिकायें मान, सखा और उनकी क्रियायें (मडन, उपालम, परिहास शिक्षा आदि), नायक-भेद, सखा, दर्शन, आदि।

इसके पश्चात चौथे 'निवास' म भाव का वर्णन है। भाव का लक्षण ये यों देते हैं —

"रस अनुकूल विकार भाव कहि। होइ आन विधि सो विकार लहि!"

विभाव को ये रस उपजाने वाला मानते हैं —

"रस विशेष उपजावै यही विभाव कहावै।"

विभावों क वर्णन में सभी रसों क विभावों का वर्णन है। उदाहरणार्थ हास्य के विभावों को देखिये —

'अलकार विपरीतहि बरनौं विकृत आचरन अर्थं विशेष।
विकृत नाम कों कहनो करनों कहियत विकृत सर्यौ भगवेश॥
इहँ आदि दे औरे बहुते सुनो विभाव कहावै।
ये सबही मिलि नीकी विधिसौं हास रसै उपजावै॥"

अन्य रसों के विभावों का भी इसी प्रकार से वर्णन है। छठे, सातवें और आठवें निवासों में क्रमश अनुभाव, सात्विक भाव और संचारी भावों का वर्णन है। संचारी भावों का वर्णन भी बहुत विस्तृत है। आठवें निवास के अन्तर्गत ११५ छन्दों में विवेचन है। नवें 'निवास' में रसों का वर्णन है। महाराज रामसिंह के विचार से जहाँ विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी मिलते हैं वहाँ ही रस होता है। ये सात्विक को अनुभाव से भिन्न मानते हैं —

"जहँ विभाव अनुभाव पुनि, सात्विक अरु व्यभिचारी।
इम सरसायी थाइ पूरन स्वादिक सो रस भारी॥'

देव की भाँति महाराज रामसिंह भी रस के लौकिक और अलौकिक दो भेद करते हैं। और उनका वर्णन भी। लौकिक रसों को काव्य रस मान कर उनका ही वर्णन अधिक किया गया है।

दसवाँ 'निवास' रस पोषक निरूपन' पर है अर्थात स्थायी भावों का वर्णन है। 'हसता' जो हास्य रस में परिणत होती है रामसिंह के विचार से दो प्रकार की है—स्वनिष्ट और परनिष्ट स्वनिष्ट जब रस का अनुभव अपने में होता है और परनिष्ट जब दूसरे में। इनमें से प्रत्येक के ६ प्रकार होते हैं। मृदुहासि, हसनि, विहसित, उपहसित, अपहसित और

अतिहसित जिसमें से प्रथम दो उत्तम, दूसरे दो मध्यम और अन्तिम दो अधम कोटि के हैं। इन सबके विशेष चिन्ह देते हुए रामसिंह कहते हैं—

> "उत्तम जन की आनि, लहि स्वनिष्ट परनिष्ट में।
> कछु कपोल विकसानि, और कटाच्छ बखानहूँ॥
> रहै छिपी रद ज्योति, भली भजा सों देखिये।
> यह सब याते होति जानों मन मुसकान में॥"

इस प्रकार सभी रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ट दो भेद हैं, शांत रस के पूर्व वे माया रस का वर्णन करते हैं—

> "पूरन मिथ्या ज्ञानु जहै सो माया रस पहिचानौं।
> भले समझ के मिथ्या ज्ञानु सु थाई भाव बखानौं॥
> जगत भेद उपजावन जाको धर्म अधर्म विभावै।
> सुत दारा धन राज आदि ये कहियत हैं अनुभावै॥"

यह रस मानो शांत रस के विपक्ष में है। इसे अलग रस के रूप में किसी भी आचार्य ने नहीं माना। यह वर्णन भानुदत्त की रसतरंगिणी के आधार पर है, किन्तु प्रश्न यह है कि इसे हम एक अलग रस मान सकते हैं या नहीं। माया रस यथार्थतः शृंगार रस के अन्तर्गत आ सकता है क्योंकि उसका लौकिक स्वरूप मिथ्या ज्ञान आदि के आधार पर ही है अतः इसे अलग मानना विशेष तथ्य नहीं रखता है।

ग्यारहवें विलास में वे रस-दृष्टि, रसभाव का सम्बन्ध, रस-विरोध और अलंकार का रस और भावों से सम्बन्ध बताते हैं। रस दृष्टि के अन्तर्गत आँखों या दृष्टि के द्वारा अनेक प्रकार के रस प्रकाशन का वर्णन है। रामसिंह महाराज जिन आठ रस-दृष्टियों का वर्णन करते हैं वे हैं—इष्टादृष्टि, स्नाता दृष्टि, लज्जिता दृष्टि, ललिता दृष्टि, मुदिता दृष्टि, विभ्राता दृष्टि, अद्भुता दृष्टि, अनसा दृष्टि। इन सबको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। रस और भावों का सम्बन्ध, जन्य और जनक का सम्बन्ध है। रस संकर के अन्तर्गत एक रस विशेष का स्थायी भाव दूसरे रस को उत्पन्न करता है। इन सभी का उचित उदाहरणों-द्वारा वर्णन है। रस विरोध के अन्तर्गत उन बातों का वर्णन है जो रस की अनुभूति में या रस की सृष्टि में बाधक होती हैं। एक दूसरे के विरोधी रसों का भी निर्देश इसमें किया गया है फिर रसाभास और शबलता आदि का वर्णन है। रसाभास को शृंगार में रामसिंह ने वहाँ माना है जहाँ पर एक व्यक्ति के अन्तर्गत तो रस हो और दूसरे में नहीं, किन्तु यथार्थ में रसाभास वहाँ होता है, जहाँ रस वर्णन अनुचित रूप में हो।

"दम्पति में रस होइ परस्पर ताही का रस कहिय।
होइ एक के होइ न एकै रसाभास सो छहिये ॥"

ग्रन्त में सबसे विशेष बात है इनका रस, भाव और अलंकारों के सम्बन्ध के अनुसार रस के विचार से काव्य-कोटि निर्णय। यह मानों ध्वनि-सिद्धान्त के समान ही रस-सिद्धान्त की भावना है। महाराज रामसिंह के विचार से रस का निरूपण तीन रूपों में होता है। अभिमुख, विमुख और परमुख। जहाँ पर रस स्पष्टतया भाव, विभाव, अनुभाव आदि से पुष्ट होकर आता है वहाँ पर अभिमुख जहाँ इनकी किसी प्रकार की अनुपस्थिति में कठिनाई पूर्वक रस की स्थिति ढूँढ़नी जाती है वहाँ पर विमुख होता है और जहाँ पर अलंकार या भाव की मुख्यता रहती है वहाँ पर अलंकारमुख व भावमुख रूप में दो प्रकार का परमुख रहता है। इनको हम कुछ-कुछ उसी प्रकार समझ सकते हैं जैसे कि ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अव्यंग्य। अभिमुख में रस प्रधान है परमुख में गुणीभूत रस और विमुख में रस-हीनता है।

इस प्रकार 'रस निवास' में अनेक रसांगों के स्पष्टीकरण के साथ मौलिक चिंतन की भी विशेषता है। यदि इन विषयों पर और विचार होता तो अधिक अच्छा था।

यह ग्रंथ सं० १८३६ में लिखा गया था जैसा कि ग्रन्त के दोहों से प्रकट है —

नरवरपति रवि कुल तिलक, छत्रसिंह गुनधाम।
रामसिंह तिहि सुत रचित, रसनिवास अभिराम ॥
बरस अगारा से अधिक, उनचालीस बखानि।
फागुनि सुदि दसमी समयि सम्वत्सरि पहिचानि ॥

ग्यारह निवासों और ११५७ छन्दों में 'रसनिवास' ग्रंथ पूर्ण हुआ है।

इसी काल में (१८५५ का लिखा) मान कवि का 'नरेन्द्र भूषण' अलंकारों का ग्रंथ और (सं १८८८ का लिखा हुआ) 'दलेल प्रकाश' रस, भाव, दोष आदि के निरूपण पर ग्रंथ है। 'दलेल प्रकाश' में रागरागिनियों के लक्षण और चित्रकाव्य दिये गए हैं जैसा कि 'मिश्रबन्धु-विनोद' के विवरण से पता चलता है। बेनी बन्दीजन का (१८४९ का बनाया हुआ अलंकार पर) 'टिकैतराय प्रकाश' और (रस पर) 'रस विलास' नामक ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं उनमें काव्य अधिक और विवेचन सामान्य है।

सेवादास

सेवादास ग्रलवल लाल के शिष्य थे। इनका रचनाकाल संवत् १८४ —१८५५ के आस-पास है। इनके ग्रंथों को १८४८ की प्रतिलिपि दयाराम द्वारा लिखी काशी नागरी

प्रचारिणी पुस्तकालय म ह। इनक ग्रंथ हैं—गीता महात्म, अलबेलेलालनूकानस शिख, अलबेलेलाल जू की छप्पय, राधा-कृष्ण विहार, रघुनाथ अलकार, रसदर्पण आदि।

रघुनाथ अलकार—यह स० १८४० की रचना है। इसमें २०२ छन्द हैं। इसमें राम क गुण वर्णन क साथ अलकार कथन है। अलकार वर्णन का आधार चन्द्रालोक और कुवलयानन्द है। स्वय ही सेवादास ने कहा है—

कुवलयानन्द चन्द्रालोक मे अलकार के नाम।
तिनकी गति अवलोकि कै अलकार कहि राम॥ ११४॥

इस ग्रंथ में लक्षण दोहे में तथा उदाहरण कवित्त, सवैया, छन्दों में दिये गये हैं। इनके उदाहरण राम और सीता के सम्बन्ध में है। वाचक लुप्ता का उदाहरण है—

सोहत सलोनो अग स्याम मृदु राजत है, ऐसो छवि ध्यान धरि शकर मगन हैं।
मोतिन की माल प्यारी उर में लसत सोइ जाहो को विलोकि तारे लाजत गगन हैं।
अगद भुजन तामें हीरन जटित लाल करमें कच्क ऐसे मन मं पगन हैं।
सेवादास मन के मनोरथ सो सिद्धि होत राम काम देवे मेरे ईछन मगन हैं॥

रसदर्पण

इसमें पहले गुरु वन्दना फिर विष्णु रूप राम वन्दना, राधा कृष्ण वन्दना है। ग्रंथ के मगला चरण रूप में वन्दना इस प्रकार है—

रस दर्पन को परस, भयो आनन्द महा मन।
उमग्यो सरस प्रभाव प्रेम को रोम-रोम तन॥
कहत परम पद सोइ परम आनन्द बढ़ावै।
श्रवन सुनत सुप होइ प्रभू की कीरति गावै॥
रामचन्द्र सीता सहित मो मन को पूरन करत।
कृष्णदेव वर राधिका सेवादास उर में धरत॥ ६॥

इसका रचना काल सं० १८४० है, जैसा कि उल्लेख है—

फागुन वदि तिथ सप्तमी वार शुक्र शुभ जान।
अष्टादस सवत सुरस ऊपर चालिस मान॥ ८॥

सबसे पहले नायिका भेद वर्णन है। इसमं स्वकीया के प्रसग में सीता, परकीया क राधा, गोपिका आदि का वर्णन है। पद्धति रस-मजरी की है। राम और सीता की भी माधुर्य रूप की झांकी यत्र-तत्र उदाहरणों म आइ ह, परन्तु औचित्य का निर्वाह है। नायिकाभेद के बाद नायकभेद विरह दशायें और फिर रस वर्णन है। शृगार, हास्य,

यह कुल तीन प्रकरणों में है अर्थालंकार प्रकरण, पंचरत्नालंकार प्रकरण और संसृष्टि-संकर प्रकरण। यह भी अलंकारों पर साधारण ग्रंथ ही है। इसके भीतर न विवेचन की विशेषता है और न उदाहरणों की मनोहरता ही।

यथार्थ में 'पद्माभरण' के प्रमुख आधार हैं—'भाषाभूषण' 'चन्द्रलोक' और 'भाषा-भरण'। परन्तु बैरीसाल के 'भाषाभरण' का आदर्श इसमें अधिक ग्रहण किया गया है। दोनों ग्रंथों के शब्दालंकार और अर्थालंकार प्रकरणों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। बैरीसाल ने भाषाभरण में लिखा है—

कहुँ पद ते कहुँ अर्थ कहुँ दुहुन ते, ओइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ॥
अलंकार यक ठौर में जो, अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कवि को जहाँ, सो प्रधान तिन माहिं॥
ज्यों व्रज में व्रजवधुन की, निकसति सजी समाज।
मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत व्रजराज॥

—भाषाभरण

यही भाव 'पद्माकर' में निम्नलिखित रूप से व्यक्त हुआ है—

"सब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते, कहुँ दुहुँ ते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ, अलंकार सो मानि॥
अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ यहै मुख्य गति एक॥
जा बिधि एकै महल में, बहुत मन्दिर इक मान।
जो नृप के मन में रुचै, मनियत वहै प्रधान॥

—पद्माभरण।

इस प्रकार 'भाषाभरण' और पद्माभरण का पूरा आदर्श एक है। इसी प्रकार कहीं कहीं 'चंद्रालोक' का भी भाव ज्यों का त्यों है जैसे शुद्धापह्नुति के उदाहरण में —

नायं सुधांशुः किं तर्हि? व्योमगंगा सरोरुहम्।—चन्द्रालोक।
यह न ससी, तो है कहा? नभगंगा जलजात॥—पद्माभरण।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रालोक' का और विशेष रूप से 'भाषाभरण' का आधार 'पद्माभरण' में ग्रहण किया गया है।

कवा कुछ नहीं कर सकती। या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है, वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है' किन्तु ये सब कथन पद्माकर की कवित्व शक्ति पर ही प्रकाश डालते हैं, आचार्यत्व पर नहीं। आचार्यत्व की दृष्टि से इनके जगद्विनोद और पद्माभरण दो ही ग्रंथ हैं।

जगद्विनोद

जगद्विनोद सं० १८५७ के लगभग बना हुआ रस, भाव और नायिका भेद पर लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसमें सबसे पहले नायिका-नायक भेद, फिर हाव सात्विक भाव संचारीभाव वियोग, शृंगार और उसके बाद में संक्षेप में अन्य रसों का वर्णन है। यह ग्रन्थ जयपुर के महाराज सूर्यवंशी कछवाह प्रताप सिंह के पुत्र जगतसिंह की आज्ञा से बनाया गया था। मतिराम की भाँति पद्माकर ने भी नव-रस का राजा शृङ्गार और उस के आलम्बन नायक नायिका को मानकर पहले उन्हीं का वर्णन किया है। नायिका का लक्षण वे यह देते हैं कि जिसे देखकर शृङ्गार का भाव जाग्रत हो वही नायिका है (जगद्विनोद १, ११) स्वकीया के लक्षणों में अन्य सामान्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि स्वकीया, पति से पीछे खाती पीती और सोती है और पहले जागती है। इसको स्वकीया का लक्षण नहीं मान सकते हैं। ये पतिव्रता के गुण हैं, कुछ स्वकीया नायिकायें ऐसी होती हैं सभी नहीं क्योंकि यह तो सब आदर्श है और स्वकीया एक यथार्थ-वर्ग। पद्माकर ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही सखा, सखी, दूती, उपवन षट्ऋतु आदि का वर्णन किया है जिसमें लक्षण यों ही संकेतमात्र या नाममात्र ही हैं। अनुभावों में सात्विक भाव तथा हावों के नाम और उदाहरण हैं, विवेचन नहीं। लक्षण परिचय मात्र हैं। यही बात आगे के संचारी भावों, वियोग शृङ्गार तथा अन्य रसों के वर्णन में भी है। अतः पद्माकर के 'जगद्विनोद' का काव्यशास्त्र की दृष्टि से साधारण महत्व ही है, विशेष नहीं।

पद्माकर

पद्माभरण अलंकार पर ग्रंथ है। पद्माकर ने अधिकतर दोहों में लक्षण और दोहों में ही उदाहरण देते हुए अलंकारों पर यह ग्रन्थ लिखा है किन्तु कहीं कहीं चौपाइयों का भी लक्षण और उदाहरण के लिए प्रयोग किया है। उदाहरणों की भी विशेष सुन्दरता नहीं। दूलह के 'कविकुल कंठाभरण' की भाँति इसमें भी अन्त में पन्द्रह और अलंकार तथा उसके बाद नवृष्टि और सब के लक्षण उदाहरण हैं। इनके उदाहरणों में गैरीलाल के 'भाषाभरण' से भी कहे कहीं उदाहरण लिए गए हैं और कहीं कहीं बिहारी से भी।

यह कुल तीन प्रकरणों में है अर्थालंकार प्रकरण, उभयालंकार प्रकरण और संसृष्टि-संकर प्रकरण। यह भी अलंकारों पर साधारण ग्रंथ ही है। इसके भीतर न विवेचन की विशेषता है और न उदाहरणों की मनोहरता ही।

ग्रंथ में 'पद्माभरण' के प्रमुख आधार हैं—'भाषाभूषण' 'चन्द्रलोक' और 'भाषाभरण'। परन्तु बैरीसाल के 'भाषाभरण' का आदर्श इसमें अधिक ग्रहण किया गया है। दोनों ग्रंथों के शब्दालंकार और अर्थालंकार प्रकरणों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। बैरीसाल ने भाषाभरण में लिखा है —

कहूँ पद ते कहुँ अर्थ कहूँ दुहुन ते, जोइ।
अभिप्राय जैसा जहाँ, अलंकार त्यों होइ॥
अलंकार यक ठौर में जो, अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कवि को जहाँ, सो प्रधान तिन माहिं॥
ज्यों मग में मग्रबधुन की, निकसति सजी समाज।
मन की रुचि जापर भई, ताहि सखत अजराज॥

—भाषाभरण

यही भाव 'पद्माकर' ने निम्नलिखित रूप से व्यक्त हुआ है—

"सब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते, कहुँ दुहुँ ते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ अलंकार सो मानि॥
अलंकार इक थलहि में समुझि परे जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ, यहै मुख्य गति एक॥
जा विधि एकै महल में, बहुत मन्दिर इक मान।
जो नृप के मन में रुचै मनियत वहै प्रधान॥

—पद्माभरण।

इस प्रकार 'भाषाभरण' और 'पद्माभरण' का पूरा आदर्श एक है। इसी प्रकार कहीं कहीं 'चन्द्रालोक' का भी भाव ज्यों का त्यों है जैसे अपन्हुति के उदाहरण में —

नायं सुधांशुः किं तर्हि? व्योमगंगा सरोरुहम्।—चन्द्रालोक।
यह न ससी, तो है कहा? नभगंगा जलजात॥—पद्माभरण।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रालोक' का और विशेष रूप से 'भाषाभरण' का आधार 'पद्माभरण' में ग्रहण किया गया है।

इसी समय के अन्य साधारण ग्रंथों में यशोदानन्दन का 'बरवै नायिका भेद', ब्रह्मदत्त के विद्वद्विलास (१८६०), और रामप्रकाश (१८६१) वि० के लिखे ग्रंथ हैं। करन कवि के 'साहित्यरस' और 'रसकल्लोल', (१८८५ वि० के आस पास के लिखे) ग्रंथों में काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों में अच्छा विवेचन है ऐसा इतिहासकारों[1] का भी मत है। सं० १८६० का लिखा गुरुदीन का 'वाग् मनोहर' ग्रंथ पिंगल, शब्दशक्ति, रस, अलंकार, ध्वनि, गुण, दोष आदि विषयों का वर्णन प्रस्तुत करता है पर लेखक को ये ग्रन्थ देखने को नहीं मिले। इनका उपयुक्त विवरण मिश्रबन्धु विनोद तथा रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के आधार पर[2] है।

रस-भूषण

दतिया निवासी शिवप्रसाद का लिखा ग्रंथ है। इनका समय दतिया के राजा परीछत का समय है। 'रस भूषण' की रचना सम्वत् १८६६ वि० में हुई थी जैसा कि नीचे के उद्धरण से प्रकट है—

> 'सवत एक हजार अरु आठ सैकरा जान।
> साल उन्नहत्तर की जहाँ पौष मास पहिचान ॥
> कृष्णपक्ष तिथि तीजि जहँ चन्द्रवार सुभ खेप।
> दतिया में दुपहर समें कीन्हीं ग्रन्थ विशेष ॥

ग्रंथ के प्रारम्भ में राय शिवप्रसाद उसमें उन सभी विषयों का विवरण देते हैं जिनका वर्णन पुस्तक में किया गया है। अन्य रसों के विशेष विवरण के साथ शृंगार रस का संक्षेप वर्णन है, क्योंकि अन्य आचार्यों ने उसका काफी विवरण दिया है। इनके अन्तर्गत नायक भेद, नायिका भेद, दर्शन सखी, संयोग, वियोग, हाव और नव रसों का वर्णन है।

इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें रस वर्णन के बीच अलंकारों के भी लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ में रस के साथ साथ अलंकारों

---

१ देखिये शुक्लजी का इतिहास, पृ० ३६६
मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ८४१

२ शुक्लजी का इतिहास, पृ० ३६७
मिश्रबन्धु विनोद भाग २, पृ० ८५४

का भी वर्णन है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन मातूच रखॉ के 'रस भूपण' में भी मिलता है, पर व दोनों अलग अलग समय पर लिखे ग्रंथ हैं। इसमें भी रस के साथ अलंकारों का वर्णन-क्रम जसवन्तसिंह के 'भाषा भूषण' के क्रम के अनुसार है। लक्षण साधारण हैं, कोई विवेचन नहीं है, उदाहरण सुन्दर, आकर्षक और अलंकारों से पूर्ण हैं। उदाहरणों का ही प्रमुख चमत्कार है।

बेनी प्रवीन

बेनी प्रवीन का 'नव रस तरंग' बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। 'शृंगार भूषण' और नानाराव प्रकाश' ग्रंथ भी काव्यशास्त्र के अच्छे विशद ग्रंथ जान पड़ते हैं। 'नानाराव प्रकाश', तो कवि प्रिया' के ढंग पर अनेक काव्योपयोगी बातों पर प्रकाश डालता है, किन्तु 'नवरस तरंग' अपनी विद्वत्ता के कारण नहीं, वरन् कवित्व के कारण बहुत ही मनोहारी ग्रंथ सिद्ध हुआ। 'रस राज' की भाँति ही इसकी कविता ने लोगों को मुग्ध किया था।

नवरसतरंग

इसकी रचना संवत् १८७४ में हुई थी। अपने आश्रयदाता नवलकृष्ण के लिए इन्होंने 'रसिकप्रिया' का वचन उद्धृत करते हुए 'नवरस तरंग' लिखी थी।

इस सम्बन्ध के दो दोहे निम्नलिखित हैं—

> समय दखि दिग दीपयुत सिद्ध चन्द्र बल पाइ।
> माघ मास श्री पंचमी श्री गोपाल सहाय॥
> नवरस मैं ब्रजराज नित कहत सुकवि प्राचीन।
> सो नवरस सुनि रीझिहैं नवलकृष्ण परवीन॥

इसमें नव रसों और स्थायी भावों के नाम कहने के उपरान्त विभाव के आलम्बन को नायक-नायिका मानकर नायिका भेद का वर्णन प्रारम्भ कर दिया गया है। लक्षण अधिकांश बरवै और दोहा छन्दों में हैं, और उदाहरण मनहरण तथा सवैया छन्दों में। बहुत से इसके उदाहरण 'शृंगार भूषण' के ही उदाहरण हैं। नायिका-भेद के वर्णन का क्रम यह है—

१ स्वकीया, परकीया, सामान्या।
२ स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

---

१ देखिए बेनी प्रवीन कृत 'नवरसतरंग'

इस प्रकार काव्यशास्त्र के अनेक अंगों को स्पष्ट करने का इसमें अच्छा प्रयत्न किया गया है। अलंकार 'चन्द्रालोक' के तथा अन्य विषय 'काव्य प्रकाश' के आधार पर हैं और कुलपति के 'रस-रहस्य' के समान ग्रंथ बनाने की भावना से यह लिखा जान पड़ता है। इन सब पुस्तकों का आधार लेते हुए भी लक्षण और उदाहरण इनके अपने जान पड़ते हैं। ध्वनि का विवेचन संक्षेप में है किन्तु अन्य विषयों का विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है। कवि ने काफी रुचि और अध्ययन के साथ इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। इससे प्रकट है, फिर भी उस समय तक हिन्दी में इससे अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इस ग्रन्थ का महत्व, हिन्दी-रीति के परमोत्कृष्ट ग्रंथों के समान चाहे न हो, पर रणधीर सिंह का यह प्रयत्न सराहनीय है, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य विवेचन है, कविता लिखना नहीं।

नारायण कृत 'नाट्य दीपिका'

यह नृपति भवानीसिंह (दतिया नरेश) की आज्ञा से गोकुल निवासी नारायण के द्वारा नाट्यशास्त्र पर लिखी पुस्तक है। यह पुस्तक भरत और शार्ङ्गधर के आधार पर लिखी गई है जैसा कि नीचे लिखी पंक्तियों से स्पष्ट है —

"सारङ्गधर अरु भरत ने, करे जु ग्रन्थ अपार।
सार सार संग्रह करै, निज मति के अनुसार॥"

इस ग्रन्थ के भीतर नाटक के विकास का इतिहास पौराणिक ढंग पर दिया हुआ है। इसमें लिखा है कि सबसे पहले ब्रह्मा ने यह शास्त्र भरत मुनि को बताया। भरत मुनि ने गंधर्वों और अप्सराओं के साथ महादेव के सम्मुख इसका अभिनय किया। महादेव जी ने इस कला को अपने गणों को बताया और पार्वती जी ने लास्य, बाणासुर की पुत्री ऊषा को बताया। ऊषा ने द्वारिका में गोपियों को लास्य की शिक्षा दी। गोपियों ने इस कला को सुराष्ट्र की स्त्रियों को बताया। इस प्रकार धीरे धीरे नाट्य कला का विस्तार हुआ। नाट्य-कला के अन्तर्गत रस, अभिनय और गायन तीन बातों का विवरण है। इन्हीं तीन अंगों का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। नाट्य-कला-सम्बन्धी ज्ञान को प्रश्नोत्तरों के रूप में प्रकट किया गया है। उदाहरण के लिए एक प्रश्न और उसका उत्तर नीचे दिया जाता है —

प्रश्न—"नाट्य किसे कहते हैं?"

उत्तर—जो सम्पूर्ण रसों को प्रकट करे और रसों में मुख्य होवे और चार प्रकार के अभि

नच जिसमें लाह्व होवें। कायादिकन के ग्रथ विभावादक व्यजित करे और सामाजिक पुरुषों के मन में रस को वढ़ाव दसा जो नत्य उसे नाट्य कहत हैं।"

(नाट्य दीपका)

इसी ढग पर सभी बातों का वर्णन किया गया है। प्राय इसन नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रथों के आधार पर नाट्यकला की बातों का वर्णन हुआ है। इसकी विशेषता इस बात में है कि हिन्दी म यह नाट्य-कला पर पहला पुस्तक है और गद्य में लिखी गयी है। पुस्तक के अन्त में नृत्य की तालें भी दी गई हैं। पुस्तक का इस दृष्टि से अपना निजी महत्व है। ग्रन्थ का रचना-काल नहीं दिया गया है। पर राजा भवानीसिंह का समय सम्भवत १६वीं शताब्दी का अन्त या बीसवीं का प्रारम्भ होगा।

रसिक गोविन्द

वृन्दावन-वासी रसिक गोविन्द महात्मा हरिव्यास के गद्दीनशिष्य थे। इनका कविता काल स० १८५० स १८६० वि० तक माना जाता है[1] और इनके बनाए नौ ग्रन्थों का पता चला है जिनम से एक, अर्थात् 'रसिक गोविन्दानन्दघन' नामक ग्रथ काव्यशास्त्र पर लिखा गया ग्रथ है।

रसिक गोविन्दानन्दघन

इस ग्रथ की रचना स १८५८ वि० की वसन्त पचमी के दिन समाप्त हुई थी। यह सात आठ सौ पृष्ठों का काव्यशास्त्र के सभी आवश्यक विषयों पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इसके अन्तगत अलकार, गुण, दोष, रस तथा नायक-नायिकाओं का बड़ा विशद वर्णन है। इस ग्रथ म रसिक गोविन्द जी ने उदाहरण तो बड़ी सुन्दर ब्रजभाषा के पद्य में दिए हैं, पर लक्षण ब्रजभाषा गद्य में हैं। लक्षणों के अतिरिक्त प्रश्न उत्तर द्वारा रस, अलकार आदि स सम्बन्धित अनेक शकाओं का समाधान किया गया है। साथ ही साथ इस ग्रंथ के अन्तगत भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त, मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' आदि का मत देकर फिर "ग्रंथकर्ता कौ मत" के रूप में अपना निर्णय दिया गया है। ऐसा विवेचन हिन्दी के कुछ ही ग्रथों में मिलता है। लक्षणों में तो अनेक आचार्यों का मत लिया ही है, उदाहरणों में भी अपने स्वतन्त्र सुन्दर उदाहरणों के साथ

---

१ देखिये शुक्लजी का हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ ३८२।

२ नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में रखी प्रति के आधार पर।

साथ दूसरे कवियों के भी उदाहरण दिए गये हैं। उदाहरणों के चुनाव में लेलक की परख की सराहना करनी पड़ती है। कहीं कहीं संस्कृत ग्रंथों के उदाहरणों के अनुवाद भी किये हैं, और रसिकगोविन्द जी के ये अनुवाद बड़े सुंदर बन पड़े हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लिखे गये ग्रंथों में 'गोविन्दानन्दघन' का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। इस ग्रंथ में साथ लक्षणों को संक्षेप में, संग्रह करके सं० १८८६ वि० में लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध पर इन्होंने 'लछिमन चंद्रिका' नामक पुस्तक की रचना की। कवित्व और विवेचन दोनों की दृष्टि से रसिकगोविंद कृत 'रसिकगोविन्दानन्दघन' का स्थान महत्वपूर्ण है। रसिक गोविन्द का स्थान उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रसिद्ध कवियों में है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि ने चरखारी नरेश विक्रमसाह के आश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना की रसराज तथा बलभद्र कृत नखशिख की टीकायें भी कीं और इसके अतिरिक्त 'काव्यविनोद' 'शृंगार मंजरी' 'अलंकार चिन्तामणि' 'काव्य विलास' 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' आदि काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथ भी लिखे। सम्वत् १८८० से १९०० तक इनका रचना-काल[1] माना गया है। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी'[2] इनका प्रसिद्ध सुन्दर ग्रन्थ है। काव्यत्व और आचार्यत्व दोनों की दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। इसमें 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इसका बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें नायिकाभेद तथा अनेक प्रकार के व्यंग्यार्थों का प्रदर्शन है। प्रतापसाहि के विचार से उत्तम काव्य, व्यंग्य प्रधान है—

विंग जीव है कवित में, सब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरनै विंग प्रसंग॥

व्यंग्य की शक्ति समझाने का उद्देश्य 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में प्रताप ने स्पष्ट कर दिया है।

"करि कवियन सों बीनती, सुकवि प्रताप सुहेत।
किय विंगारथ कौमुदी, विंग जानवे हेत॥'

'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में तीन बातें एक साथ चलती हैं, नायिका भेद, व्यंग्यार्थ और

---

१ देखिये रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ३२७

२ दतिया और टीकमगढ़ के राज-पुस्तकालयों में देखी गई प्रतियों तथा भारत जीवन प्रेस से मुद्रित पुस्तक के आधार पर।

अलंकार। तीनों बातों को लेकर ही यह मुख्यतया नायिकाभेद का वर्णन करता है। व्यंजना के विषय में उनका मत है कि जहाँ पर वाच्यार्थ के सामने रहते हुए उसके भीतर और चमत्कार पूर्ण अर्थ प्रकट होता है अथवा स्त्री के कटाक्षों की भाँति अधिक-अधिक अर्थ जान पड़ते हैं, वहाँ व्यंजना होती है। दोहों के द्वारा लक्षण स्पष्ट करने के उपरांत वे व्याख्या में उन्हें स्पष्ट करते हैं। व्यंजना के विषय में देखिये —

"वाचक के सन्मुख रहै अन्तर और अर्थ।
चमत्कार निकसै जहाँ कहि सो विंग समर्थ॥"
पुनः — 'जहाँ शब्द में अर्थ बहु अधिक अधिक दरसाइ।
तिय कटाछ सो व्यंजना कहत सकल कविराइ॥"

इसकी व्याख्या यों है—"ताको अर्थ। जैसे तिय के कटाक्ष के बहुत भाव प्रकट होते हैं तैसे शब्द ते बहुत अर्थ प्रकट होय सो विंजना ताके द्वै भेद एक तौ शब्दगति व्यंजना। एक अर्थगति व्यंजना।' किन्तु शब्दगतव्यंजना और अर्थगतव्यंजना का और अधिक विवेचन नहीं है। शब्द-अर्थगतव्यंजना का क्या तात्पर्य है इसको उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। ये शाब्दी और आर्थी व्यंजनायें ही हैं।

नायिका-भेद के प्रसंग में ही शब्द शक्तियों का वर्णन भी चलता है। अलंकार, चमत्कार के अन्तर्गत है। इसमें चमत्कार रसत्व और व्यंग्य इन दोनों से भिन्न है.—

"रस अरु विंग दुहुन ते, जुदौ परै पहिचानि।
अर्थ चमत्कृत शब्द में, अलंकार सो जानि॥"

अलंकारों के लक्षणों के बाद प्रतापसाहि अपनी कविता के उदाहरण देकर व्यंग्य नायिका-भेद तथा अलंकार आदि को अलग अलग समझाते हैं। इसके अन्तर्गत नायिका भेद का पूरा वर्णन तथा मुख्य मुख्य अलंकारों का विवरण आ जाता है। उदाहरण इस प्रकार से हैं कि क्रम से नायिका भेद का, अलंकारों के क्रमबद्ध विवरण के साथ वर्णन चलता जाता है। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' का मुख्य आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' है परन्तु वह आधार सैद्धांतिक है। कविता के उदाहरण इनके अपने हैं, और सुन्दर हैं। ग्रंथ के अन्त में आधार-विषयक बात का स्वयं कवि ने उल्लेख कर दिया है।

---

१ 'कहीं विंग दे नाइका, पुनि लच्छना निचार।
ता पाछे बरनन करौं, अलंकार निरधार॥"

—व्यंग्यार्थ कौमुदी

पिंग अर्थ अतिसय कविन को कहि पावै पार।
मम्मट मति कछु समुझि के कीन्हीं मति अनुसार ॥

इसका रचनाकाल १८८२ वि० है।।

इस प्रकार 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' का विद्वानों के बीच चमत्कार की दृष्टि से अच्छा आदर है।

काव्य विलास—प्रतापसाहि का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ काव्य विलास है जिसकी रचना स० १८८६ वि० में हुई। यह ध्वनि सिद्धांत का निरूपण करने वाला अत्यंत प्रौढ़ ग्रंथ है। ११३६ छन्दों में यह समाप्त हुआ है। इसका प्रधान आधार काव्य प्रकाश है। यह ग्रंथ गहरवार वंशी चरखारी नरेश महाराजा विक्रमाजीत के आश्रय में लिखा गया। जिन ग्रन्थ ग्रंथों का आधार इसमें लिया गया है वे हैं—काव्यप्रदीप, साहित्य दर्पण, रस गंगाधर, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रसतरंगिणी, रसमंजरी आदि। काव्य लक्षण, काव्य कारण, शक्ति आदि का विवेचन-पूर्ण वर्णन है। उदाहरणों और लक्षणों के बाद प्रतापसाहि ने गद्य व्याख्या में तात्पर्य को स्पष्ट किया है। शब्द शक्ति का विवेचन अत्यंत विद्वत्तापूर्ण है। ध्वनि के विविध रूपों का भी इसमें प्रौढ़ विवेचन है। रस का भी विवेचन इस ग्रंथ में बहुत ही परिपूर्ण है। इसे अनेक दृष्टियों से हिन्दी का 'काव्य प्रकाश' कहना चाहिये। रस के प्रसंग में वात्सल्य रस का भी वर्णन किया गया है।

प्रतापसाहि ने रस का वर्गीकरण भी तीन प्रकार से किया है—अभिमुख, विमुख और परमुख। यह वर्गीकरण केवल रामसिंह ने अपने रसविलास ग्रंथ में किया है। लक्षण प्रौढ़, विवेचन विद्वत्तापूर्ण तथा उदाहरण अत्यंत ललित हैं। विभाव का एक उदाहरण देखिये —

बादरन आदर दै दादुर मचावै सोर तैसे गिरिश्रृंगन मयूर मान मोरे देत।
पौन झकझोरत दुरेकै घहु घोरन वे धुरवा धुरारे सरि सागर हिलोरे देत।
कहै परताप निसि छेम विरही तन को धरकत हौं है चित बिज्जुल बिथोरे देत।
घूमै घूमै छिति मंडल को मंडि नभ मंडल त धाराधर धारन धरनि आज बोरे देत ॥

नवीन कृत रंग तरंग

'नवीन' कवि वृन्दावन के निवासी थे। इन्होंने नाभा नरेश जसवन्तसिंह के पुत्र मालवेन्द्र देवसिंह के इच्छानुसार 'रंग तरंग' ग्रंथ की रचना स० १८९९ वि० में की थी। रंग तरंग में रस और नायिका भेद का वर्णन किया है। नायिका भेद, रसमंजरी की पद्धति

पर है। इन्होंने अवस्था भेद से आठ प्रकार के स्थान पर दस प्रकारों का वर्णन किया है। उद्दीपन, अनुभाव, सचारी आदि भावों का वर्णन इसके बाद है और अन्त में रस वर्णन है। रस को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है—

मिलि विभाव अनुभाव अरु बिभिचारी के जाल।
याइ परिपूरण भयो, रस को रूप रसाल ॥
तनु विकार को पाइ ज्यों होत क्षीर दधि रूप।
त्यों थिर भावहि होत रस, बरनत सुकवि अनूप ॥

समस्त रसों का इसमें अलग अलग और स्पष्ट वर्णन है। शृंगार और वीर—इन दो रसों का वर्णन इसमें अत्यन्त सुन्दर है। नवीन के उदाहरण इसमें बड़े रोचक हैं। पावस का वर्णन करता हुआ एक उदाहरण देखिए—

फूलत कुसुम दल बल्लिन भरे हैं वृन्द सघन कदम्बन पै गुंज अलि जोरे की।
मोरन को सोर छोरी पवन झकोर घनघोर घोर परत फुहार जल थोरे की।
गावें तिय तीजैं भीजैं चुनरी 'नवीन' रंग जागि रही जोति की तरंग अंग गोरे की।
उमकि उमकि मूमि मूमि झीने झोंका देत, झूलत हिये में झाँ झूलनि हिंडौरे की॥

इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के अन्त तक रीति प्रवृत्ति का उत्कर्ष रहा। यह उत्कर्ष एकदम समाप्त नहीं हो गया। १६ वीं शताब्दी की समाप्ति के बाद भी काव्यशास्त्र के कुछ उत्कृष्ट ग्रन्थ जैसे, कविकल्पद्रुम, रावणेश्वरकल्पतरु, रसकुसुमाकर, जसवन्तयशोभूषण तथा अन्य आधुनिक ग्रंथ लिखे गये जिनका विवरण अगले अध्याय में दिया जायेगा। यह सब होते हुए भी हम १६वीं शताब्दी की समाप्ति के समय को रीति प्रवृत्ति के उत्कर्ष की समाप्ति का समय कह सकते हैं, और बीसवीं शताब्दी में ग्रंथों के प्रणयन का क्रम बँधा रहने पर भी जो इस प्रवृत्ति का ह्रास मानते हैं तो इस का भी कारण है। १६वीं शताब्दी के मध्य और अन्त के चरणों में काव्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखने की एक प्रबल रुचि और सम्मान्य प्रवृत्ति थी। कवि भी इस प्रवृत्ति को लेकर लिखने में ही अपनी कविता का साफल्य समझते थे और जनता के बीच भी ऐसे ग्रंथों का आदर था। राजदरबार में तो इस प्रकार के रीति-ग्रन्थों की परम प्रतिष्ठा थी ही। इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें इस बात में मिलता है कि प्रथम तो इस प्रकार की हिन्दी रीति-प्रवृत्ति को मुसलमान कवियों ने अपनाया और द्वितीय हिन्दू रीतिकार कवियों को मुसलमान शासकों के दरबारों में भी स्पृहणीय और सराहनीय सम्मान मिला। रसलीन, याकूब खां, रस खां आदि ऐसे ही कवि हैं, और आज़मशाह, कमरुद्दीन खां,

फाज़िल अली आदि ऐसे ही शासक। अत जब रीति-ग्रन्थों का एक ओर से प्रवाह सा बह रहा था और पाठक एव श्रोता भी उनका आदर करते थ, तभी उसका उत्कर्ष काल हो सकता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते यह बात न रह गयी। नवीन राजनीतिक जागृति तथा नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का जन्म और विकास हुआ। जनता के बीच अब धीरे धीरे रीति-ग्रथों का वह आदर न रह गया, राजदरबार भी अन्य समस्याओं में पड़े। अत अब कविता कुछ अधिक लौकिक उद्देश्ययुक्त और उपयोगी अभिप्रेत हुई। अंग्रेजी साहित्य और सस्कृत क सम्पर्क तथा विदेशी शासन न, विज्ञान तथा गद्य का अधिक प्रचार किया, और कविता को भी अब परम्परागत नहीं, वरन् नवीन दृष्टिकोण से देखने की लहर फैली। ऐसी दशा में अवकाश और निर्द्वन्द्वता क समय की प्रवृत्ति का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। अतः इस रीति-परम्परा के उत्कष को धक्का लगा। इस समय तो प्रत्येक कवि का कुछ न कुछ रीति-परम्परा पर लिखना कर्तव्य सा हो जाता था और बिना उस पर लिखे कवि के कवित्व को उचित सम्मान नहीं मिलता था। अतः १८५० और १६०० वि० क बीच और उसके आस पास का समय ही इस परम्परा के उत्कर्ष का समय है। इसके बाद उसका विस्तार बहुत कम हो गया, और परम्परा की भी शृङ्खला विच्छिन्न हो गयी। इस विच्छिन्न शृङ्खला और नवीन दृष्टिकोण का अध्ययन अगले अध्याय में किया जायेगा।

४

काव्यशास्त्र पर आधुनिक साहित्य

१ रीतिकालीन परम्परा का विस्तार

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि काव्यशास्त्र के विषयों, विशेषकर अलकार और नायिका भेद, पर लिखने की एक ऐसी प्रथा सी चल पड़ी थी कि कोई भी कवि इस विषय का एक आध ग्रथ लिखे बिना मानों सम्मान ही न पाता था। बहुत से कवियों ने तो काव्य प्रतिमा का उपयोग किसी शास्त्रीय आवश्यकता, प्रेरणा और योग्यता के बिना ही, काव्य शास्त्र के विषयों को चुनकर ही किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अलकार, नायिका भेद आदि ग्रंथों की बाढ़ सी आ गयी। ऐसी दशा में युग-परिवर्तन और काव्यादर्शों की दिशा विपर्यय की अवस्था में भी एकदम इस प्रकार की रचना का अन्त होना असम्भव था। रीतिकाल (१६०० वि०) के समाप्त होते होते हमारे देश समाज और साहित्य में जीवन के सघर्ष तथा देश प्रेम के चिन्ह स्पष्टतया परिलक्षित होने लगे थे। ऐसी दशा में समाज और देश की रुचि भी बदल रही थी और साहित्य की प्रवृत्ति भी।

साहित्य की प्रवृत्ति के बदलने का प्रथम कारण तो यही था कि साहित्य समाज और देश की प्रवृत्तियों का आदर्श होने के कारण उनके परिवर्तन के साथ साथ बदला करता है, किन्तु दूसरा कारण यह भी था कि अग्रेजों के जीवन और साहित्य के सम्पर्क में आने से हमारे देश के साहित्यिक भी स्वतत्र देशों के स्वच्छन्द साहित्य के समान ही साहित्य निर्माण करने की इच्छा और अभिरुचि से भर गये थे। अत स० १६०० वि० के बाद काव्यादर्शों में परिवर्तन होना आवश्यक था। हमारे काव्यशास्त्र पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा,

जिसका विशेष अध्ययन हम आगे करेंगे। इस स्थल पर इतना जानना आवश्यक है कि इस परिवर्तन-काल में काव्य या काव्यशास्त्र सम्बन्धी जो ग्रंथ लिखे गये वे दो प्रकार के थे—एक तो रीति-परम्परा को ही अपना कर चलने वाले ग्रन्थ, और दूसरे वे ग्रंथ जो आवश्यकतानुसार साहित्य और समाज की नाड़ी परखते हुए लिख गये। इन दूसरे प्रकार के ग्रंथों में रूढ़ि पर चलने का उतना आग्रह न था। इनमें स्वच्छन्द रीति से काव्यशास्त्र अथवा काव्यादर्शों-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया। इनमें विद्वत्ता और व्यापकता के साथ साथ नवीन दृष्टिकोण और नवीन काव्य के आदर्शों की परख-सम्बन्धी विशेषता भी मिलती है। इन ग्रंथों का अध्ययन इस अध्याय के दूसरे खंड में किया जायगा। अभी हम रीति-परम्परा पर लिखे गये ग्रंथों का अध्ययन करेंगे।

रीति-परम्परा पर लिखे गए आधुनिक कालीन ग्रंथों और रीति कालीन ग्रंथों में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। विशेषतया भेद इस बात में देखने को मिलता है कि आधुनिक कालीन अधिकांश ग्रंथों में लक्षण, व्याख्या तथा विवेचन के लिए गद्य का व्यवहार किया गया है, जब कि पूर्ववर्ती ग्रंथों में प्रायः गद्य का उपयोग नहीं के बराबर है, और जो है भी वह अधूरा है। अधिकांश ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण दोनों ही ब्रजभाषा पद्य में लिखे गये। दूसरा सामान्य भेद इस बात में देखने को मिलता है कि आधुनिक कालीन ग्रंथों में गद्य तो खड़ी बोली है ही, पद्य के भी उदाहरण खड़ी बोली से कहीं कहीं चुने गये हैं। इसके अतिरिक्त विवेचन की स्पष्टता, लक्षणों की पूर्णता, अलंकारों के पारस्परिक भेदों के निदर्शन तथा अन्य आलोचनात्मक विषयों पर जैसा विचार इन आधुनिक कालीन कवियों के ग्रंथों में हुआ है, वैसा पूर्ववर्ती कवियों के ग्रंथों में नहीं है, पर यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक कालीन लेखकों ने रीति-कालीन कवियों के ग्रंथों से खूब सहायता भी ली है। भूषण, मतिराम, देव, पद्माकर, दास दूलह, बैरीसाल आदि के ग्रंथों का आधार न केवल उदाहरण जुटाने में लिया गया है वरन् लक्षणों के उपस्थित करने में भी इनसे पूर्ण सहायता ली गई है।

विषय, आधुनिक ग्रंथों के लगभग वही हैं जो रीति कालीन ग्रंथों में स्थान पा चुके हैं और मान्यतायें और धारणायें भी वही हैं। अतः केवल यत्र तत्र गद्य के प्रयोगमात्र से ही हम इन्हें काव्यशास्त्र पर लिखे गये नवीन ग्रंथ नहीं कह सकते। इनके यथार्थ स्थान और महत्व रीति कालीन परम्परा से सम्बन्धित रहने में ही है और उन्हीं के साथ इनका तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकता है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि आधुनिक

टिप्पणी १ देखिये काव्यकल्पद्रुम और साहित्य-पारिजात।

कालीन ग्रंथ केवल काव्य-रसिक के लिए ही उपयोगी नहीं है, वरन् वे काव्य तथा काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों के भी बड़े काम के हैं और उसका प्रमुख कारण यह है कि इन ग्रन्थों के लेखकों ने प्रायः हिन्दी-ग्रंथों के साथ इन्हीं विषयों पर लिखे गये संस्कृत ग्रन्थों जैसे साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रसगंगाधर, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि का भी सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त हिंदी-ग्रंथों का प्रणयन किया है। अतः कुछ ग्रंथों को छोड़कर अधिकतर ग्रंथों में विद्वत्तापूर्ण और शुद्ध विवेचन है, यद्यपि विवेचन के विषय और प्रणाली पुराने ही हैं।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि रीतिकालीन परम्परा, आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही समाप्त नहीं हो गई। इसका विस्तार आज कल तक फैला हुआ है। मिश्रबन्धु (पं० शुकदेव विहारी और पं० प्रतापनारायणमिश्र) का लिखा 'साहित्य पारिजात' सं० १९९७ की रचना है। अतः यह स्पष्ट है कि हमारी सामाजिक अभिरुचि और साहित्यिकों के हृदय में रीतिकालीन विषयों पद्धति, प्रणाली, और प्रवृत्तियों का आजतक सम्मान है। भाषा और अभिव्यञ्जना के विचार से यह तो मानना ही पड़ेगा कि रीतिकाल का सफलता बहुत ऊँची है। अतः इस प्रकार की प्रवृत्ति अनावश्यक और असम्मानित नहीं हो सकती। इस हेतु आधुनिक-कालीन रीति परम्परा के विस्तार का अध्ययन हमारे लिए आवश्यक है।

इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय यह भी है कि समय के विचार से यद्यपि हम १९०० सम्वत् के बाद की रचनाओं को आधुनिक काल के अन्तर्गत रखने को बाध्य होते हैं, पर यथार्थ बात तो यह है कि आधुनिकता के दर्शन कविराजा मुरारिदान के 'जसवन्त यशोभूषण' और पोद्दार के 'काव्यकल्पद्रुम' से ही होते हैं। इनके पूर्व रामदास, सेवक ग्वाल, लछिराम आदि के ग्रंथ समय की गणना के अनुसार यद्यपि इस काल में आ गये हैं, पर हैं वे पूर्णतः शुद्ध रीतिकालीन ही। पर हम यहाँ निर्धारित कालक्रमानुसार ही चलेंगे।

रामदास का 'कविकल्पद्रुम'

रामदास का यथार्थ नाम राजकुमार था। ये काशी और प्रयाग के बीच हरिपुर के निवासी और नन्दकुमार के शिष्य थे। इनका बनाया कविकल्पद्रुम (साहित्यसार) टीकमगढ़ के 'सवाई महेन्द्र पुस्तकालय' में देखने को मिला। पुस्तक की रचना सं० १९०१ में आगरे में हुई थी जैसा कि आगे आने वाले दोहों से प्रकट है —

"मधुरितु सित मधुमास तिथि, रामजन्म गुरुवार ।
चन्द्र गगन पुनि श्रंक ससि, संवत सुभग विचारि ॥
नगर आगरा जमुन तट, रुचिर सुपावन ठाम ।
प्रारम्भ्यो एहि ग्रन्थ को, दिवस टीक शुभ जाम ॥"

यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है और ध्वनिसिद्धान्त को मुख्य आधार मानकर इसमें शास्त्र के अन्य अंगों का विवेचन किया गया है। 'कविकल्पद्रुम' के लेखक ने संस्कृत और हिन्दी के लगभग सभी प्रमुख ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर अपने ग्रंथ का प्रणयन किया है इसलिए इसकी पूर्णता और भी स्पष्ट हो जाती है। ग्रंथ के प्रारम्भ में ही काव्यशास्त्र विषयक आधारभूत ग्रन्थों का विवरण यों दिया गया है :—

'देखे भाषा संस्कृत ग्रन्थ अनेक विचारि ।
तिनके बरनत नाम हैं, जथा सुक्रम अनुसार ॥
तुलसी भूषन प्रथम हौं, भाषा काव्य प्रकाश ।
कविप्रिया रसिकप्रिया विरचित केशवदास ॥
रसरहस्य देखे बहुरि, भाषाभरन विशेषि ।
रसिक रसाल विलोकि पुनि भाषाभूषन देखि ॥
पुनि देखे रसराज अरु, देखे जगत विनोद ।
पद्माभरणादिक लखे, भाषा ग्रन्थ समोद ॥
रसमंजरी तरंगिनी, देखे काव्य विलास ।
काव्य प्रदीप विचारि पुनि, देखे काव्य प्रकाश ॥
लता कल्प कवि देखिकै, चन्द्रालोक बिचारि ।
देखि कुवलयानन्द, पुनि वाग्भटालंकार ॥
लखे वृत्ति रत्नावली, दर्पन वृत्ति निहारि ।
बानी भूषन आदि दै, छन्दोग्रन्थ निहारि ॥"

इतने ग्रंथों को देखने के बाद 'कविकल्पद्रुम' की रचना हुई।

काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों की ओर संकेत करने वाली तुलसी की चौपाई—"आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबन्ध अनेक विधाना" के आधार पर रामदास अपने विषय की आगे लिखे शब्दों में व्याख्या करते हैं —

"शब्दार्थ सम्बन्ध से कवित्त होता है तातें प्रथम आखर अर्थ कहे रुढ़ादि जात्यादिक भेद करके वाचक लाक्षणिक विंजक तीनि प्रकार के शब्द तथा वाच्य लक्ष्य व्यंग्य तानि प्रकार के अर्थ जयाक्रम शक्ति अभिधा लक्षना व्यंजना के भेद सहित इत्यादि शब्दार्थ भेद आखर अर्थ इनही है पद ते शब्दार्थ कैसे हैं अलङ्कृत नाना। अलंकारादि भेद शब्दार्थध्वनि के साथ ही कोई रीति करिकै लक्षित होत हैं ताते सलक्ष्यक्रम ध्वनि कहावै। तातें अलंकार शब्दार्थ के साथ ही वर्णित कियो।' इसी प्रकार और अन्य बातों में 'छंद प्रबन्ध अनेक विधाना। भाव भेद, रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा" आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस व्याख्या में विशेषता यह है कि काव्यसिद्धान्तों को तुलसी की चौपाइयों से सम्बद्ध करके उसे हिन्दी का स्वरूप दिया गया है जिससे विवेचन की मौलिकता झलकती है। चार पाइयों के आधार से काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करना यथार्थ विद्वत्ता का लक्षण है।

छंद व्याख्या को साहित्य के क्षेत्र से अलग मानकर उस पर बहुत ही संक्षेप में कथन है। अन्य बातों को बताते हुए काव्य-स्वरूप को समझाने के लिए वे कहते हैं—

'सु ति नृप समित सुहृद मित्र ई पुरान कामिनी समित नाटकादिक बखानिये।
आखर अरथ अविवक्षित विवक्षित तिरस्कृत सङ्क्रमित वाच्य पहिचानिये॥
असंलक्ष्य क्रम ध्वनि जाते रस भाव मिश्र लक्ष्यक्रम शब्द अर्थ दोहुन ते मानिये।
दूषन रहित वस्तु भूषन सहित गुन रामदास काव्य रूप पोरे ही में जानिये॥

इस प्रकार काव्य हेतु (प्रतिभा और अभ्यास), काव्यफल आदि के साथ वे भाषाभेद के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भौतिक भाषा पर विचार करते हैं। इन भाषाओं में काव्य तीन प्रकार का है, छंद-बद्ध (पद्य), गद्य और चम्पू। नाटक में संस्कृत और प्राकृत दोनों का मेल होता है। भाषाओं में बंगाली, मरहठी, तैलंग आदि की सीमा पर प्रकाश डालते हुये अन्त में व्रजभाषा को सर्वोत्कृष्ट काव्योपयोगी भाषा मानकर वे उसकी प्रशंसा करते हैं। तदनन्तर शब्दार्थ भेद-वर्णन अन्य आचार्यों का सा ही है।

इन सभी विषयों के विवेचन में रामदास की शैली बड़ी सरल और सुस्पष्ट है, क्रम बड़ा वैज्ञानिक है और प्रत्येक स्थल पर लेखक की विद्वत्ता झलकती है। दोहों में भी उनके लक्षण, गद्य की भाँति स्पष्ट हैं और उदाहरण भी समुचित कवित्व-पूर्ण हैं। अभिधामूला ध्वनि का उदाहरण देखिए—

"गई अकेली आज हौ, सघन निकुन्ज निहारि।
भभरि भगी भूषन बसन, तन की सुरति बिसारि ॥"

—इस छंद में सघन निकुञ्ज म प्रिय से भेंट व्यग्य है। रस के अंगों, भावभेदों आदि का वर्णन भी ऐसा ही है और अलंकार, गुण, दोष आदि का वर्णन है। ध्वनि सिद्धांत का आधार लेकर यह साफ ढंग से विषयों का विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है। इसमें काव्य, उदाहरण के रूप में ही हैं। अधिकांश पुस्तक आचार्यत्व-गुण से भरपूर है। इसमें काव्य शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन है और नायिका भेद का विषय बिलकुल छोड़ दिया गया है। पिछले काल के ग्रंथों म 'कविकल्पद्रुम' का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये।

चन्द्रशेखर वाजपेयी

चन्द्रशेखर वाजपेयी का जन्म पौष शुक्ल १० सं० १८५५ में जिला फतेहपुर के मुअज्जमाबाद नामक गांव में हुआ था। इनके पिता मनीराम भी अच्छी कविता करते थे। चन्द्रशेखर असनी निवासी महापात्र करनेश कवि क शिष्य थे। सं० १८७७ में दरभगा गये और ७ वर्ष तक उस प्रदेश में रहे। तत्पश्चात् जोधपुर नरेश महाराज मानसिंह के यहाँ १००) मासिक वृत्ति पाते रहे। इसके बाद पटियालानरेश कर्मसिंह और उनके पुत्र नरेन्द्र सिंह क यहाँ शेष जीवन व्यतीत किया। इनके पुत्र गौरीशंकर बाद को पटियाला में रहते रहे। चन्द्रशेखर का स्वर्गवास सं० १९३२ वि० में हुआ।

इनके लिखे ग्रंथ हम्मीर हठ, विवेक विलास, रसिक विनोद, हरिभक्ति विलास, नखशिख, वृन्दावनशतक, गुरु पचाशिका, ज्योतिष का ताजक, माधवी वसंत हैं।

रसिक-विनोद—रसिक विनोद नरेन्द्रसिंह क आश्रय में लिखा हुआ रस और नायिकाभेद पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इसकी रचना सं० १९०३ वि० म हुई थी। निम्न लिखित दोहा इसका प्रमाण है—

संवत राम अकाश ग्रह, पुनि आतमा विचार।
माघ शुक्ल सनि सप्तमी, भयो ग्रंथ अवतार ॥ ४

इसमें ७४७ छन्द हैं। इस ग्रंथ का आरंभ नूतन ढंग से किया गया है। सबसे पहले शेखर ने लक्षण में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव, ये तीन दोष माने हैं। व्यग्यार्थ का वर्णन करने के उपरान्त शेखर का मत है कि व्यग्य-द्वारा ही नायक-नायिका का ज्ञान होता है। नायिका-नायक भेद 'रस मंजरी' के अनुसार है।

इस वर्णन करने के पूर्व रस पर विचार करते हुये शेखर ने लिखा है—

बरनत हैं सब सुकविजन, रस कविता को सार।
तामें भाव प्रधान है ताको करो विचार॥

भाव मनोविकार रूप है। यह स्थायी, अनुभाव और सचारी इन तीन रूपों म हैं। भाव को स्पष्ट करते हुये चद्रशेखर ने कहा है कि दृष्ट वस्तु के अनुकूल हाने पर मन मग्न हो जाता है और इस प्रकार उसकी इच्छा रूप वासना भाव कहलाती है। रस का अनुभव कराने वाले अगविकार अनुभाव हैं तथा अनक रसों म या अनक विधि से सचारित करने वाले भाव संचारी भाव हैं। रस का निरूपण इन्होंन भरत के मतानुसार किया है। नवों रसों का 'रसिक विनोद' ग्र थ में सांगोपांग निरूपण किया गया है काव्य की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है। और लक्षण की दृष्टि से भी सुबोध ग्रथ है।

ग्वाल कवि

ग्वाल नाम के दो कवि हो गये हैं। प्रथम के छद कालिदास-द्वारा सकलित हज़ारा में हैं अत व निश्चय ही अठारहवीं शता दी के पूवाद्ध या उसके पहले हुए। विक्रम की २०वीं शताब्दी के प्रथम चरण में रचना करने वाले ये ग्वाल ब्रह्मभट्ट बन्दीजन थे। नवनीत चतुर्वेदी के अनुसार ग्वाल कवि के पिता का नाम सेवाराम था। परन्तु इनके ग्रथ रसिकानन्द की वश परम्परा के अनुसार माथुर राव के पुत्र जगन्नाथ राव और उनके पुत्र मुकुन्द राव थे। मुकुन्द राव के पुत्र मुरलीधर और मुरलीधर के पुत्र ग्वाल थ मुरलीधर भी अच्छे कवि थे और भरतपुर के राजा सूरज मल की सभा में इनका अच्छा सम्मान था।

ग्वाल का प्रारंभिक जीवन वृन्दावन में व्यतीत हुआ। फिर ये काशी विद्या पढ़ने गये और काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र के ग्रथों का अध्ययन किया। इसके बाद मथु ा में स्वामी दयानन्द क प्रसिद्ध गुरु स्वामी विरजानन्द जी से का यप्रकाश ग्रथ पढ़ा। ग्वाल ने बरेली निवासी खुशहालराय को अपने का यगुरु के रूप में स्वीकार किया है। इनके 'नखशिख' ग्रथ में इसका उल्लेख यों हैं—

श्री खुशाल कवि मुकुट मनि ताको शिष्य विकास।
बासी वृन्दाविपिन को श्री मथुरा सुखवास॥

ग्वाल ने अनेक रा यों का भ्रमण किया था। नाभा राज्य के जसवन्त सिंह की आज्ञा से इन्होंने स १८७९ के लगभग जमुनालहरी लिखी। महाराज रणजीतसिंह के उत्तराधिकारी महाराज खड्गसिंह के ग्वाल दरबारी कवि थे। राजस्थान मे टोंक क नवाब की इच्छा से 'कृष्णाष्टक' बनाया। ये रामपुर के नवाब के यहाँ भी रहे।

क साथ भी जाता ह इसीलिए उस व्यभिचारी भाव कहत ह, यह अधिक चुभती व्याख्या ह। सात्विक भावों क प्रसग म ग्वाल ने एक नवीनता रक्खी ह। उनका कथन है कि पाँच ज्ञान इन्द्रियों म स प्रत्यक, आठ सात्विक भावों को प्रकट कर सकती है और इस प्रकार चालीस सात्विक भाव हुए देखिये —

"पाँचो इन्द्रिन जोग ते, इक इक प्रगटत आंच।
चख श्रोत्र पुनि घ्रान कहि, रसनादिक् ये पाँच॥
पाँच पाँच विधि ते प्रगट, होत जु सात्विक भाव।
इमि चालीस विधि में किये, नूतन विधि दरसाव।"

किंतु उपयुक्त कथनों में नवीनता अधिक और तथ्य कम जान पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय आठ सात्विक भावों को प्रकट नहीं कर सकती।

ग्वाल देव की भाँति ही रस के दो भेद मानते हैं—अलौकिक और लौकिक। रस को ब्रह्मानन्द के समान मानकर वे कहते हैं —

"चिदानन्द घन ब्रह्म सम, रस है श्रुति परमान।
दुविधि सरस लौकिक जु इक, दुतिय अलौकिक आन॥
रस जु अलौकिक है त्रिधा, स्वाप्निक एक विचार।
मनोरथिक सुजानिये, औपनयनिक कहि धार।
औपनयनिक जो रस लिख्यो, सो नौ विधि मतिधीर॥"

ग्वाल के विचार से स्वापनिक और मनोरथिक यह रस की अनुभूति मात्र है वह काल्प निक आधार पर ह, प्रत्यक्ष आधार पर नहीं। नौ रस ग्वाल के अनुसार औपनयनिक क भेद हैं, पर देव के विचार स काव्य क नौ रस लौकिक रस के भद हैं जो कि तीन अलौ किकों, स्वापनिक, मानोरथ और औपनयनिक से भिन्न हैं—जैसा कि नीचे क दोहे से प्रकट ह —

"कहत अलौकिक त्रिविधि विधि, यहि विधि सुधिवन्त सार।
अब बरनत कवि देव कहि, लौकिक नव सु प्रकार॥"[१]

इस प्रकार ग्वाल देव के विपरीत, काव्य रस को अलौकिक मानते हैं।

टिप्पणी—१ दखिये लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'भावविलास' पृ० ६७ प्रकाशक तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय, दारागज संवत् १९९१ वि० संस्करण।

शृङ्गार रस का वर्णन सबसे प्रथम है। आलम्बन के अन्तर्गत नायक नायिका भेद का वर्णन है। कहीं कहीं नवीनता नायिका भेद के अन्तर्गत दिखलाई देती है जैसे तुल्यसाध्या दुःखसाध्या, बहुकुटुम्बिका आदि नायिका के भेद। १५ प्रकार की नायिकाओं का वर्णन 'रसरंग' में हुआ है। उद्दीपन के अन्तर्गत सखी, हाव आदि के वर्णन और वियोग के अन्तर्गत प्रवास, पूर्वानुराग, मान और वियोग की दश दशायें आदि विषय हैं। उद्दीपन के रूप में षट् ऋतु का वर्णन है जो काव्य की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है। छठीं उमंग में शेष आठ रसों का वर्णन है और इस प्रकार आठ उमंगों में 'रसरंग' समाप्त हुई है। काल का विवेचन देव की कोटि का है।

सेवक

सेवक का जन्म सं० १८७२ वि० में हुआ था। ये असनी के रहने वाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके पूर्वज देवकीनन्दन पहले सरयूपारी मिश्र थे, परन्तु बारात में भाँटों की तरह छन्द पढ़ने के कारण जाति-च्युत कर दिये गए थे। उसके बाद इन्होंने भट्ट वंश में ही विवाह किया और उसी प्रकार जीवन व्यतीत किया। इन्हीं देवकीनन्दन के पुत्र एक ठाकुर कवि थे जिनकी परम्परा में ऋषिनाथ के प्रपौत्र ठाकुर के पौत्र तथा धनीराम के पुत्र सेवक कवि थे। इन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है —

श्री ऋषिनाथ को हौं मैं पनाती औ नाती हौं या कवि ठाकुर केरो।
श्री धनीराम को पूत मैं सेवक शंकर को लघुबन्धु ज्यों चेरो।
मान को बाप बबा कसिया को चचा मुरलीधर कृष्ण हू केरो।
असिनी में घर काशिका में हरिशंकर भूपति रक्षक मेरो।

इससे यह पता चलता है कि हरिशंकर इनके आश्रयदाता थे और सेवक ने यह संकल्प किया था कि वे बाबू हरिशंकर को छोड़कर और किसी के भी यहाँ न जायेंगे चाहे वह कितना बड़ा राजा क्यों न हो। सेवक ने अपने संकल्प को अन्त तक निभाया।

सेवक ने वाग्विलास नामक ग्रंथ काव्यशास्त्र पर लिखा है जिसमें रसों, भावों तथा नायक-नायिका भेद का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनके रचे हुए पीपा प्रकाश, ज्योतिष प्रकाश, और नखशिख ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं। सेवक अपने पितामह ठाकुर की ही भाँति अच्छी कविता करते थे। भावों के दो मार्मिक वर्णन देखिये —

दधि घाघृत आद्धृत भाल मैं दखि गये अंग के रंग छीन से ह्वै।
दुख मौचक वारो कहै न बनैं सिसु मयंक सोहै मलीन से ह्वै।

मृगराज क दाघ निधे घनसी के विचारे मले मृगमीन से ह्वै ।
हरि आय विदा को मद्द के सही भरि घाय दोऊ छा छीन से ह्वै ॥
उनये धन दखि नये उनये तुनये म लता द्रुम फूलो करें ।
सुनि सवक मत्त मयूरन क सुर दादुरऊ भलुक्लो करें ॥
सरपैं दरपैं दुयि दामिनि वीढ यही मन मांह कबूलो करें ।
मन भावती के सग मैन मइ घनस्याम सवै निसि मूलो करें ॥

लछिराम

लछिराम का समय २०वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। इनका जन्म स० १८९८ में हुआ था। य अमादा जिला बस्ती के निवासी और पलटनराम क पुत्र थे। ये अनेक राजाश्रयों म गय और उनफ नाम स अनक ग्र थों की रचना भी की, पर अधिकांश अयोध्या नरश और बस्ती क राजा क यहां रहे। वैस तो इन्होंने कइ ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर लिखे जैस —मुनी श्वर कल्पतरु, महेन्द्रभूषण, रघुवीर विलास, रामचन्द्र भूषण, कमलानन्द कल्पतरु, आदि पर रावणेश्वर कल्पतरु (महाराज गिद्धौर क लिए लिखा) और महेश्वर विलास, (रामपुर जिला सीतापुर के ताल्लुकदार महेश्वर बख्श सिंह क लिए लिखा) प्रसिद्ध ग्रथ हैं। अधिकाश ग्रथ, भारत जीवन प्रस से मुद्रित हो चुक हैं। ये ग्रथ अधिकतर देव क ग्रथों की भाँति है जिनम विषय लगभग वही है कुछ परिवर्तन से दूसरे आश्रयदाता के नाम कर दिये गए हैं। इनका स्वर्गवास स० १९६१ म अयोध्या में हुआ था।

महेश्वर विलास

'महेश्वर विलास' नवरस और नायिका भेद पर लिखा ग्रथ है। इसक अन्तर्गत नख शिख वर्णन भी है, रस का विवेचन उस विस्तार से नहीं जिस विस्तार स नायिका भेद है। लक्षणों की ओर कम ध्यान है, उदाहरणों की ओर अधिक। लक्षण बरवै और दोहों में तथा उदाहरण कवित्त, सवैया तथा बरवै छन्दों म लिखे गये हैं। इनका महत्व कवित्व की दृष्टि से ही विशेष है विवेचन की दृष्टि स उतना नहीं।

रामचन्द्र भूषण

'रामचद्र भूषण' अलकारों पर लिखा हुआ ग्रथ है। इसम अधिकांश छन्दों म राम का यश गान हुआ है। अलकार के सम्बन्ध में लछिराम की धारणा यह है कि छन्द में जो एक अलग चमक या कान्ति क समान वस्तु होती है, वही अलंकार है। इसका शब्द और अर्थ दो रूपों म वर्णन किया गया है। अलंकारों का लछिराम ने विस्तार क साथ

वर्णन किया है। कुछ नवीन भेद और प्रभेद भी इनके अन्तर्गत दिखलाई देते हैं जैसे श्लेष का युगसक्रमित एक भेद, तवकोपमा, मुक्त प्रकेशी, क्रियोक्ति, निरुक्ति।

तवकोपमा (स्तवकोपमा), जहाँ पर उपमेय और उपमान सदृश अर्थ में एक दूसरे के अनुरूप हों, जैसे—

शरद कलाधर सा बदन बिशाल जैसो,
बिहँसनि तैसी चारु चन्द्रिका उमग की।
जुगल जसीले जिमि अरविन्द से ई नैन,
लखनि तिरीछी तिमि आनन्द प्रसन्न की॥

इसी प्रकार मुक्तप्रकेशी वहाँ माना है जहाँ एकावली के बीच प्रश्नोत्तर आ जाता है जैसे—

शोभा सरवर के बिसाल हैं मृणाल कैसे, जैसे सुघड़ कलभ सवारे विधि धीर के।
कैसे सुंद कलभ सँवारे पर धीर विधि, जैसे ये भुजग भाये मदन सरीर के।
लछिराम कैसे हैं भुजग सुषमा सों भरे जैसे मरकत खभ खलक सुधीर के।
मरकत खभ कैसे परम प्रचंड जैसे भुजदण्ड जुगल जसीले रघुबीर के॥

इस प्रकार रामचन्द्र भूषण अलंकार पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

रावणेश्वर कल्पतरु

अयोध्यानरेश मानसिंह देव के आश्रय में रहने वाले कविराय लछिराम का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ 'रावणेश्वर कल्पतरु' है जिसको उन्होंने गिद्धौर नरेश महाराज रावणेश्वर प्रसाद सिंह के प्रसन्नतार्थ स० १९४७ में निर्मित किया था जैसा कि ग्रन्थ के अन्त में उल्लिखित निम्नांकित कवित्त से प्रकट है—

स्वर फल रस इन्दु सम्वत असित पच्छ भादों भौम पंचमी सु यौग सुभ ज्ञानी को।
श्री गिद्धौर भूप रावणेश्वर प्रसाद देव भाल आ अमर छत्र सकर भवानी को॥
द्विज मानसिंह कवि बन्दीजन लछिराम प्रबंध बसैया दसरथ राजधानी को।
बिरच्यो सफल रावणेश्वर कलपतरु बिरद बिलास रामकृष्ण वरदानी को॥

कल्पतरु में बारह कुसुमों का वर्णन है। प्रथम कुसुम में मंगलाचरण राजवंश, देश आदि का वर्णन है और दूसरे में काव्य प्रयोजन तथा काव्य भेदों पर प्रकाश डाला गया है। काव्य के भेद उत्तम, ध्वनि काव्य, मध्यम तथा अधम काव्य चन्द्रालोक आधार पर दिये गये हैं। तृतीय कुसुम में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर शब्द भेद तथा अभिधा शक्ति

का वर्णन है। लक्षणा का वर्णन भी चौथे कुसुम में काव्य प्रकाश के मतानुसार ही है। पंचम कुसुम में गम्भीरावृत्ति—व्यंजना का वर्णन है। व्यंजना के लिये वाचक और लक्षक भाजन के समान हैं। भिखारीदास के समान ही लछिराम ने भी लिखा है —

> वाचक लच्छक शब्द ये, राजत भाजन रूप।
> व्यंजन नीर सु बेस कहि, बरनत सुकवि अनूप॥ (५ १)

इसके पश्चात् सामान्य ढंग पर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का वर्णन है। उदाहरणों में जो ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य है उसको लछिराम ने तिलक द्वारा स्पष्ट किया है। यह तिलक व्रजभाषा गद्य में है। रस का वर्णन गुणीभूत व्यंग के बाद है, और ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के साथ नहीं। सप्तम कुसुम में रस का वर्णन है। रस का लक्षण भरत के मतानुसार करते हुए लछिराम ने लिखा है —

> मिलि विभाव अनुभाव थर, सचारी सविलास।
> अपर सुभाइ भाव को, परिपूरन सु प्रकास॥ (७ ३)

भाव को लछिराम ने रस का मूल माना है। उनका कथन है कि जो चित्त के स्वभाव को रस की अनुकूल अवस्था में बदल देवे वह भाव है।[1] ये भाव दो प्रकार के हैं — एक स्थायी भाव, दूसरे सचारी भाव। स्थायी भाव अपने रस में ही लीन रहते हैं, पर सचारीभाव सभी रसों में सचार करते हैं। स्थायीभावों के लछिराम के मत से दो प्रकार है, एक शारीरिक दूसरे मानसिक। इनमें से शारीरिक सचारी भाव सात्विक भाव हैं और मानसिक सचारी तेंतीस व्यभिचारी भाव हैं जो आचार्यों द्वारा माने गये हैं। इस प्रकार से नौ स्थायी, आठ तनसचारी और तेंतीस मनसंचारी भाव मिलकर कुल पचास भाव हैं। स्थायी भावों के कारण विभाव होते हैं। और स्थायी भाव को अनायास प्रकट करने वाले व्यापार अनुभाव हैं।[2] इस प्रकार लछिराम ने अन्य आचार्यों से भावों का कुछ भिन्न वर्गीकरण किया है। इन्होंने दो ही भाव माने हैं और विभाव तथा अनुभाव को कारण और प्रकाशक व्यापारों के रूप में माना है जब कि अधिकांश आचार्य इन स्थायी, सचारी, विभाव, अनुभाव सभी को भाव के भेद मानते हैं साथ ही प्राचीन आचार्य सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखते हैं जब कि लछिराम जी उन्हें संचारी भावों का ही भेद मानते हैं। यह भेद होते हुए भी लछिराम का दृष्टिकोण समीचीन ही

---

१ देखिये रावणेश्वर कल्पतरु (सन् १८९१ में भारत-जीवन प्रेस से मुद्रित) पृ० ८८, दोहा ६

२ रावणेश्वर कल्पतरु, पृ ८६ १०

है। कठिनाइ केवल अनुभाव और सात्विक भावों के भेद म पड़ती है क्योंकि इन दोनों म भेद होते हुए भी कोटि एक ही ह।

लछिराम ने यह भी स्पष्ट लिख दिया ह कि काव्य के लिए नौ रस माने गये हैं जब कि नाटक में भरत के मत से आठ ही रस हैं। इसके पश्चात् रसों का वर्णन है। इसमें और सभी बातें तो सामान्य पद्धति पर हैं। केवल रति के अन्तर्गत लछिराम ने बाल विषयक रति और बन्धु विषयक रति भावों का भी वर्णन किया है, और इन्हें भाव ही माना है। रसों के वर्णन और उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। अष्टम कुसुम म भावोदय, भावसंधि, भावशबलता और भावशांति का वर्णन है और उसके पश्चात् भावाभास, रसाभास तथा रसवदादि का। नव कुसुम म गुणों का वर्णन है। इन्होंने प्रथम तो माधुर्य ओज, प्रसाद, तीन ही गुणों को माना है पर बाद को प्राचीनों के मतानुसार दस गुणों का भी उल्लेख किया है।

दसवें कुसुम में अलंकारों का वर्णन है। अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रायः स्पष्ट हैं पर कहीं कहीं लक्षण और कुछ उदाहरण अशुद्ध हैं। जैसे अधिक तद्रूप का उदाहरण, व्यतिरेक का उदाहरण सा बन गया है देखिए —

> वाके हित कमल मलीन परैं सांझ ही ते, वाके हित नित भरे आनन्द सुमन में।
> कवि लछिराम जाम चारि में तपत वह आठो जाम आकर अखंड या भुवन में॥
> हरित विटप जाल सूपन करत वह, भूपन भरन यः जीवन सुवन में।
> राव रामचन्द्र या प्रभाकर ते रावरे को अधिक प्रभाकर प्रताप त्रिभुवन में॥[1]

इसी प्रकार छठवीं विभावना का उदाहरण भी व्याघात के उदाहरण सा है। यथा—

> "ता छन सों बिलखि बिसूरै अनुराग फाग ऊधमकरी जो कान्ह तीसरे पहर में।
> लछिराम बानगी समीर चिनगी सी लागें छोटै भरी ज्वाल पाई बाग की महर में॥
> चाटतर पन्नगी सा लै रही लहर साँझ कहर परी हौ विरहीन के शहर में।
> ऐसे कहा रसिक सिरोमनि सुजान बिन बासर बसन्त के बिसासो दुपहर में॥"[2]

इसी प्रकार पर्यस्तापह्नुति और समासोक्ति अलंकारों के उदाहरण भी त्रुटिपूर्ण हैं।

---

१ 'रावणेश्वर कल्पतरु' भारत जीवन प्रेस १८६२ में मुद्रित पृ० १४८।

२, रावणेश्वर कल्पतरु भारत-जीवन प्रेस १८६२ में मुद्रित पृ २१४।

'रावणेश्वर कल्पतरु' के एकादश कुसुम में शब्दालंकारों, रुचियों तथा भट्टाचार्य के मतानुसार चित्रालंकारों का वर्णन है। अन्तिम और द्वादश कुसुम, दोष निरूपण का है। दोष चार प्रकार के हैं, शब्ददोष, वाक्यदोष, रसदोष तथा अर्थ दोष। इन चारों वर्गों के दोषों का सविस्तार वर्णन है। इस दोष-वर्णन में लछिराम ने भी अपने 'रावणेश्वर कल्प तरु' केशवदास द्वारा कविप्रिया में वर्णित अनेक दोषों जैसे, बधिर, मृतक, पातादुष्ट आदि पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। अन्य लेखकों ने प्रायः काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के आधार पर ही दोषों का वर्णन किया है, पर केशव और लछिराम का अलंकारों का आधार चन्द्रालोक है। डा० रसाल के विचार से गुण-रस रसगंगाधर के आधार पर, ध्वनि काव्यप्रकाश के तथा चित्रकाव्य भट्टाचार्य के ग्रंथ के आधार पर लछिराम ने लिखे हैं।[1]

रावणेश्वर कल्पतरु काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण और बड़ा ग्रंथ है और रीतिकालीन परम्परा की अन्तिम कड़ियों में लछिराम की गणना है। उसके बाद फिर राजाश्रय में रह कर काव्यशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखने वाले एकाध कवि ही हुए हैं। अतः इस दृष्टि से लछिराम का महत्वपूर्ण स्थान है।

कविराजा मुरारिदान कृत 'जसवन्त भूषण'

कविराज मुरारिदान का 'जसवंत भूषण' बड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है इसमें संक्षिप्त रूप से काव्यशास्त्र-सम्बन्धी मोटी बातों का वर्णन है। इसकी रचना १६५० विक्रमीय सम्वत् में समाप्त हुई थी। इसके अन्तर्गत काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, गुणरीति, अलंकार आदि का वर्णन है। इस ग्रंथ की रचना के आधार अग्निपुराण, नाट्यशास्त्र, चिन्तामणिकोष, चन्द्रालोक आदि ग्रंथ हैं, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि नहीं। अतः प्रच लित परिभाषाओं में भी कहीं कहीं अन्तर है। इसके अतिरिक्त कविराजा की मान्यता है कि समस्त अलंकारों के नाम ही स्वयं लक्षण हैं।[2] और इसी दृष्टि से उन्होंने अलग लक्षण न लिखकर अलंकारों के नाम की व्युत्पत्ति से अपनी व्याख्या द्वारा लक्षण निकाला है जो प्रायः अस्पष्ट है। यह तो सिद्ध ही है कि अलंकारों के नाम मनुष्यों के नाम की भाँति ऐसे तो नहीं है कि निरर्थक हों, पर उनके भीतर अर्थ होने हुए भी लक्षणों का स्थान ये ग्रहण नहीं कर सकते लक्षण तो, उनकी प्रमुख और स्पष्ट विशेषता को लेकर समझाने और

---

१ देखिए एवोल्यूशन आव हिन्दी पोइटिक्स ले डा० रसाल पृ ५८।

२ जसवन्त भूषण प्रस्तावना पृ ३।

समझने के लिए तथा उनकी सामञ्जस्य स्पष्ट करने के लिए, आवश्यक है। उदाहरणार्थ जैसे कोई प्रस्तुतांकुर और अतिशयोक्ति, जिनके नाम का अर्थ लगभग एक सा है, का अन्तर समझना चाहे तो बिना लक्षण के नहीं समझ सकता। अतः बोधक नाम होने के साथ-साथ भी इन लक्षणों की आवश्यकता है जिससे कि अलङ्कार का स्वरूप पूर्णतया हृदयङ्गम किया जा सके।

कविराजा ने ऐसा साहस केवल नवीनता के फेर में पड़कर किया है जैसा कि उनके निम्नलिखित कथन से ज्ञात होता है —

"राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रंथ निर्माण करने का आरम्भ करके विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अलङ्कारों के ग्रंथ अनेक हैं पिष्टपेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालना चाहिए कि जिससे विद्वानों को इस ग्रंथ के अवलोकन की रुचि होवे और विद्यार्थियों को इस ग्रंथ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे।"

इस प्रेरणावश ही उन्होंने सभी नामों से ही लक्षण निकाले और आवश्यक व्याख्या करके अपना ग्रंथ निर्माण किया। इसका पूर्ण विस्तार 'जसवंत जसोभूषण' में मिलता है।[1] 'जसवंत भूषण' ग्रंथ मारवाड़ नरेश महाराज जसवन्तसिंह के लिए बनाया गया और अधिकांश भाग तथा उदाहरण उन्हीं से सम्बन्ध रखते हैं। सबसे प्रथम राजवंश का वर्णन है जिसके साथ महाराज का वंश-वृक्ष है फिर कवि-वंश का वर्णन है, फिर नाम और लक्षण-विचार है। इसके पश्चात् काव्य-स्वरूप निरूपण के प्रसंग में कविराजा, पण्डितराज जगन्नाथ के समान रमणीय अर्थ कहने वाले शब्द को काव्य मानते हैं।[2] अभिधा-लक्षणा-व्यंजना का आधार दाव के 'काव्य निर्णय' से प्राप्त जान पड़ता है। गुण और रीति पर बहुत ही संक्षेप में साधारण रूप पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् अलङ्कारों का वर्णन है।

कविराजा चित्रकाव्य को शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत नहीं मानते। उनका कथन है—

"प्राचीन कमलाकार, धनुषाकार, इत्यादि रूप से काव्य लिख आवें उनको चित्र काव्य कहकर शब्दालंकार के प्रभेद मानते हैं, सो भूल है, क्योंकि शब्द में रहकर काव्य की शोभा करे वह शब्दालंकार है। सो उक्त काव्यों की लेख क्रिया काव्य की कुछ भी शोभा नहीं करती। वह तो अष्टावधानादि साधनवत कवि की क्रिया चातुरी मात्र है। एवं

---

१ जसवन्त भूषण प्रस्तावना पृ० २३।
२ „ „ „ २७।

ए राइर काव्य का जाना चाहिए।"[1] यह विचार ठीक है, यह सब चित्रकला अवश्य है, और जैसे कि कविता श्रवणमात्र से भी आनन्ददायी होता है, वैसी इस चित्रकाव्य में जिसमें कि लेप का ही चमत्कार है कोई विशेषता नहीं। अतः आजकल तो चित्रकाव्य समाप्त सा ही है।

अर्थालंकारों के वर्णन में उपमा को प्रमुख मानकर सबसे प्रथम इसका वर्णन है। जैसा पहले बताया जा चुका है इस वर्णन में नाम को लक्षण मानने की ही नवीनता है। इसके उदाहरण के लिए हम उनके उपमा के नाम-लक्षण की व्याख्या लेते हैं। वे लिखते हैं। 'उप, उपसर्ग का अर्थ है समीपता। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने 'उप सामीप्य' 'माङ्' धातु से 'म' शब्द बना है। 'माङ्' धातु मान अर्थ में है 'माङ् माने'। मान, मिति और विज्ञान ये पर्याय शब्द हैं। " 'उप सामीप्यात् मा मान उपमा।' अर्थ समीपता करके किया हुआ मान अर्थात् विशेषज्ञान। " एक वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है, न्यूनता का, अधिकता का, और समता का। सो वर्णनीय की न्यूनता, तो मनरंजनता विहीन होने से इस शास्त्र से अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है निर्णय में उपमा अलंकार की रूढ़ि है। इस प्रकार उपमा शब्द योगरूढ़ है। उपमा नाम अक्षरार्थ का विचार नहीं करते हुए समस्त प्राचीन उपमा का स्वरूप साधर्म्य मानते हैं सो भूल है'[2] इस प्रकार इसकी व्याख्या हुई तो, पर उपमा की उत्प्रेक्षा और रूपक से अलग करने वाली विशेषता ज्ञात नहीं हुई।

उपमा दस प्रकार की मुरारिदान जी ने मानी है, शुद्ध, विपरीत परस्पर, परम्परित, निज, समुच्चय, बहु, माला, रसना और कल्पित उपमायें। उन्होंने इनके लक्षण और उदाहरण सदोष में दिये हैं। अतिशयोक्ति और अत्युक्ति अलंकार में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता है। अतिशयोक्ति का लक्षण है।

> वर्णन सीमा लोक की अतिशय जामहु भूप।
> अतिशय की उक्ती वहै, अतिशयोक्ति को रूप ॥[3]

तथा अत्युक्ति का लक्षण यह है:—

टिप्पणी १ जसवन्त भूषण प्रस्तावना पृ ५६ ।

२ जसवन्त भूषण पृ० ८२।

३ जसवन्त भूषण पृ ११।

मिथ्याभूत उदारता, शूरतादि को भूप।
अचरजकारी वर्नन जु, अत्युक्ती को रूप ॥[२]

जोर-सीमा का उल्लंघन करके किया हुआ वर्णन स्वभावतः मिथ्या और अचरज-कारी होगा अतः दोनों के लक्षण एक से हैं। इसका कारण यही है कि नाम से ही लक्षण निकाले गए हैं।

कुछ अलंकार, मुरारिदान जी ने, अपनी ओर से जोड़े हैं जैसे अतुल्ययोगिता, अनवसर, अप्रत्यनीक, अपूर्वरूप, अभेद नियम आदि। इनमें अभेद और नियमों को छोड़कर शेष तो प्राप्त अलंकारों तुल्ययोगिता, अवसर, प्रत्यनीक, पूर्वरूप के विलोम ही हैं। अलंकार की दृष्टि से इनमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है। रसवदादि और संसृष्टि-संकर अलंकारों का भी वर्णन प्रचलित रीति से किया है इस प्रकार जसवंतभूषण ग्रंथ में यही नवीनता देख पड़ती है कि इन्होंने नामों से लक्षणों की व्याख्या की है, पर इससे अलंकारशास्त्र को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

महाराजा प्रतापनारायण सिंह का 'रसकुसुमाकर'

महाराजा प्रतापनारायण सिंह अयोध्या के महाराजा थे। इनका लिखा सुन्दर ग्रंथ 'रसकुसुमाकर' सं० १६५१ वि० (१८६४ ई०) से इंडियन प्रेस इलाहाबाद से मुद्रित हुआ था। यह रस के अंग प्रत्यंगों पर सुन्दर विवेचना तथा उत्तम उदाहरण उपस्थित करता है।

'रसकुसुमाकर' पन्द्रह कुसुमों में विभक्त है। प्रथम कुसुम में परिचय, उद्देश्य, इत्यादि है द्वितीय कुसुम में, जिसका नाम स्थायी कुसुम है, सभी स्थायी भावों का वर्णन है। स्थायी भावों के लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुन्दर हैं। इसके पश्चात् तृतीय, संचारी कुसुम में, संचारी भावों का भी परम्परागत वर्णन है। चतुर्थ अनुभाव कुसुम और पंचम हाव कुसुम क्रमशः अनुभावों और हावों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। छठे कुसुम में सखा, सखी और दूती का वर्णन है। सातवें और आठवें को विभाव कुसुम कहना चाहिए इसके अन्तर्गत ऋतुओं और उद्दीपन सामग्री का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। नवम कुसुम स्वकीया भेदों का वर्णन करता है दशम कुसुम परकीया, सामान्या कुसुम है क्योंकि इसके अन्तर्गत परकीया और सामान्या नायिकाओं का वर्णन किया गया है। ग्यारहवें कुसुम में

२ जसवन्त भूषण पृ० २७६।

दसविधि नायिका का वर्णन है और बारहवाँ कुसुम नायक भेद के विस्तार से सम्बन्धित है। इसके पश्चात् 'शृंगार कुसुम' शृंगार रस का विश्लेषण उपस्थित करता है। और चौदहवाँ, वियोग शृंगार के अन्तर्गत आने वाली दश दशाओं का। अन्तिम पंद्रहवाँ कुसुम रसकुसुम है, जिसमें शृंगार को छोड़कर अन्य रसों का विवरण दिया गया है। सबसे अन्त में काव्य पर प्रकाश डालते हुए महाराजा ने उसके दृश्य और श्रव्य दो प्रकार कहे हैं और काव्य की प्रशंसा के साथ ग्रंथ की समाप्ति हुई है।

'रसकुसुमाकर' में लक्षण गद्य में दिए गए हैं और विषयों का पूर्ण विवेचन और वैज्ञानिक वर्गीकरण उपस्थित किया गया है। उदाहरण बड़े सुन्दर और कवित्व-पूर्ण हैं। इन उदाहरणों के अन्तर्गत द्विजदेव, देव, पद्माकर, बेनी, लीलाधर, कमलापति, सम्भु आदि की कविता से सुन्दर छन्द रक्खे गये हैं। उदाहरण चुनने में बड़ी सहृदयता से काम लिया गया है। एक और विशेषता यह है कि अनेक भावों, संचारियों और अनुभावों के चित्र भी दिए गए हैं जो बड़े ही सुन्दर और अर्थ के द्योतक हैं। इस प्रकार विशेषकर शृंगार रस का पूर्ण विवरण दिया गया है। पुस्तक बड़ी रोचक है।

कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश' ग्रन्थ सं० १६५७ वि० (सन् १८६६ ई०) में प्रकाशित हुआ था। यह ग्रंथ लेखक का प्रथम प्रयास होते हुए भी अच्छा ग्रंथ था। इसमें गद्य में लक्षण और पद्य में उदाहरण हैं, पर अब यह 'काव्य कल्पद्रुम' के द्वितीय भाग 'अलंकार' मंजरी, के रूप में परिवर्द्धन प्राप्त कर चुका है। उसकी सभी विशेषतायें अलंकार मंजरी में होने के साथ साथ ही इसमें और भी विस्तृत व्याख्या, अलंकार का इतिहास और विवेचन आदि है। 'रस मंजरी' और 'अलंकार मंजरी' 'काव्यकल्पद्रुम' के प्रथम और द्वितीय भाग हैं। काव्यकल्पद्रुम सं० १६८३ में प्रकाशित हुआ था और उसके बाद दो मंजरियों में सं० १६६१ और १६६३ में सामने आया। 'रसमंजरी' में काव्य के सामान्य अंगों, ध्वनि, रस, गुण, दोष आदि का तथा 'अलंकार मंजरी' में अलंकार का इतिहास और विवेचन हैं। अत: दोनों ग्रंथों का अलग अलग विवेचन आवश्यक हैं।

रसमंजरी

रसमंजरी की भूमिका अपना महत्व रखती है, इसमें पोद्दार जी का अपना निजी दृष्टिकोण ठीक होता है यह सम्भव है कि उनके विचार सर्वमान्य न हों, पर उनका अध्ययन विस्तृत और चिन्तन मौलिक है। उनकी विशेषता यह है कि अनेक संस्कृत और हिन्दी

ग्रंथों का सहारा लेते हुये भी अपना एक निश्चित मत रखकर किसी भी एक ग्रंथ के सहारे नहीं चलते। इन्होंने वेद को काव्य का मूल माना है और भगवान भरत मुनि को काव्य शास्त्र का प्रथम आचार्य। काव्य से लाभों पर प्रकाश डालते हुये ये 'काव्य प्रकाश' से ही पूर्ण सहमत हैं और कविवर मंखक के श्रीकंठ चरित्र के आधार पर काव्य की रचना या काव्यास्वादन के लिए काव्यशास्त्र को नितान्त आवश्यक मानते हैं। पोद्दार जी के विचार से 'साहित्य शास्त्र उसे कहते हैं जिसके द्वारा काव्य निर्माण और रसानुभव का एवं उसके स्वरूप, दोष, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।'[1] ये काव्य में ध्वनि और अलंकार को मुख्य मानते हैं। रस भाव आदि ध्वनि से आते हैं तभी प्रभावशाली होते हैं और इसी प्रकार अलंकार भी उक्ति वैचित्र्य हैं। ध्वनि, कामिनी के लावण्य के समान है और अलंकार भी आभूषणों के समान।

भूमिका में एक और विशेषता है। उन्होंने हिन्दी के आचार्यों की आलोचना करते हुए लिखा है कि हिन्दी के आचार्यों का अपना स्वतंत्र कोई मत नहीं है और उनके ग्रंथों का मूलस्रोत संस्कृत साहित्य के ग्रंथ ही हैं और प्राय वे साहित्य शास्त्र के सिद्धांतों को पूर्ण हृदयंगम नहीं कर पाते। उन्होंने यह नियम मानते हुए भी, कि रस या भाव का प्रभाव स्वशब्द के कथन से चला जाता है, रस या भाववाची शब्द रखा है। इसके, पोद्दार जी ने, उदाहरण भी दिए हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के ग्रंथ पूर्ण नहीं हैं यह मानना पड़ेगा। इसी प्रकार उन्होंने आधुनिक काव्यशास्त्र के ग्रंथों में भी दोष दिग्दर्शन कराया है और कहा है कि अनेक लेखक विषय के पूर्ण विद्वान् नहीं हैं और काव्यशास्त्र पर ग्रंथ लिख मारे हैं जैसे भानु जी, मिश्रिया जी, दीन जी, गुलाबराय आदि। यथार्थ बात तो यह है कि मौलिक विवेचनात्मक दृष्टि और सम्यक् ज्ञान की कमी इन लेखकों में है ही नवरस' के अनेक उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि संस्कृत के [illegible] आचार्यों और सिद्धांतों का भी भलीभाँति अध्ययन किये बिना ये ग्रन्थ रचे [illegible] यहाँ पर यह मान सकते हैं कि इस प्रकार की कोई विशेष त्रुटि [illegible] नहीं है जिससे अध्ययन का अभाव या विषय के ज्ञान की कमी [illegible] है कि अनेक उदाहरण रोचक और कवित्व-पूर्ण नहीं हैं। विषय का [illegible] प्रामाणिक रूप में की गई है, यह श्रेय पोद्दार जी का असामान्य है, [illegible] पोद्दार जी की अपनी कविता दोष-पूर्ण है।

'रसमंजरी का विवेचन मुख्यत 'काव्य प्रकाश' के [illegible] गद्य में काव्यप्रकाश के आधार पर देने के उपरान्त [illegible]

टिप्पणी १ रसमंजरी पृ २१।

वक्रोक्ति को ही अलकार का प्राण माना है। इसी प्रसंग म उन्होंने कविराजा मुरारिदान के इस मत का खन्न भी किया है कि अलकारों के नाम ही उनके लक्षणों को स्पष्ट करते हैं और अलग से लक्षण देने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने लिखा है कि अलंकारों का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिए शुद्ध लक्षण की आवश्यकता है केवल नाम से काम नहीं चल सकता, और इसी मत को मानते हुए प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों के अलग अलग लक्षण भी निर्धारित किये हैं। संक्षेप म अलंकारशास्त्र का इतिहास देते हुए उन्होंने अलंकारों की सख्या के विकास पर प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध का पोद्दार जी का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

पोद्दार जी ने अलंकारों के वर्गीकरण पर भी विचार किया है जो रुद्रट, रुय्यक और मम्मट के आधार पर है रुद्रट ने वर्गीकरण के चार ही आधार वास्तव, औपम्य, अतिशय अथश्लेष माने हैं, पर रुय्यक के सात वर्ग अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक हैं। इस प्रकार अलंकार सम्बन्धी विचार एव अध्ययन-पूर्ण भूमिका के साथ एक एक अलकार की परिभाषा व्याख्या और उदाहरण दिए गए हैं। इसमें भेदों के सहित ६ शब्दालकार, १०० अर्थालकार, ४ ससृष्टि, सकर अलकारों का वर्णन है। अलकारों के वर्णन म एक विशेष बात यह भी है कि इन्होंने अन्य आचार्यों के उदाहरणों की विवेचना भी की है।[१] अलकारों के भेदों पर भी अधिक विस्तार के साथ विचार किया है और अनेक भेद जो कि पोद्दार जी ने दिये हैं वे प्राय हिन्दी के आचार्यों ने नहीं दिये हैं उदाहरणार्थ उपमा के श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा नियमोपमा, समुच्चयोपमा आदि, रूपक के समस्त वस्तुविषयक, एकदेशीयवर्ति, युक्त, अयुक्त, हेतु आदि तथा अतिशयोक्ति का कारणातिशयोक्ति। पोद्दार जी कि व्याख्यायें बड़ी स्पष्ट हैं, पर अपने को दूसरों से बढ़कर मानने का भाव उनम अनेक स्थानों म देखने को मिलता है।

इस दृष्टि से पोद्दार जी ने जो अनेक विद्वानों की आलोचना की है उसम सत्यता होते हुए भी सहृदयता की कमी है। फिर भी अलकारों पर यह प्रामाणिक ग्रन्थ है और आचार्यत्व का स्पष्ट गौरव प्रदान करनेवाली हैं, पर 'रसमजरी' की भाँति ही पोद्दार जी के निजी उदाहरण सरस नहीं हैं। अन्त म अलकार के दोषों का वर्णन है। ये दोष अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अप्रस्तुत प्रशसा दोष के रूप म वर्णित हैं, पर दोष सभी अलकारों म हो सकते हैं अत इन्हीं में दोष देखना ठीक नहीं है और ये दोष

---

२ उदाहरणार्थ देखिए 'अलकार मजरी' यमक अलंकार पृष्ठ २८, स्मरण अलकार पृष्ठ ११५।

भी अन्य दोषों के अन्तर्गत आ जाते हैं अतः दोषों का प्रसंग तो नरस लाया गया है और अधिक महत्व का नहीं है। इसके अन्त में ग्रंथकार और ग्रंथ का परिचय एवं रचनाकाल दिया गया है। इसका प्रथम संस्करण सं० १६५३ वि० में प्रकाशित हुआ, पर परिवर्द्धित और वर्तमान संस्करण का, जो क्रमानुसार तृतीय संस्करण है, प्रकाशन काल सं० १६६१ है। 'अलंकार मंजरी' का स्थान हिन्दी के अलंकार-सम्बन्धी प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में है। इनका प्रथम संस्करण आगे आनेवाले ग्रन्थों का पूर्ववर्ती होने के कारण पोद्दार जी के ग्रन्थों पर पहले विचार किया गया है।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्यप्रभाकर'

'भानु' जी की यद्यपि काव्यशास्त्र के विषयों पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जैसे हिन्दी काव्यालंकार, अलंकार प्रश्नोत्तरी, रसरत्नाकर, नायिका-भेद शंकावली, छंद प्रभाकर आदि पर इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ इनका 'काव्य प्रभाकर' है जिसके अन्तर्गत सभी विषय आ गये हैं और जिसमें काव्यशास्त्र का अनेक बातों का सबसे अधिक विस्तृत विवरण मिलता है। ऊपर लिखे उनके ग्रन्थ 'काव्यप्रभाकर' के ही भिन्न-भिन्न प्रकरणों को लेकर लिखे गए हैं और लक्षण मुख्यतः एक ही हैं। काव्यप्रभाकर' ग्रन्थ का प्रकाशन सं० १६६७ में हुआ था। इसमें यथार्थ में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण बातों का भंडार सा है। सभी बातों की स्पष्ट और सुलझी हुई सूचना इसमें मिल जाती है, अतः यह शास्त्रज्ञान के लिए उपयोगी पुस्तक है। लक्षण और उदाहरण दोनों के विचार से हम यह कह सकते हैं कि इसके अन्तर्गत प्रस्तुत विषय की जो भी सर्वोत्तम बातें हैं उन्हें क्रम से वैज्ञानिक ढंग पर उपस्थित किया गया है। इसमें काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सभी आवश्यक ज्ञान और पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या है। इस दृष्टि से यह काव्यशास्त्र का कोश सा है। उदाहरण एक ही नहीं, वरन् किसी भी प्रसंग के अन्तर्गत जितने भी सुन्दर उदाहरण हिंदी साहित्य में मिल सके हैं उन्हें 'भानु' जी ने एकत्र करके रखा है, इस दृष्टि से यह बहुत बड़ा संग्रह भी है।

लक्षण और उदाहरण दोनों की ही दृष्टि से 'काव्यप्रभाकर' में मौलिक और नूतन सिद्धान्त का निरूपण प्रायः नहीं है। सभी स्थानों पर उपयुक्त लक्षण और उदाहरण अनेक विद्वानों से संग्रह किए गए हैं, पर 'एकादश मयूख में मौलिक समीक्षा भी 'काव्य निर्णय' शीर्षक के अन्तर्गत की गई है। ग्रंथ का महत्व भूमिका में दिए हुए प्रयोजन से स्पष्ट है जिसमें 'भानु' जी ने लिखा है —

"इस ग्रन्थ के द्वारा शुद्धकाव्य का पूर्ण ज्ञान हो, यही इसका मुख्य हेतु है और इसके रचने की आवश्यकता विशेषत इसलिए हुई कि सम्प्रति भाषा म काव्य में ऐसे बहुत थोड़े ग्रन्थ देखने म आते हैं कि जिनके पढ़ने से काव्य सम्बन्धी समस्त विषय सहज ही में ज्ञात हो सके। वरन् एक का अध्ययन कर लेने पर दूसरे की आवश्यकता बनी ही रहती है तो भी मनोरथ सिद्ध नहीं होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही इस ग्रंथ की रचना की गई है।"

सक्षेप में ग्रन्थ का विषय वर्णन इस प्रकार है। प्रथम मयूख म छन्दों का बड़ा ही पूर्ण, वैज्ञानिक और रोचक वर्णन है। छन्दों का अधिक और पूर्ण विस्तार के साथ वर्णन इनके ग्रन्थ 'छन्द प्रभाकर' में हैं। इनकी छन्द की परिभाषा कितनी रोचक है।

' मत्त, वरण यति, गति नियम अन्तहि समता बन्द।
जा पद रचना में मिलें, 'भानु' भनत सुइ छन्द।"

मात्रा, वर्ण की रचना, विराम, गति का नियम और चरणान्त में समता जिस वाक्य रचना म पाई जाती हैं, उसे छन्द कहते हैं। छन्द के विषय में दो बातें एकादश मयूख के 'काव्य निर्णय' प्रसग से दी गई हैं जो काव्यशास्त्र के लिए उपयोगी हैं। प्रथम तो 'भानु' जी ने छन्दों की तालिका म बताया है कि किस रस के वर्णन में कौन छद अनुकूल है और कौन प्रतिकूल है। उदाहरणार्थ करुणा रस के वर्णन के लिए अनुकूल छन्द हैं मालिनी, द्रुतविलम्बित , मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा और प्रतिकूल हैं दोधक छन्द। दूसरी बात यह है कि उन्होंने यह भी बतलाया है कि कौन विषय किस छन्द म वर्णन करने से रचना मनोहर होती है। उदाहरणार्थ ऋतुवर्णन, उपजाति छद में अच्छा बन पड़ता है इसी प्रकार नीति-वर्णन, वशस्थविलम् में चन्द्रोदय, रथोद्धता म वर्षाप्रवास, मन्दाक्रान्ता में और स्तुति, यश, शौर्य आदि का वर्णन शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी छन्दों म अच्छा होता है। यद्यपि यह नियम सर्वमान्य नहीं है फिर भी इस विषय पर आचार्यों ने कम विचार किया है कि कौन सा छन्द हमारे भीतर किस प्रकार भावना जगाने म समर्थ होता है। इसका विशेष विचार सगीत की राग रागिनियों के भीतर अवश्य हुआ है, जिसका वर्णन 'काव्यप्रभाकर' की द्वितीय मयूख म हुआ है। द्वितीय मयूख के प्रारम्भ म काव्य प्रयोजन तथा काव्य-कारण का वर्णन है। काव्य प्रयोजन के अन्तर्गत यश, धन, आनन्द, दुःखनाश, चातुरी और वशीकरण को माना है तथा काव्यकारण में तीन बातों, शक्ति, निपुणता और अभ्यास को। शक्ति पूर्व संस्कार है, निपुणता, व्युत्पत्ति अथवा लोकज्ञान

---

१ काव्यप्रभाकर, भूमिका, पृ १।

है, अभ्यास, अनवरत सेवन है। इसके पश्चात् वे काव्यलक्षण देते हैं। काव्य की परिभाषा 'साहित्यदर्पण' के अनुसार ही 'वाक्य रसात्मक काव्यं' है। वाक्य का सम्बन्ध पद और पद का शब्द अर्थ से है। इसलिए शब्दार्थ-निरूपण के प्रसंग में शब्द और अर्थ की व्याख्या करते हुए 'भानु' जी कहते हैं —

"जो सुनिए सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ।
ध्वन्यात्मक वर्णात्मकहु, द्वै विधि शब्द समर्थ॥
द्वै द्वै इनके भेद पुनि, रमणीयारमणीय।
वर्णात्मक रमणीय के, तीन भेद गुननीय॥"

ये तीन वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द हैं। इसके साथ ही जो शब्द शक्ति—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का वर्णन है वह पूर्ण रूप से भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' से लिया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही 'दास' जी के हैं, केवल कहीं कहीं कुछ व्याख्या और उदाहरण और जोड़ दिए गए हैं जिससे 'काव्यनिर्णय' का वर्णन और भी स्पष्ट हो गया है। इसके पश्चात् इसी मयूख के अन्तर्गत काव्य भेद में दृश्य काव्य अर्थात् नाटक का वर्णन है। इसमें नाटकीय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या तथा नाटक के लिए आवश्यक बातों की व्याख्या दी गई है। इसी प्रसंग में संगीत का उल्लेख है और इसमें राग भेद, ध्वनिभेद, ग्राम, मूर्च्छना, आलाप तथा रागिनियों की चर्चा, उनके लक्षण, स्वरूप और उदाहरण अधिकांश तुलसीकृत रामचरितमानस से दिए गए हैं। इसके आगे गद्य काव्य के भेद दिए गये हैं। गद्य के प्रथम तो ससमास, असमास और मिश्र भेद किए हैं और फिर प्रथम के अल्पसमास, दीर्घसमास और संकर। फिर इनमें से प्रत्येक के कुसुम, गुच्छ, वाटिका आदि भेद वाक्यों की छुटाई, बड़ाई के अनुसार किए गये हैं और इनमें से भी प्रत्येक के वृत्तगन्धि, अवृत्तगन्धि और सकीर्णक नामक उपभेद हैं। यह गद्य-काव्य का वर्णन अम्बिकादत्त व्यास की गद्य-काव्य-मीमांसा के आधार पर किया गया है जिसके भेदों का एक वृक्ष भी अन्त में दिया है और काव्य के तीन गुणों का उल्लेख है।

तृतीय मयूख नायिका-भेद पर है जिसमें पद्यमय लक्षणों के साथ-साथ गद्य में व्याख्या भी दी गई है और उदाहरण छंटे हुए और सुन्दर, काफी संख्या में दिये गये हैं। इसमें नायिका का वय, जाति, प्रकृति, स्वभाव, धर्म, अवस्था के अनुसार भेदों का वर्णन है और नायक के भी पति उपपति, वैसिक तथा पति के पांच भेद अनुकूल, धृष्ट शठ, दक्षिण तथा अनभिज्ञ आदि हैं। अन्त में इनके भेदों के वृक्ष दे दिये गये हैं।

चतुर्थ मयूख में उद्दीपन विभाव का वर्णन है इसके अन्तर्गत सखा सखी, दूती, वन

उपवन, षटऋतु, पवन, चन्द्र, चन्द्रिका, चन्दन, कुसुम, पराग इन बारह मुख्य उद्दीपनों का सुन्दर और पूर्ण वर्णन है। पंचम मयूख में अनुभाव का वर्णन है जिसमें सात्विक, कायिक और मानसिक अनुभावों तथा द्वादश हावों का वर्णन है, यह वर्णन अधिक स्पष्ट नहीं है। छठे और सातवें मयूखों में संचारी और स्थायी भावों का और अष्टम मयूख में रसों का वर्णन है और नवम मयूख में अलंकारों का। इनमें उदाहरण सुन्दर हैं यही कहा जा सकता है। विवेचन में कोई नवीनता नहीं। नवम मयूख के अन्त में न्याय-दर्पण में ३६ न्यायों का वर्णन है जो प्रायः काव्य में प्रयुक्त होते हैं, जैसे, तिलतंदुल, अरण्यरोदन, क्षीर नीर आदि। इनके लक्षण और उदाहरण रोचक हैं। दशम मयूख में दोषों का वर्णन है जिसमें शब्द-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष, और रस दोषों के कुछ भेद कहे गये हैं। दोषों का वर्णन पूरा नहीं है, क्योंकि 'भानु' जी ने अधिक दोषों का वर्णन करना कवियों को हतोत्साहित करना समझा है।

एकादश मयूख का विषय काव्यनिर्णय है। इसमें प्रथम तो मंगलाचरण निर्णय में, ग्रंथ के आदि की स्तुति का निर्देश है और उसके पश्चात् साहित्य और काव्य का रूढ़ प्रयोग समानार्थी बताया है, यद्यपि इन दोनों के दोनों में भिन्नता है, पर प्रायः व्यवहार पर्यायवाची शब्द के रूप में होता है, अतः इस ग्रंथ में भी इसी प्रकार साहित्य काव्य के अर्थ में प्रयुक्त है। लक्षण निर्णय के प्रसंग में 'भानु' जी ने लक्षण की विशेषतायें सीमा और दोष बताये हैं। 'असाधारण धर्मो लक्षणः'—के अनुसार किसी वस्तु के मुख्य धर्म के प्रगट होने के साधन को लक्षण कहते हैं," यह परिभाषा उन्होंने मानी है। इसमें अव्याप्ति अतिव्याप्ति असम्भव, व्यर्थ विशेषण, अन्यान्याश्रय आदि दोष 'भानु' जी ने माने हैं। यह प्रसंग यथार्थ में काव्यशास्त्रकारों के लिए विशेष उपयुक्त है, कवियों के लिए उतना नहीं, क्योंकि यह प्रसंग काव्य का उतना समीपी नहीं जितना कि शास्त्र का।

छंद निर्णय में 'भानु' जी ने यह बताया है कि किस रस और प्रसंग के लिये कौन छंद उपयुक्त है और कौन विरोधी है। इसका उल्लेख छंद के प्रसंग में हो चुका है। काव्य लक्षण निर्णय प्रसंग में 'भानु' जी ने काव्य के अनेक लक्षणकारों की परिभाषाओं पर विचार किया है। मम्मट की परिभाषा को व्यर्थ-विशेषण दोष युक्त और दंडी का अति व्याप्ति दोष-युक्त माना है। इसी प्रकार विद्यानाथ, भोज, जयदेव, वाग्भट्ट, वामन आदि संस्कृत के आचार्यों की परिभाषाओं को भी दोषयुक्त बताया है। पंडितराज जगन्नाथ की 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्य" परिभाषा को दोषी बताया है, क्योंकि इसमें शब्द के स्थान पर भानु जी के विचार से वाक्य होना चाहिए काव्य वाक्य होना चाहिए यह ठीक है पर यदि किसी शब्दमात्र से ही रमणीय अर्थ निकले तो वह काव्य अवश्य है।

सबसे पूर्ण और सुन्दर लक्षण उन्होंने महापात्र विश्वनाथ का 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' माना है। पर इसमें रस शब्द की व्याख्या में मतभेद हो सकता है। और रसविहीन, अलंकार-युक्त, चमत्कार पूर्ण वाक्य को हम काव्य नहीं मान सकते हैं अतः यद्यपि 'भानु' जी ने इसको सबसे उपयुक्त लक्षण माना है, पर यथार्थ में सबसे निर्दोष परिभाषा पण्डितराज जगन्नाथ की ही है।

काव्य-कारण निर्णय प्रसंग में 'भानु' जी ने मराठी के लेखक चिपलूणकर के इस सिद्धांत का खंडन किया है कि काव्य के लिए केवल प्रतिभा ही पर्याप्त है। यथार्थ में शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों की ही आवश्यकता है, अन्यथा काव्य पनप नहीं सकेगा। 'काव्यस्वरूप निर्णय', में उन्होंने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर, व्यंग्य को जीवात्मा और रस को परमात्मा माना है। अलंकार और गुण का कोई स्थान ही नहीं दिया अतः केवल अलंकार या गुण युक्त तथा व्यंग्य-विहीन कविता नहीं हो सकती। अतः स्वरूप-निर्णय दोष पूर्ण है।

इसी मयूख के अन्तर्गत पुनः 'काव्यनिर्णय' आता है। इसमें भेदोपभेद-सम्बन्धी अनेक मत 'भानु' जी देते हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने प्रथम व्यंग्य और वाच्य भेद माने हैं फिर व्यंग्य के दो भेद 'व्यंग्य प्रधान ध्वनि' और व्यंग्य अप्रधान गुणीभूत व्यंग्य। पंडितराज ने व्यंग्य, गुणीभूत व्यंग्य, शब्दचित्र और अर्थचित्र चार भेद माने हैं। विश्वनाथ ने तीन भेद, ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम), चित्र (अवर) काव्य माने हैं। यही आचार्य भिखारीदास को भी मान्य हैं। मम्मट ने व्यंग्य, गुणीभूत व्यंग्य, और चित्र व वाच्य भेद माने हैं। इन सभी का निष्कर्ष यही है कि यथार्थ में ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र ये तीन ही काव्य के भेद हैं। इसके बाद ध्वनि भेद निर्णय है। ध्वनि भेद के अन्तर्गत किसी किसी लेखक या टीकाकार ने मूलभेद ५१ मानकर कुल भेद ३४ ६२,६०० तक माने हैं, पर 'भानु' जी को मुख्य १८ भेद ही मान्य हैं जिनका उल्लेख उन्होंने कोष्ठक द्वारा कर दिया है। नायिका-भेद निर्णय में कोई विशेष बात नहीं है, इसकी विशेष सूचना 'भानु' जी की 'नायिका भेद शंकावली' में मिलती है। इसी प्रकार रस और अलंकार-लक्षणों के प्रसंग भी साधारण हैं। इसके पश्चात् कवि शिक्षा पर अनेक प्रसंगों-द्वारा उल्लेख है, जिससे यह प्रगट होता है कि कवि-परिपाटी में अनेक वस्तुओं का वर्णन किस प्रकार किया जाता है। यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि कवि-शिक्षा के विषय को केशवदास के बाद और किसी भी कवि ने इस रूप में नहीं लिखा। कवि-परिपाटी का वर्णन 'भानु' जी का बड़ा ही पूर्ण और सुन्दर है। साथ ही इसमें काव्य के लिए आवश्यक ज्ञान का बड़ा विस्तृत भाण्डार है। इसके अन्तर्गत संख्या

शब्द-कोश, समस्या पूर्ति-विवरण और उसके पश्चात् द्वादश मयूख में कोष और लोकोक्ति, समह इस ग्रन्थ को पूर्ण और बड़ा उपयोगी बना देते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'काव्य प्रभाकर' काव्य की आवश्यक सामग्री और ज्ञान का भंडार है और एक स्थान पर इतना ज्ञान भण्डार जुटाने में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' जी यथार्थ में बड़े सफल हुए हैं। कवियों, साहित्यमर्मज्ञों और साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रंथ एक बृहत् कोष का काम करता है।

भगवानदीन 'दीन' की 'अलंकारमंजूषा'

'अलंकार मंजूषा' का प्रथम प्रकाशन सं० १९७३ वि० में हुआ था। अलंकार-सम्बन्धी अनेक ग्रंथों में इसका बहुत अधिक प्रचार रहा। यह 'अलंकार मंजूषा' चार पटलों से विभाजित है। प्रथम शब्दालंकार पटल है, जिसमें १० अलंकार हैं। द्वितीय अर्थालंकार पटल है जिसके भीतर भेदों के अतिरिक्त १०८ अलंकार हैं, तृतीय उभयालंकार पटल है जिसके अन्तर्गत संसृष्टि और संकर अलंकार तथा उनके भेदों का वर्णन है। रसवदादि अलंकारों को 'दीन' जी नहीं मानते हैं, अतः उनका वर्णन नहीं है। चतुर्थ पटल, दोष-कोष है जिसके भीतर अनुप्रास के तीन दोष, प्रसिद्ध भाव वैफल्य और वृत्ति विरोध और यमक के दोष, शब्दालंकार दोष में रखे गये हैं तथा अर्थालंकारों में उपमा के भेद सहित ११ दोष, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अन्योक्ति के दोष हैं।

दीन जी ने अलंकारों के लक्षण दोहे में दिए हैं और उदाहरण, दोहा, चौपाई सवैया कवित्त, छप्पय, बरवै आदि छन्दों में। अलंकारों के लक्षणों को उन्होंने विवरण द्वारा स्पष्ट किया है और किसी भी अलंकार की विशेषता अथवा दूसरे सादृश्य रखने वाले अलंकार से अन्तर को सूचना में प्रकट किया है। लक्षण य दोहे सर्वत्र पूर्ण स्पष्ट नहीं हैं, पर विवरण से खुल जाते हैं। उदाहरणों में 'दीन' जी की 'अलंकार मंजूषा' अद्वितीय है। उन्होंने हिन्दी के सभी उत्कृष्ट कवियों की रचनाओं से चुन चुनकर उदाहरण जुटाये हैं और बहुत से अलंकार तो उदाहरणों की रमणीयता के द्वारा स्मृति पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। 'दीन' जी ने लक्षण को पूर्णरूप से हृदयंगम कराने के लिए उदाहरणों को काफी संख्या में उद्धृत किया है और वे बड़े सुन्दर उदाहरण हैं, कवित्व और सरसता 'अलंकार मंजूषा' के उदाहरणों में भली भाँति विद्यमान है, कहीं कहीं उन्होंने पूरे पद न लेकर केवल एक या दो चरण ही रक्खे हैं जिसका कारण यह है कि उन्हीं चरणों में ही अलंकार का लक्षण घटित होता है अन्य चरणों में नहीं। इस दृष्टि से इसमें कोई हानि नहीं, पर, एक दो स्थलों में उपस्थित किये गये उदाहरण लक्षणों से मेल नहीं खाते। जैसे तद्रूप रूपक के उदाहरण में निम्नलिखित सवैया है —

"छाह करै छिति मंडल को सब ऊपर यों मतिराम भय हैं।
पानिप को सरसावत हैं सिगरे जग के मिटि ताप गये हैं॥
भूमि पुरन्दर भाउ के हाथ पयोदन ही के सुकाज ठये हैं।
पथिन के पथ रोकिये को घने बारिद वृन्द वृथा उनये हैं॥"

इसन अन्तिम पंक्ति के द्वारा यथार्थ में 'दीन' जी के लक्षण[2] के अनुसार पाँचवाँ प्रतीप होना चाहिए, अतः इसमें रूपक का नहीं वरन् प्रतीप का प्राधान्य है, फिर यदि तीसरी पंक्ति में रूपक माना जाय तो भी तद्रूप का लक्षण नहीं उतरता, क्योंकि तद्रूप रूपक में अपर, दूसरा, अन्य आदि शब्द आना आवश्यक है। अतः उपर्युक्त उदाहरण विचारणीय है।

इस प्रकार 'अत्यन्तातिशयोक्ति' का लक्षण है कि जहाँ हेतु के प्रथम ही कार्य प्रगट होवे।[3] इसमें और उदाहरणों के साथ एक उदाहरण यह भी है।

पद पखारि जल पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पारि करि प्रभुहिं पनि, मुदित गयउ लै पार॥

इसमें कार्य है 'पितर पार करना' और पितर पार करने का कार्य राम के पार उतारने के पहले हुआ है, पर यह हेतु नहीं है। हेतु तो है 'पद पखारना' जो क्रमानुसार कार्य के पहले है ही, अतः उदाहरण, लक्षण के उपयुक्त नहीं है इस छंद में तो पार का दो प्रसंगों में प्रयोग ही चमत्कार पूर्ण है।

लक्षणों में एक आध स्थल पर 'दीन' जी ने प्रयोग के अनुसार परम्परा से अधिक व्यापक परिभाषा दी है जैसे स्मरण अलंकार के प्रसंग में।

इसकी परिभाषा यों है—

कछु लखि, कछु सुनि सोचि कछु सुधि आवै कछु खास।
सुमिरन ताको भाखिए कुधबर सहित हुलास॥

---

१ अलंकार मंजूषा पाँचवां संस्करण सम तद्रूप रूपक पृ० २ ।

२ उपमेय के मुकाबले व्यर्थ होय उपमान।
पंचम भेद प्रतीप को ताहि कहत गुनवान॥

—अलंकार मंजूषा, पृ० ५३।

३ जहाँ हेतु ते प्रथम ही, प्रगट होत है काज।
अत्यन्तातिशयोक्ति तेहि, कहैं सकल कविराज॥

—अलंकार मंजूषा, पृ० ६४।

"यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने इस अलंकार की परिभाषा ऐसी लिखी है कि—
इसी का विवरण देते हुए, दीन जी ने लिखा है —

"सदृश वस्तु लखि सदृश की, सुधि आवै जेहि ठौर।
सुमिरन भूषन तेहि कहैं, सकल सुकवि सिर मौर॥"

परन्तु हिन्दी साहित्य में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि प्राचीनों का यह लक्षण पर्याप्त नहीं है। इसीसे हमने इस अलंकार की नवीन परिभाषा गढ़ी है। कारण यह है कि या तो इसको अलंकार ही न मानना चाहिए या अलंकार माना ही है तो केवल सदृश वस्तु को देखकर सदृश वस्तु की सुधि आने में ही क्यों माना जाय? सब दशाओं में क्यों न माना जाय!"

—(अलंकार मंजूषा पृ० ६६)

इस प्रकार कविता द्वारा लक्षणों का विकास आवश्यक है। आचार्यता का उत्कृष्ट गुण न होते हुए भी 'अलंकार मंजूषा' उपयोगी पुस्तक है और 'दीन' जी की काव्य-रसिकता का द्योतक है। 'अलंकार मंजूषा' की अंतिम विशेषता यह है कि हिन्दी के साथ साथ फारसी और कहीं कहीं अंग्रेजी के सदृश अलंकारों के नाम भी देते चले हैं।

रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'अलंकारपीयूष'

डा० 'रसाल का 'अलंकारपीयूष' बड़े परिश्रम और अध्ययन का परिणाम है। लगभग सभी प्रमुख हिन्दी और संस्कृत के ग्रन्थों का सहारा लेकर यह ग्रंथ लिखा गया है और उनकी आलोचना भी की गई है, पर इसका स्थान अलंकार पर लिखे गये अन्य ग्रंथों से भिन्न है और यह अपनी दिशा में अकेला ग्रंथ है। यह डा० रसाल के थीसिस 'हिंदी अलंकारशास्त्र का विकास' (Evolution of Hindi Poetics) के आधार स्वरूप है और उसी का परिवर्द्धित भाग है (देखिए अलंकार पीयूष पूर्वार्द्ध —'लेखक के दो शब्द') इस ग्रंथ में अन्य लक्षण-ग्रंथों की भाँति केवल अलंकारों के लक्षण और उदाहरण ही नहीं दिये गये, वरन् कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्य ग्रंथों में नहीं हैं। प्रथम तो इसमें संक्षेप में संस्कृत और बहुत ही संक्षेप में हिंदी अलंकारशास्त्र का इतिहास दिया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार का महत्व किस युग में किस प्रकार का रहा है और रस, ध्वनि आदि का इससे क्या सम्बन्ध है। द्वितीय, इसमें अलङ्कारों की संख्या में संस्कृत और हिंदी लेखकों के द्वारा जो विकास किया गया है उस पर भी प्रकाश है, तृतीय, इसमें अलङ्कारों के वर्गीकरण का प्रयत्न जो कुछ भी किया गया है उसकी भी आलोचना है और अलङ्कारों के मूल आधार और कारणों के निश्चय करने का प्रयत्न है। चतुर्थ, प्रत्येक

अलङ्कार के लक्षण, प्रकार आदि से सम्बन्ध वाला जो मतसाम्य मत-वैषम्य अथवा विकास है, उसे भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पंचम, इसमें अलङ्कारों के भेदों और प्रभेदों का पूर्ण विवरण मिलता है। इसमें यह भी पूर्ण रीति से समझाया गया है कि एक अलङ्कार और उसी से सादृश्य रखने वाले दूसरे अलङ्कार में क्या भेद है और इस प्रकार अलङ्कार का पूर्ण और विस्तृत ज्ञान इससे हो सकता है। षष्ठ, कहीं अपने नवीन वर्गीकरण नवीन आधार और नवीन अलङ्कारों का भी निर्देश 'रसाल' जी ने किया है। उदाहरणार्थ वक्रकौतुक वचित्र्य विनोद, व्यवस्था वैचित्र्य, गुप्तोद्घाटन, वचन वक्रता, जिज्ञासा, वाक्छल आदि, तथा मिश्रालङ्कार[1] जो उभयालङ्कार से भिन्न है शब्दानुप्रास, सापालंकार आदि। सप्तम आपने गद्य में ही व्याख्या की है और उदाहरण रूप में बहुत ही कम पद्य दिये हैं इसलिए ग्रंथ विवेचनात्मक अधिक है। 'अलङ्कार पीयूष' में उपस्थित अनेक विचारों भेदों और वर्गीकरण से चाहे सभी विद्वान् सहमत न हों, पर यह मानना पड़ेगा कि इसमें लेखक ने एक एक अलंकार पर काफ़ी तुलनात्मक अध्ययन किया है और हिन्दी और संस्कृत के प्रमुख आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ है।

'अलंकार पीयूष' के दो भागों, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में काव्यालंकार की सामान्य बातों का वर्णन है। काव्यालंकार या काव्यशास्त्र के वर्ण्य विषय, इसका महत्व और इतिहास अलङ्कार शास्त्र का विकास, अलङ्कारों की संख्या का विकास, वर्गीकरण और मूलतत्व आदि देने के बाद शब्दालंकार, रसालंकार, भावालंकार और कुछ अर्थालंकारों का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में शेष अर्थालंकारों तथा भावालंकारों का वर्णन है। तथा कुछ ऐसे अलंकारों का निर्देश है जो कुछ लेखकों ने लिये हैं पर अधिकांश लेखकों ने जिन पर विचार नहीं किया है।

काव्यालंकार शब्द को काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए रसालजी ने इसे शास्त्र और कला दोनों के ही अन्तर्गत रक्खा है क्योंकि इसके वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत सैद्धान्तिक शास्त्र और व्यावहारिक विज्ञान दोनों ही हैं। काव्य की परिभाषा, काव्यात्मा, काव्यभेद, काव्यहेतु आदि सैद्धान्तिक शास्त्र के अन्तर्गत हैं, पर काव्य-सौन्दर्य, गुण, दोष कवि परम्परा आदि व्यावहारिक कला के अन्तर्गत हैं। जिनका जानना कवियों के लिये आवश्यक है। फिर भी यह शास्त्र है कला नहीं, क्योंकि काव्यशास्त्र का साधारण उपयोग काव्य

---

१ मिश्रालंकार-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन 'साहित्यपारिजात' के मिश्रालंकार के साथ किया जायगा।

तत्व ज्ञान ही रहता है, कवि बनाना नहीं। अतः कला सम्बन्धी ज्ञान कवि-शिक्षा के ही अन्तर्गत कहा जा सकता है जो कि सभी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में नहीं है। हाँ, काव्य कल्पलता, अलंकार शेखर, कविप्रिया आदि ऐसे ग्रंथ अवश्य हैं जिनमें काव्यकला की बातें भी आ जाती हैं। यह वह शास्त्र है कि जिसमें पूर्णता प्राप्त करने के लिये सभी शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है।

अलंकार शास्त्र का ज्ञान काव्य में मनोरंजकता लाने के लिए है। इस दृष्टि से 'रसाल' जी ने अलंकारों का महत्व सबसे अधिक सिद्ध किया है। भाषा को अलंकृत करने और काव्य में वैलक्षण्य लाने के लिये अलंकारों की बड़ी आवश्यकता है। उक्तिवैचित्र्य के द्वारा ही कवि का कवित्व प्रगट होता है विचार का प्राधान्य काव्य के लिए उतना आवश्यक नहीं जितना उक्ति वैचित्र्य। इसी प्रकार 'रसाल' जी का कथन है कि रस, भावादि की प्रधानता भी काव्य में अपना विशेष स्थान नहीं रखती, उसका यथार्थ क्षेत्र तो नाटक है, इसीलिए काव्यशास्त्र के ग्रंथों में अलंकार ही प्रधान वस्तु है।[1] 'रसाल' जी का यह तर्क विश्वसनीय तो है, पर संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य काव्यात्मा की खोज करते करते जिस तथ्य पर पहुंचे थे, वह प्रकट करता है कि अलंकार, काव्य का प्रधान अंग नहीं। यहाँ तक कि मम्मट ने अपनी परिभाषा में तो 'सगुणावनलंकृती' कहकर अलंकारों की अप्रधानता सिद्ध ही कर दी है और काव्यात्मा के नवीन खोजियों ने ध्वनि और रस को ही काव्य में प्रधान माना है, अलंकारों को महत्व नहीं दिया है। 'रसाल' जी अलंकारों के प्रतिपादन में 'वैलक्षण्य' का आधार लेते हैं पर यह वैलक्षण्य या उक्ति-वैचित्र्य ध्वनि के अन्तर्गत भी है। अतः अलंकारों के विषय में रसाल जी का मत यही सिद्ध करता है कि वे प्रारम्भिक अलंकारशास्त्रियों, भामह, दण्डी आदि के ही मतानुयायी हैं। वे अलंकारों का प्रयोग गद्य काव्य के लिए भी आवश्यक मानते हैं।

शब्दालंकारों के आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार करते हुए 'रसाल' जी ने यह दिखाया है कि पुनरुक्ति (जो वर्णावृत्ति, पदावृत्ति और शब्दावृत्ति के रूप में प्रकट होती है), प्रयत्नलाघव (जिसमें उच्चारण-सुगमता के आधार पर वृत्तियों का निरूपण हुआ है), ध्वनिसाम्य (*जिसके आधार पर अनुप्रास का जन्म हुआ है*) कौतुक-कौतूहल प्रियता (जो कि प्रहेलिका, दृष्टिकूट आदि को जन्म देती है), अलंकार के आधार हैं। अन्तिम प्रवृत्ति न केवल शब्दालंकार के ही मूल है, न, वरन् अनेक अर्थालंकार जैसे, अन्योक्ति रूपकातिशयोक्ति पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि के भी मूल में उपस्थित मिलती है।

---

१ 'अलंकार पीयूष' पूर्वार्द्ध पृ० १८

अलंकारों के विषय में रसाल जी का अपना विचार चाहे जो कुछ हो, पर वे आगे चलकर अन्य आचार्यों के मतानुसार इस बात का प्रगट कर देते हैं कि काव्य सौंदर्य के दो रूप हैं एक अन्तरंग, जिसमें काव्य की आत्मा या प्राण का निरूपण करके रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त खड़े किये गये हैं और दूसरा बहिरंग सौंदर्य है जिसमें अलंकार के सकीर्ण रूप उपमादि पर विचार किया जाता है।[1] यही मत यथार्थ में सवसमीचीन है।

शब्दालंकार शास्त्र के इतिहास का प्रसंग बहुत कुछ पोद्दार जी की 'रसमंजरी' के आधार पर है और कुछ उद्धरण 'अलंकारमंजरी' के आधार पर हैं, जैसा कि उन्होंने (पोद्दार जी ने) अपने 'अलंकारमंजरी' के प्राक्कथन में पृष्ठ "अऊ" और "अए" पर दिखलाया है। मेरी समझ में यह आवश्यक अध्ययन और विचार-साम्य का परिणाम हो सकता है, क्योंकि रसाल जी के ग्रन्थ में भी पर्याप्त अध्ययन और नवीन खोज तथा विचार की मात्रा विद्यमान है।

संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास दिखाते हुए रसाल जी ने कहा है कि रीति एवं गुण सिद्धान्तों का प्रभाव अर्थालंकारों पर कुछ भी नहीं पड़ा हाँ उनका प्रभाव शब्दालंकारों पर अवश्य छा गया[2] और रीति और गुण के आधार पर वृत्यनुप्रास का प्रबल प्रचार बढ़ा। रीति और वृत्ति में अधिकांश आचार्य भेद नहीं मानते। रीति और गुण यथार्थ में शब्दों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः अर्थालंकार पर उसका प्रभाव पड़ ही क्या सकता है।

हिन्दी अलंकार-शास्त्र का इतिहास बहुत संक्षेप में 'अलंकार पीयूष' में है और वह भी अधूरा है। इसके अन्तर्गत रसाल जी ने देव को केवल अलंकार पर लिखने वाला आचार्य बताया है[3] जब कि 'काव्य-रसायन' और 'भाव विलास' आदि ग्रन्थ रस और ध्वनि दोनों पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं। इसमें हिन्दी के अनेक प्रमुख आचार्य जैसे चिन्तामणि त्रिपाठी, सुरति, श्रीपति, सुखदेव आदि का वर्णन है ही नहीं। 'अलंकार पीयूष' में प्रायः वर्णन संस्कृत के ही आधार पर है। हिन्दी के कवियों में केशव, मतिराम, भूषण, पद्माकर और लछिराम का ही नाम प्रायः देखने को मिलता है, अन्यों का नहीं।

---

१ 'अलंकार पीयूष' पूर्वार्द्ध, पृ २८।

२ 'अलंकार पीयूष' पूर्वार्द्ध पृष्ठ ७०

३ „ „ „ ८३

अनेक स्थानों के विवेचन में उदाहरणों की कमी बहुत खटकती है। उदाहरण का होना विवेचन और विशेषकर तुलनात्मक प्रकरणों में आवश्यक जान पड़ता है।

तुक का विवरण रसाल जी ने 'काव्यनिर्णय' का आधार लेते हुए बड़े व्यापक रूप में दिया है। वे मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत तुक का होना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि आजकल जब कि अतुकान्त कविता का इतना अधिक प्रचार है, रसाल जी के इस विचार से सहमत होने वाले अधिक व्यक्ति नहीं होंगे। तुक के सम्बन्ध के व्याकरणात्मक और व्रजभाषात्मक वर्गीकरण अधिक समीचीन दृष्टिगत नहीं होते, क्योंकि एक का काव्य के सौष्ठव से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना वाक्य की शुद्धता से, अतः उसका तो स्थान सर्वत्र ही है और दूसरे का स्थान खड़ी बोली या अवधी काव्य के अन्तर्गत नहीं हो सकता।

'पुनरुक्तिवदाभास' अलंकार के सम्बन्ध में रसाल जी का कहना है कि इसका सम्बन्ध मूलतः अर्थ से है, शब्द से नहीं, अतः इसे एक प्रकार का अर्थालंकार ही मानना ठीक है। अन्य आचार्यों के मतानुसार यह शब्दालंकार ही माना गया है। यथार्थ में पुनरुक्त वदाभास' है शब्दालंकार ही, क्योंकि यह शब्दचमत्कार है, इसका प्रमाण यह है कि यदि उस शब्द के स्थान पर उसका पर्याय शब्द रख दिया जाय तो वह चमत्कार जाता रहता है। उदाहरणार्थ —

'अली भौंर गूँजन लगे, होन लगे दल पात' में 'अली' और 'दल' शब्दों का चमत्कार है, इन्हीं के अर्थवाले अन्य शब्दों में यह चमत्कार नहीं। अतः इसे शब्दालंकार मानना ही उचित है।

रसाल जी ने ग्रन्थ भर में इस बात का पालन किया है कि अपने मत के साथ-साथ अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख और सम्मान हो, इस प्रकार उन्होंने अपना मत लादने का प्रयत्न नहीं किया। अलंकारों के लक्षण अनेक प्रमुख आचार्यों के आधार पर देने से उनके विभिन्न रूप स्पष्ट हो गये हैं और प्रत्येक अलंकार-सम्बन्धी धारणा में क्या विकास हुआ है, यह भी स्पष्ट हो गया है। पर 'पोद्दार' जी की भाँति रसाल जी के भी स्वरचित उदाहरण, अधिक रमणीय नहीं। आचार्यों को प्रसिद्ध कवियों की कविता से सुन्दर उदाहरण चुनना चाहिए। वे अधिक उपयुक्त और विषय को स्पष्ट करने वाले हो सकते हैं। रसाल जी ने उदाहरण के बाद व्याख्या द्वारा लक्षणों को या विशेषताओं को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया। इसलिये वे उपयुक्त या अनुपयुक्त हैं इसकी जाँच भी नहीं हो सकी। इतना होने पर भी 'अलंकार पीयूष' बड़ा ही विद्वत्ता और विचार पूर्ण ग्रन्थ है और हिन्दी अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में इसका अपना गौरव है।

सीताराम शास्त्री का 'साहित्य सिद्धांत'

सीताराम शास्त्री के 'साहित्य-सिद्धांत' की रचना सं० १९८० वि० म हुई। 'साहित्य सिद्धान्त' पुस्तक काव्यशास्त्र पर, हिन्दी म, लिखी गई है जो कि शास्त्री जी के स्वरचित 'साहित्योद्देश्य' नामक संस्कृत ग्र थ का आधार ग्रहण किये हुए है। फिर भी यह स्वतन्त्र ग्रंथ है और 'साहित्योद्देश्य' से अधिक विस्तृत और स्पष्ट है। ग्रंथ का मूल आधार अनेक संस्कृत ग्रंथ हैं जिनके विचारों के अनुसार इसकी रचना हुई अथवा जिनके उदाहरण इसमें आये हैं। इसके प्रमुख आधार हैं भागवत, अग्निपुराण तथा भरत, नागोजी भट्ट, प्रदीप, उद्योत, वामन, विश्वनाथ, गोविन्द ठाकुर आदि अनेक विद्वानों के ग्रंथ, पर मुख्य रूप से 'काव्यप्रकाश' ही की समस्याओं और उसकी विवेचना-पद्धति का प्रतिपादन किया गया है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अपनाये गये तेरह पदार्थों का वर्णन विवरण-पूर्वक इस ग्रंथ में है। वे तेरह पदार्थ ये हैं १ काव्य, २ शब्द, ३ अर्थ, ४ वृत्ति, ५ गुण, ६ दोष, ७ अलंकार, ८ रस, ९ भाव, १० स्थायी भाव ११ विभाव, १२ अनुभाव १३ संचारी भाव। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन प्रकरणों म विभाजित है। प्रथम उपोद्घात प्रकरण है। जिसमें इन सभी पदार्थों का परिचय दिया है, द्वितीय स्वरूपनिरूपण प्रकरण है इसके अन्तगत उत्तम—ध्वनि प्रधान काव्य, मध्यम—गुणीभूतव्यंग्य और अधम—ध्वनिहीन, तीन कोटि के काव्यों के स्पष्टीकरण हैं। प्राय इस दूसरे प्रकरण में प्रथम प्रकरण के अनेक प्रसंग आ गये हैं। इसमें ध्वनि के अनेक भेद, उनकी तालिकायें तथा रसानुभूति का विवेचन भी है और भावों और रसों के भेद एवं नवों रसों के विभाव, अनुभाव, संचारी स्थायी भावों की सूची है। तृतीय, 'व्यंजना स्थापन प्रकरण' है जिसके अन्तगत व्यंजना की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित की गई है। व्यंजना के सम्बन्ध में किये गये अनेक मतों, वादों और शंकाओं का उत्तर दिया गया है और इस प्रकार पुस्तक में प्राचीन साहित्य शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्याओं को उठाने का प्रयत्न किया गया है, पर यह शंका-समाधान संस्कृत ग्रन्थों और विशेष कर मम्मट, के आधार पर है।

पुस्तक की उपादेयता हिन्दी के माध्यम से संस्कृत काव्यशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिये विशेष है, हिन्दी के विद्यार्थी को तो इसकी शब्दावली और प्रतिपादन-पद्धति बड़ी ही उलझी हुई जान पड़ेगी। जो समस्यायें उठाई गई हैं उनका समाधान सन्तोषकारी नहीं है। पंडिताऊ पद्धति पर यह ग्रंथ लिखा गया है और यद्यपि यह संस्कृत काव्य शास्त्र की सभी समस्याओं को सामने रखता है फिर भी आधुनिक रीति-ग्रंथों में उसकी गणना नहीं हो सकती। आधुनिकता इसी बात में ही दीखती है कि वह हिन्दीगद्य में है अन्यथा उदाहरण तक संस्कृत के ग्रन्थों से ही हैं हिन्दी कविता का एक भी उदाहरण नहीं है।

अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण'

'भारतीभूषण' सेठ अर्जुनदास केडिया की लिखी अलंकारों की सुन्दर पुस्तक है।[1]
अलंकार पर पाई जाने वाली अनेक पुस्तकों में, विवेचन, परिभाषा और उदाहरण की
दृष्टि से यह बड़ी ही उत्तम है। रीतिकाल में लिखी गई पुस्तकों में और उसके पश्चात्
भी उसी परम्परा के ग्रंथों में प्राय लक्षण भी पद्य में ही दिये गये हैं, साथ ही लक्षण
अनुवाद होने के कारण पूर्ण और स्पष्ट नहीं हैं, अधिकांश ग्रंथों में उदाहरण भी पर्याप्त
मात्रा में नहीं हैं। इस ग्रंथ में इन दोनों त्रुटियों को दूर कर दिया गया है। अतः
अलंकार शिक्षा के लिए यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी और शुद्ध है। इस ग्रंथ की अनेक
विशेषताओं का, जिनकी ओर ग्रन्थकार ने स्वयं ही संकेत कर दिया है उल्लेख कर
देना, इस पुस्तक का महत्व हृदयंगम करने के लिए आवश्यक है।

'भारतीभूषण' में लेखक ने मूल अलंकारों के लक्षण लिखे हैं और उनके
अनेक भेदों के भी, जब कि प्राय ग्रंथों में मूल अलंकारों के लक्षण न देकर उनके भेद
के लक्षण ही दिये गये हैं। मूल अलंकार की परिभाषा देना उसके पूरे विस्तार को
हृदयंगम करने पर ही सम्भव हो सकता है। अतः लेखक की यह विशेषता अभिनन्दनीय है।

दूसरी विशेषता यह है कि हिन्दी के अनेक अलंकार-ग्रंथों में उदाहरण भी संस्कृत
ग्रंथों के अनुवाद हैं, पर इसमें लेखक ने अनुवाद रूप में कोई उदाहरण नहीं रखा है।
जितने उदाहरण हैं सब भाषा कवियों की मौलिक रचनायें हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि इसमें 'अलंकार प्रकाश' और 'अलंकार मंजूषा' ग्रन्थों में
आये उदाहरण नहीं रखे गये। इन ग्रंथों में हिन्दी के सुन्दर उदाहरण आ चुके हैं। अतः
उनके अतिरिक्त उदाहरणों के जुटाने में ग्रन्थकार को अपना नवीन प्रयत्न करना पड़ा है।

चौथी विशेषता यह है कि प्रत्येक अलंकार और उसके विभिन्न भेदों के भी अनेक
उदाहरण दिये गये हैं जिससे लक्षण पूर्णरीति से स्पष्ट हो जाएँ और सुविधानुसार जो
जिसे अच्छा लगे कंठ कर सके।

पाँचवीं विशेषता यह है कि इसमें लक्षण, उदाहरण देकर ही नहीं छोड़ दिया गया,
वरन् उदाहरण के बाद आवश्यक स्थलों पर उदाहरण का लक्षण से मिलान करके

---

१ प्रकाशक—भारतीभूषण कार्यालय, काशी सं० १९८७ वि०।

स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार यह लक्षण को व्यक्त करता है। यह अलंकार की शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक विशेषता है।

छठी विशेषता यह है कि सूचनाओं द्वारा एक अलंकार म दूसरे उसी प्रकार के अलंकार स क्या साम्य और क्या वैषम्य है, इस बात को भी यथास्थान समझा दिया गया है।

सातवीं विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने जहाँ अनेक सुन्दर उदाहरणों को जुटाया है, वहाँ पर उसने अपने बनाये हुये छन्द भी प्रचुर मात्रा में रखे हैं।

आठवीं विशेषता यह है कि लेखक ने जो अन्य खोजपूर्ण बातें आवश्यक समझी हैं, उन्हें टिप्पणियों और सूचनाओं में व्यक्त किया है। ये सूचनाएँ इस ग्रंथ की विशेषता और महत्व को बढ़ाती हैं। कुछ बातें ये हैं—

उपनागरिका वृत्ति की टिप्पणी म केडियाजी[1] लिखते हैं कि "अ आ इ ई आदि स्वर अक्षर सभी वृत्तियों में आ सकते हैं अतः इसको लक्षण में नहीं लिखा। इनके ह्रस्वरूप 'उपनागरिका' तथा 'कोमला' में और दीर्घ रूप 'परुषा' वृत्ति म उपयुक्त जान पड़ते हैं। यद्यपि अनुप्रास का विचार करते समय भाषा-ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, तथापि इससे यह न समझना चाहिये कि स्वर अनुप्रास-वा२क होते ही नहीं। स्वतन्त्र स्वर भी अनुप्रास निर्वाहक अवश्य होते हैं—जैसे उयौ आज आनहिं अवनि अलि अकचक भयक।'

इसमें केडिया जी ने स्वर का अनुप्रासत्व सिद्ध किया है और यह कहा है कि अ आ इ ई के ह्रस्व, उपनागरिका और कोमला म तथा दीर्घ रूप, परुषा में उपयुक्त जान पड़ते हैं। पर इसमें मतभेद हो सकता है। आ और इ भी कोमला और उपनागरिका में खूब आते हैं।

अनुप्रासों के वर्णन में केडिया जी ने राजपूताने के बारहठ कवियों के छन्दशास्त्र में पाये जाने वाले 'वैण सगाई' अलङ्कार का भी उल्लेख किया है जिसमें यह नियम है कि जो अक्षर छन्द के किसी चरण क आदि म आता है वह कम से कम एक बार और उसी चरण में आना चाहिये। यह एक प्रकार से छेक या वृत्य अनुप्रास सा ही है।

परम्परित रूपक के लक्षण बताते हुये 'केडिया' जी ने लिखा है कि 'जिसमें प्रधान

---

१ भारती भूषण' पृष्ठ ८ टिप्पणी।

२ उदाहरण देखिए 'काव्य प्रभाकर' से।

रूपक का कारण एक अन्य रूपक हो, अर्थात् प्रधान रूपक किसी दूसरे रूपक पर आश्रित हो"[1] और इसी की सूचना में व्यक्त किया है "यहाँ परम्परित लक्षणोक्त 'कारण' शब्द का तात्पर्य यह है कि मुख्य रूपक अपने कारणभूत अन्य रूपक का आश्रित होता है, न कि प्राकृतिक कारणवत और प्रधान रूपक जिस रूपक का आश्रित होता है, वह रूपक भी किसी अन्य रूपक का आश्रित हो सकता है। इसी प्रकार ऐसे बहुत से (दो से अधिक) रूपकों की शृंखला हो सकती है।"[2] यहाँ पर दो से अधिक रूपकों की शृंखला तो हो सकती है, लक्षण में इसका प्रतिपादन होता है, पर व्यवहार में यह शृंखला दो से अधिक दूर नहीं जाती, क्योंकि उसके बाद उसका निर्वाह रूपक के रूप में कठिन है। लक्षण में 'कारण' शब्द भी व्यर्थ ही है, क्योंकि रूपक का आश्रित होना ही इसका सम्यक् लक्षण है अतः 'कारण' शब्द के कारण ही यह टिप्पणी भी देनी पड़ी है और इस कारण से इसमें कोई विशेष चमत्कार भी नहीं आता।

लुप्तोत्प्रेक्षा (जिसे गम्योत्प्रेक्षा या व्यंग्योत्प्रेक्षा भी कहते हैं) के सम्बन्ध की सूचना में कविया जी ने लिखा है कि लुप्तोत्प्रेक्षा का विकास हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ही में देखा जाता है[3] वस्तूत्प्रेक्षा में नहीं, क्योंकि हेतु और फल में वाचक शब्द के अभाव में उत्प्रेक्षा व्यंजित हो जाती है जबकि वस्तूत्प्रेक्षा में ऐसा सम्भव नहीं है। गम्योत्प्रेक्षा विषयक यह विशेषता अभी तक किसी आचार्य ने नहीं बताई। गम्योत्प्रेक्षा के उदाहरणों में से यह बात सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार की विशेषता इन्होंने 'दीपक' अलंकार के अन्तर्गत सूचना में दिखाई है। दीपक और तुल्ययोगिता का अन्तर दिखाते हुए उन्होंने यह बताया है कि तुल्ययोगिता वहाँ होती है जहाँ पर केवल उपमेयों अथवा केवल उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म है और यह धर्म केवल क्रिया के धर्म में ही सीमित है, गुण में नहीं जैसा कि अन्य कुछ आचार्यों[4] ने लिखा है क्योंकि दीपक के सभी भेद क्रिया से ही सम्बन्धित हैं और वामनाचार्य के सूत्र एवं 'साहित्य दर्पण' की टीकाओं से भी यह स्पष्ट है। दीपक के अनेक प्रकारों में 'देहरी दीपक' एक प्रकार भी इन्होंने माना है।

---

१ 'भारती भूषण' पृष्ठ ६१

२ ,, ,, ,, ६४

३ ,, ,, ,, १३९

४ ,, ,, ,, १५९, देखिए 'अलंकार मंजूषा', दीपक का उदाहरण।

सारूप्य निबन्धना और अन्योक्ति का एक्य प्रमाणित करके लेखक ने समासोक्ति का भेद बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। अन्योक्ति में अप्रस्तुतार्थ के वर्णन-द्वारा प्रस्तुतार्थ सूचित किया जाता है, जबकि 'समासोक्ति' प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुतार्थ का बोध कराती है और इस दृष्टि से यह अन्योक्ति (या सारूप्य निबन्धना) के ठीक विपरीत है।[1]

अतद्गुण अलंकार के साथ दी गई सूचनायें भी बड़ी ही महत्व की हैं। 'केडिया' जी के विचार से तद्गुण और अतद्गुण अलंकार के अन्तर्गत जो 'गुण-ग्रहण सम्बन्धी बात कही जाती है उसमें गुण का तात्पर्य केवल रंग से लेने वाले अधिकांश आचार्य हैं, पर केडिया जी ने कुवलयानन्द के आधार पर गुण को रूप-रस-गन्धादि वाचक माना है और उनके विचार से इनका होना भी आवश्यक है। ऐसे उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। इसके बाद 'उल्लास' 'अवज्ञा' से 'तद्गुण' 'अतद्गुण' का भेद बतलाते हुए केडिया जी ने लिखा है कि उल्लास और अवज्ञा अलंकारों में एक के गुण से दूसरे का गुणी होना या न होना क्रमशः दिखाया जाता है, किन्तु यथार्थ में गुण-ग्रहण का तात्पर्य नहीं, पर [illegible] और अतद्गुण में गुण के ग्रहण करने का ही तात्पर्य होता है[2]। पुनः प्रथम [illegible] शब्द दोष विरोधी के अर्थ में आता है, पर द्वितीय द्वय में गुण रूप, रस, गंध, [illegible] के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। यह सूक्ष्म भेद दोनों प्रकार अलंकार को समझने के लिए आवश्यक है।

इसी प्रकार 'मीलित' और 'तद्गुण' को अन्यत्र स्पष्ट करते हुए केडिया [illegible] में[3] व्यक्त किया है कि तद्गुण में गुण रूप-रसगंधादि-वाची होता है और [illegible] दूसरे के गुण-ग्रहण से तात्पर्य लिया जाता है जबकि मीलित में गुण शब्द [illegible] वाचक होता है और एक गुण दूसरे में पूर्णतः लीन हो जाने की बात [illegible] गुण दूसरे में दूध-पानी के समान इस प्रकार मिल जाने की [illegible] ज्ञात ही न हो।

अन्त में अलंकारों के विषय की सूची 'भारतीभूषण' के [illegible] मानते किस अलंकार में काव्यशास्त्र का कौन विषय वर्णित है, [illegible]

---

१ भारती भूषण' पृष्ठ २०२

२ ,, ,, १२२

३ ,, ,, ,, १२६

द्वारा लेखक ने अलङ्कारों और रस तथा शब्द शक्ति को सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है, पर यह सर्वथा सत्य नहीं।[1] आधुनिक काल में अनेक अलंकारों से, विषय भिन्नता प्रकट हो सकती है, अतः यह अनुमान ही है, तथ्य नहीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कड़िया जी का 'भारतीभूषण' ग्रंथ अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर, रोचक और शुद्ध ग्रंथ है, अलंकारों के विशेष अध्ययन के लिए यह महत्व पूर्ण है और इसमें स्थान-स्थान पर कड़िया जी के अपने निजी विचार किसी विशेष अलंकार के सम्बन्ध में भी प्रकट हुए हैं जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

हरिऔध का 'रसकलस'

'रसकलस', हरिऔध जी की सं० १९८८, वि (१-८-३१ ई०) की रचना है। यह आधुनिक-कालीन रस-ग्रन्थों में महत्व का ग्रन्थ है, क्योंकि एक तो इस समय जितने ग्रंथ अलंकार को लेकर लिखे गये उतने ग्रंथ रस पर नहीं, दूसरे इस ग्रंथ में परिभाषा अथवा लक्षण हिन्दी गद्य में है और उदाहरण ब्रजभाषा-पद्य में हैं और ये पद्य हरिऔध जी की अपनी रचना होते हुए भी माधुर्य में रीति-कालीन ब्रजभाषा पद्यों से कम नहीं है, तीसरे इसमें केवल शृंगार का ही विस्तृत विवरण नहीं, वरन् सभी रसों का पूर्ण वर्णन है और एक-एक लक्षण के अनेक सरस, सुन्दर तथा उपयुक्त उदाहरण हैं, चौथे इस ग्रन्थ में रस और नायिका भेद के विश्लेषण और वर्गीकरण में भी नवीनता है जिस पर आगे विचार किया जायगा। और पाँचवें इस ग्रन्थ की भूमिका-रूप में 'हरिऔध' जी ने २२६ पृष्ठों का विस्तृत निबन्ध प्रस्तुत किया है, जिसमें रस और नायिका भेद सम्बन्धी आज कल की समस्याओं पर विचार, आक्षेपों का उत्तर और इस परम्परा को प्रचलित रखने की सार्थकता

---

१ "विषादन द्वारा प्रायः अनुशयाना नायिका का वर्णन होता है।" यहाँ पर प्रायः शब्द ही एक तो विषय का तथ्य होना सिद्ध करता है और उसके अतिरिक्त विषादन के अनेक उदाहरण ऐसे होंगे जो नायिका-भेद के किसी भी विषय में नहीं आयेंगे जैसे नीचे की पंक्तियों का विषादन अलंकारः—

> "स्वतन्त्रते, मैं तुझे खोजता था जब सौख्य सदन में।
> तब तू मेरे लिये छिपी थी कारागार गहन में।
> सोचा था मैंने होगी सचमुच सम्राट शरण में।
> पर तू तो निवास करती थी तम विद्रोही गण में।"

सिद्ध करते हुए, रसकलस ग्रंथ की आवश्यकता पर विचार किया गया है। चाहे कोई हरिऔध जी के तर्कों और प्रतिपादन से मतसाम्य न रखता हो पर जब इसी विषय पर लिखे अनेक ग्रंथों के बीच, इस प्रकार का ग्रंथ आता है, तो उसकी महत्ता बढ़ ही जाती है। साधारण दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इसमें लेखक ने कोई नवीन सिद्धान्त, रस के सम्बन्ध का, हमारे सामने उपस्थित नहीं किया, पर वह संस्कृत के अनेक सिद्धान्तों का सहारा लेकर अवश्य चलता है, और हम यह भी कह सकते हैं कि जहाँ तक निरूपण का प्रश्न है लेखक की प्रणाली बहुत अधिक दार्शनिक और तार्किक न रह कर साहित्यिक और कवि सुलभ ही है, फिर भी जिन समस्याओं को उठाकर, कवि ने उनका उत्तर दिया है, वे आधुनिक समस्यायें हैं, वे महत्वपूर्ण हैं और विचारणीय हैं, साथ ही विचारणीय है कवि का वर्गीकरण और नवीन अंग जिनका समावेश रसकलस में हुआ है।

भूमिका में संस्कृत के अनेक ग्रंथों का आश्रय लिया गया है, पर प्रमुख रूप से आने वाले ग्रंथ हैं—काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, रस गंगाधर, अग्निपुराण और श्रीमद्भागवत। इसके अन्तर्गत रस-निर्देश, रससाधन, उत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार और उसकी आनन्दानुभूति, रस और ब्रह्मानन्द विभावादि और रस, विरोधी रस, रसदोष, रसाभास, तथा शृङ्गार और वात्सल्य रस आदि विषयों पर विचार किया गया है।

रस के साधनों में हरिऔध जी ने ध्वनि, अर्थ, वेशभूषा, भावभंगी आदि को लेकर यह निष्कर्ष निकाला है कि दृश्य काव्यों में साधन विशेषरूप से उपस्थित होने के कारण साहित्यिक-रस की मीमांसा उन्हीं से प्रारम्भ हुई है।[1] रस की उत्पत्ति के विषय में हरिऔध जी भरत सूत्र[2] की काव्यप्रकाशकारवाली व्याख्या मानते हैं जिसमें कि उन्होंने प्रतिपादित किया है कि लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं नाटक और काव्य में विभाव अनुभाव, और व्यभिचारी कहलाते हैं। इन विभावादिकों की सहायता से व्यक्त स्थायीभाव रस कहलाता है।[3] इस धारणा को हरिऔध जी ने अपने उदाहरणों-द्वारा पुष्ट किया है।

---

१ 'रसकलस' भूमिका, पृष्ठ ८

२ "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

नाट्यशास्त्र।

३ 'कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥

रस के इतिहास में हरिऔध जी ने रसास्वादन के सिद्धान्त का विकास दिखाया है, और यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार आरोप, अनुमान, भाग और अभिव्यक्ति आदि वादों के बीच होता हुआ, अभिव्यक्तिवाद ही सर्वमान्य सिद्धांत हुआ है।

हरिऔध जी ने विभाव, आदि को अकेले ही रस की व्यंजना करने में समर्थ दिखाते हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट किया है कि जहाँ पर रस की व्यंजना होती है वहाँ पर व्यंग्य रूप में तीनों ही उपस्थित होते हैं। देखने में वहाँ एक है, पर विश्लेषण करने पर विभाव, अनुभाव और संचारी सभी होते हैं। अतः यह सत्य नहीं कि कोई अकेला अंग ही रस की व्यंजना कर सकेगा।

परस्पर विरोधी रसों की तालिका देने के उपरान्त हरिऔध जी ने 'रस विरोध के परिहार' में यह भी बताया है कि किस प्रकार विरोधी रस एक स्थान में होते हुए भी दोष उपस्थित नहीं करते। यह दोष तब नहीं होता जब कि —

१ दो विरोधी रसों का जिनका आधार एक ही हो, आधार भिन्न भिन्न कर दिया जाय।

२ दो विरोधी रसों के मध्य एक ऐसे रस को स्थापित कर दिया जाय जो दोनों का अविरोधी हो।

३ विरोधी रस का आधार स्मरण हो।

४ दो विरोधी रसों में साम्य स्थापित कर दिया जाये।

५ दो विरोधी रस किसी अन्य रस के अंगांगी भाव से अंग बन गये हों। उपर्युक्त नियम, 'काव्यप्रकाश' के[1] आधार पर है, पर हरिऔध जी ने भी इसे अपने उदाहरणों द्वारा सिद्ध कर दिया है। जैसे प्रथम नियम की सिद्धि के लिये उन्होंने उदाहरण दिया है:—

> "बान तानि के कान लौं, खेंचे कठिन कमान।
> भभरि भभरि सारे सुभट, भाग भीरु समान॥"[2]

विभावानुभावास्ते कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसस्मृतः॥'
—काव्यप्रकाश, चतुर्थउल्लास सूत्र ४३, छं० २७।२८

१ काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, सू० ८४, ८६ छन्द ६४, ६५

२ रस कलस, भूमिका पृष्ठ ५२।

इसमें आधार भिन्न भिन्न कर दिये गये हैं। प्रथम चरण का आधार (आलम्बन) वीर और दूसरे चरण का आधार (आलम्बन) भयातुर सुभट हैं। अत दोष का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी।

शृंगार रस की उपयोगिता और व्यापकता

शृंगार रस की विस्तृत विवेचना हरिऔध जी ने अपनी भूमिका में की है। शृंगार रस की परिभाषा भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' के आधार पर लिखी है कि जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार कहलाता है।[1] अत यह परिभाषा शृंगार सम्बन्धी सामान्य धारणा से अधिक उज्ज्वल रूप रखने वाली है।। शृंगार का स्थायी-भाव 'रति' या स्त्री पुरुष के बीच का प्रेम है। यह प्रेम स्वाभाविक, उज्ज्वल और पवित्र है। अत उसका वर्णन करना कभी भी हेय नहीं हो सकता और न कभी अवांछनीय ही। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, फ्रेंच आदि सभी प्रमुख साहित्यों में स्त्री-पुरुष के प्रेम का विशद और विस्तृत वर्णन है। तब हमारे ही भाषा-ग्रन्थों में तिरस्कार क्यों किया जावे। शृंगार का सम्बन्ध सुन्दरता और सुखराइ से है अतः उसकी व्यापकता विश्व भर में है। उसके विषय, उसका निरूपण सदा ही नवीन है। इसीलिये हमारे यहाँ के साहित्यकारों ने शृंगार को प्रधान रस माना है[2] उसे सब रसों के राजा के रूप में वर्णित किया है।

नायिका भेद

हरिऔध जी के विचार से जिस प्रकार शृंगार के प्रति व्यर्थ की कुत्सा दिखलाते हुए भी साहित्य से उसका निष्काशन नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य की सरसता का मूल वही है, उसी प्रकार नायिका-भेद का बहिष्कार करते हुए भी हम साहित्य के भीतर

---

१ यत्किंचिल्लोके शुचिर्मेध्यमुज्वल दर्शनीय वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते

नाट्यशास्त्र।

२ भूति कहत नव रस सुकवि सकल मूल शृंगार।

(युगल विलास)

नव हूँ रस को भाव बहु तिनको भिन्न विचार।
सबको केशवदास कहि, नायक है सिंगार॥

(रसिक प्रिया)

म नायिकाओं को हटा नहीं सकते। अतः नायिका भेद के प्रति घृणा, एक दुर्भाव है। यथार्थ बात तो यह है कि अंग्रेजी, फारसी, उर्दू, संस्कृत आदि में जहाँ भी स्त्रियों का वर्णन आता है, वह है सब नायिका भेद की ही बात। जहाँ पर बिना नाम लिए कि यह अमुक नायिका है, वर्णन करते हैं तो उसको लोग खूब पसन्द करते हैं पर हमारे साहित्य—संस्कृत और हिन्दी—म उनका एक मनोवैज्ञानिक शास्त्रीय वर्गीकरण कर दिया गया, तो बड़ा अनर्थ हो गया। अंग्रेजी और उर्दू के अनेक उदाहरणों म हरिऔध जी ने नायिका भेद दिखलाया है। अतः हम इस विषय म उनका निकष उन्हीं के शब्दों में देख सकते हैं।

"नायिका-भेद के मूल में जो सत्य है, वास्तविक बात यह है वह सार्वभौम एवं सर्वकालिक है। उसके भीतर स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं जो व्यापक और सर्वदेशी हैं, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति विश्व भर म अज्ञात रूप से यथाकाल और यथावसर होती रहती है। मेरा विचार है कि नाट्यशास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विधिवद्ध करके साहित्य की शोभा ही नहीं बढ़ाई है, लोक हित-साधन का भी आयोजन किया है।"[१]

कला और भावुकता दोनों की दृष्टि से नायिका-भेद मूलरूप म आता है क्योंकि कला की दृष्टि से सुन्दर और मधुर शब्दावली म ध्वनि और वक्रोक्ति-पूर्ण कथनों की आवश्यकता रहती है। साथ ही साथ इसका आश्रय लेकर स्त्री और पुरुषों के अनेक सुन्दर और सूक्ष्म भावों का चित्रण होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष की प्रकृति और प्रवृत्ति का विश्लेषण इसम होता है। दोनों के जीवन से क्या कटु और क्या मधुर सम्बन्ध है, इस बात का भी पूरा विवेचन रहता है। यथार्थ में नायिका भेद, स्त्री और पुरुष दोनों के मनोभावों का सुन्दरता के साथ चित्रण उपस्थित करता है। अतः इसका महत्व साहित्य म कभी कम नहीं हो सकता। हरिऔध जी का यह विचार सर्वथा सत्य है।

आजकल साहित्यिक मनोवृत्ति पर दृष्टिपात करके हम देख सकते हैं कि उपन्यास, कहानी, अथवा कविता म नायिका भेद का प्रधान स्थान है, चाहे हम उस दृष्टि से विश्लेषण करें या न करें। नाटक, उपन्यास, कहानी में जो चरित्र-चित्रण होता है। उसका हम शास्त्रीय दृष्टि से नायिका भेद के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं। यथार्थ

---

१ रसकलश की भूमिका, पृ १८५

बात तो यह है कि जिस प्रकार अलंकारों को विशेष महत्व न देते हुए भी आजकल का कवि अलंकारों का प्रयोग करता है, उसी प्रकार से नायिका भेद का तिरस्कार करते हुए भी हम साहित्य में उसका प्रयोग बराबर देखते और करते हैं।

रह गया यह प्रश्न कि स्त्रीवर्ग का सौन्दर्य-वर्णन करना चाहिए या नहीं, तो इसका भी उत्तर हम प्राचीन और आधुनिक साहित्य धारा में मिल जाता है। सौंदर्य आनन्द के लिए ही होता है। कला का उद्देश्य है सौन्दर्य उद्घाटन। रूप और गुण का चित्रण ही कला की सफलता है, और यह चित्रण साहित्य में बराबर होता रहा है और अब भी हो रहा है, तब स्त्रीजाति के स्वाभाविक सौंदर्य का शिष्ट वर्णन काव्य के स्वागत की वस्तु है, तिरस्कार की वस्तु नहीं। फिर निन्दनीय वह इस लिए और नहीं कि यह ब्रज भाषा का नवीन प्रयास नहीं, वरन् संस्कृत की प्रतिष्ठित परम्परा का अपनाव ही था। किसी भी क्षेत्र में ब्रजभाषा का नायिका भेद और रस-वर्णन संस्कृत काव्य की परम्परा के विरुद्ध नहीं गया है। अतः उसके विरुद्ध आवाज़ उठाना, उसकी निन्दा करना अनुचित है फिर उसको हम छोड़ भी नहीं रहे। छायावादी और प्रगतिवादी कविताओं में अनेक स्थलों पर नायिका भेद का चित्रण हमें मिलता है।[1]

हाँ, इस विषय में अवश्य दो मत नहीं हो सकते कि नायिका-भेद और शृंगार के अन्तर्गत जो अश्लीलतापूर्ण सुरत और मृदहास आदि का वर्णन है वह नितान्त गर्हणीय है। उसका साहित्य में कोई स्थान नहीं। सुरुचि के साथ उसका मेल नहीं है। असंयत भाव से अंगों का जो कामुकता-पूर्ण वर्णन है, वह अवश्य निन्दनीय है, किन्तु इसी के कारण पूरी प्रणाली को निन्दनीय बनाना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अश्लील वर्णन तो बहुत अधिक आजकल की प्रगतिशील कहलाने वाली कविताओं में भी मिलता है,[2] किन्तु इसके कारण साहित्यिक प्रगतिशीलता पर कोई दोषारोपण नहीं कर सकता।

---

१ देखिए निराला की जुही की कली और पन्त की ग्राम्या की ग्रामवधू'

२ प्रगतिशील कविता में अश्लीलता देखिए —

> और बड़ी तूफान फैंकती थे पथ कन्यायें सन्तप्त।
> जिनकी कृश अधरों पर संघर्ष मचाते थे उन्मत्त।
> जिनकी छाती के गड्ढों पर दीप वासना के जलते।
> जिनके नील कपोलों पर मतवाले नायक मुख मलते।
>
> —आजमरण की ओर, मधूलिका

वात्सल्य रस

भूमिका के अन्तर्गत हरिऔध ने वात्सल्य रस पर भी विचार किया है। उन्होंने संस्कृत आचार्यों के मतों का निदर्शन करते हुए लिखा है कि अधिकांश संस्कृत के बड़े बड़े आचार्यों का मत यही है कि वात्सल्य एक अलग रस नहीं मानना चाहिए। इसका स्थायी भाव, रति का एक भेद है। पुत्र के प्रति रति ही वात्सल्य है। अतः इसको देव, राजा, पुत्र आदि के विषय की रतिभाव कह कर संस्कृत के आचार्यों ने टाल दिया है। उन्होंने न भक्ति को रस माना है और न वात्सल्य को ही। पण्डितराज जगन्नाथ जी ने भक्ति के रसत्व का विरोध किया है, यद्यपि कुछ संस्कृत के आचार्य[1] इसको रस मानते थे, पर अधिकांश इसको भाव ही मानते हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी वात्सल्य रस माना है और हिन्दी साहित्य की प्राप्त कविताओं में भी वात्सल्य के रसत्व का प्रतिपादन हो जाता है। तुलसीदास और सूरदास ने जो वात्सल्य-रसयुक्त कवितायें की हैं, उनमें रस का पूर्ण परिपाक मिलता है। चमत्कार, आनन्द तथा अनेक अवयवों की पूर्णता पर विचार करने से वात्सल्य एक रस ठहरता है। इसके अतिरिक्त व्यापकता की दृष्टि से भी, हास्य, वीभत्स आदि मनुष्य समाज तक ही सीमित हैं, पर वात्सल्य सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणियों में नहीं, तो अधिकांश में पाया जाता है। मनुष्य-समाज के भीतर भी वीभत्स में उतनी सरसता और प्रभाव नहीं, जितना वात्सल्य में। नितान्त अशिक्षितों में भी वात्सल्य रस का प्रभाव प्रबलता के साथ देखा जाता है। वात्सल्य रस की कवितायें अधिक नहीं हुईं, फिर भी, वीभत्स भयानक, रौद्र आदि से अधिक हैं। इसलिए वात्सल्य का भविष्य उज्वल है और इसे रस के रूप में स्वीकार करके काव्य में अपनाना आवश्यक है।

---

१ देखिए क साहित्यदर्पण—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनमतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्या शौर्यदयादयः। आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्द बाष्पाद्या अनुभावा प्रकीर्तिताः। सञ्चारिणोऽनिष्टशंका हर्षगर्वादयो मताः॥

ख और भोजदेव का शृङ्गारप्रकाश —

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत हास्यरौद्र वीभत्स वत्सल भयानक शान्तनाम्न।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियोवदन्ति शृङ्गारमेव रसनाद्रसमाम नाम॥

यह तो भूमिका की बात हुई। 'रस कलस' के रस निरूपण में पूर्णता होते हुए अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिनका उल्लेख किया जा चुका है। यथार्थ में इस ग्रन्थ का उद्देश्य रसों और नायिका भेद का पूर्ण निरूपण करते हुए, इन ग्रंथों में आनेवाले कुरुचि और अश्लीलता आदि के दोषों का परिहार कर, एक रस-सम्बन्धी आदर्श ग्रन्थ उपस्थित करना था और इस दृष्टि से लेखक इसमें सफल है। शृङ्गार का पूरा वर्णन है, फिर भी उसमें सौंदर्य और आनन्द है, अश्लीलता नहीं। इस प्रकार हास्य भी यथार्थ में पूर्ण हास्य है, उदाहरणों में हास्य रस का यथार्थ तत्व है। यही बात वीभत्स, वीर भयानक, रौद्र शान्त, करुण आदि रसों में है। सभी के प्राप्त और सरस उदाहरण हैं जिससे यथार्थ में उस रस का आनन्द पाठक प्राप्त कर सकें इसके अतिरिक्त अद्भुत रस के अन्तर्गत 'रहस्यवाद' का समावेश किया गया है। यह इस ग्रन्थ की नवीनता है और इस दृष्टि से आजकल का काव्य भी इसमें कहीं न कहीं स्थान पा सकता है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से इसकी आधुनिक उपयोगिता भी सिद्ध हो जाती है।

इसी बात को प्रमाणित करता हुआ हरिऔध जी का, 'रस कलस' में प्रस्तुत नायिका भेद का वर्गीकरण और कुछ नवीन नायिकाओं की कल्पना है। नायिकाओं के इन्होंने प्रकृतिसम्बन्धी, धर्मसम्बन्धी और स्वभावसम्बन्धी भेद किये हैं। अन्य वर्ग तो यथावत् हैं। यहाँ पर प्रकृति और स्वभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं है। न इसको स्पष्ट ही किया गया है। स्वभाव-सम्बन्धी भेद मध्या और प्रौढ़ा पर लागू होते हैं। हरिऔध जी की नवीनता प्रकृति-सम्बन्धी भेद के अन्तर्गत है। इसमें इन्होंने उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन प्रकार रखे हैं और उत्तमा के, पति प्रेमिका, परिवार प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देशप्रेमिका जन्म-भूमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका और धर्म प्रेमिका भेद रक्खे हैं जो नितान्त नवीन हैं और नायिका-भेद की दृष्टि से चाहे अधिक सरस न हों पर वे उपयोगी हैं और नवीन काव्य को भी अपने अन्तर्गत ले सकते हैं। हरिऔध जी द्वारा लिखित प्रिय-प्रवास की राधा ही 'लोकसेविका' नायिका के रूप में भी हमारे सामने आती है। अतः इस वर्गीकरण का भी अपना महत्व है।

इन अनेक बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नवीनता और प्राचीनता दोनों की दृष्टि से हरिऔध जी का 'रस कलस' ग्रन्थ रोचक और उपयोगी है। रीतिकाल में और उसके बाद यदि इसी सुरुचि सदुद्देश्य एवं उपयोगिता का ध्यान रखकर रस और नायिका-भेद पर ग्रंथ लिखे जाते तो इस साहित्य की इतनी लोक-निन्दा

और भावों का वर्णन है। रसों के प्रसंग में भट्ट जी कहते हैं कि भरत ने आठ तथा कवियों ने नव रस माने हैं पर नवीन आचार्य भक्ति के और पाँच रस शृंगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शान्त मानते हैं।[1] इन पाँच में शृंगार और शान्त तो नवरसों में हैं, पर सख्य, दास्य, वात्सल्य ये तीन और अधिक माने जाते हैं। इसके बाद रसों का वर्णन है शृंगार रस की विवेचना करते हुए कविराज बिहारी लाल ने नायक और नायिका को आलम्बन, षट्ऋतु, आभूषण, फूलमाल, सखा, सखी दूत के वचन, कविता, गीत, उपवन, सर, कमल, समीर-चन्दन, सुगंध आदि उद्दीपन विभाव माने हैं। कृष्ण इसके देवता हैं।

तत्पश्चात् नायिका के अष्टांग का वर्णन किया है, जो यौवन, गुण, कुल, रूप रति, वैभव, भूषण और शील हैं। पद्मिनी आदि चार नायिकाओं के बाद स्वकीयादि का वर्णन है, पर विशेष प्रकार से आप नाट्यशास्त्र की अष्टविध नायिका को प्रधानता देते हैं। नायक भेद इसके बाद ऋतु-वर्णन और प्रकृति वर्णन के उदाहरण बड़े सुन्दर हैं इसके पश्चात् संयोग और वियोग शृंगार तथा दस भावों का वर्णन है। बिहारीलाल जी ने इसमें हेला और बोधक हाव नहीं माने हैं जो कि हावों के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, यह वर्णन संयोग शृंगार के भीतर है। इसके पश्चात् आठ रसों का सामान्य रीति से वर्णन है और उसके साथ ही अन्त में भावध्वनि, भावशान्ति, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता पर विचार है। नवीं तरंग में गुणों का वर्णन है।

भट्ट जी के विचार से गुण भाषा से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। इन्होंने मुख्य तीन गुण माने हैं और इन्हीं से दस गुण निकाले हैं। रीति, वृत्ति और काव्य-दोषों का विचार भी इसी तरंग में है दोषों के सम्बन्ध में भामह और दण्डी की रीति का आधार ग्रहण किया गया है। इसके पश्चात् दो तरंगों में क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकारों का वर्णन है जो बड़ी ही विचारशील पद्धति पर है। बारहवीं तरंग में उभयालंकार और चित्रालंकार का सुन्दर वर्णन है। चित्रालंकार के भीतर 'अग्न्यस्त्रबन्ध, (बन्दूक) व्याघ्रबन्ध'[2] आदि कुछ नवीन चित्र भी उपस्थित किये हैं।

त्रयोदश तरंग में कविराज बिहारीलाल भट्ट ने अपने मौलिक विचार उपस्थित किये हैं और नायिका भेद की व्याख्या आध्यात्मिक रीति से की है। इसमें आध्यात्मिक नायिका

---

१ 'साहित्य सागर' प्रथम भाग, पंचम तरंग पृष्ठ १६२।

२ साहित्य सागर' द्वितीय भाग, द्वादश तरंग पृष्ठ ५१६, ५२०।

भेद का वर्णन है। इसके अधिभूत में काम, अधिदेव में भक्ति और अध्यात्म में ज्ञान का सम्बन्ध दिखलाया है। इसमें जितनी नायिकायें हैं उन्हें सबको आन्तरिक वृत्तियों के रूप में ग्रहण किया है। स्वकीया, परकीया और गणिका इस प्रकार से सत्, रज और तम वृत्तियाँ हो जाती हैं। उदाहरणार्थ वे कहते हैं —

जिनको स्वकीया परकीया गनिका कहत सिंगार।
वे शुचि अन्तःकरण को वृत्ति तीन निरधार॥

इस प्रकार स्वकीया सतोगुणी वृत्ति है उसे आत्मा से ही अकेले प्रेम है और उसी में तन्मय रहती है, परकीया रजोवृत्ति है जो आत्मपुरुष को छोड़कर लोक की ओर अन्य प्रलोभनों में फँसती है और गणिका तमोवृत्ति है, जिसका अपने स्वार्थवश ही सम्बन्ध है और किसी के प्रति सच्ची नहीं है। वह सत को छोड़कर मोहवश, भूत प्रेत को भजती है। इस प्रकार नायिका-भेद की आध्यात्मिक व्याख्या बड़ी तत्वपूर्ण है। जिसको भट्ट जी ने भली भाँति घटित किया है।[1]

चतुर्दश और पंचदश तरंगों में काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्व की बात नहीं है। इसमें आत्मब्रह्म (निर्गुण सगुण) की स्तुति है। अवतार, तीर्थ महात्माओं आदि की स्तुतियाँ हैं और अन्त में महाराजा सावतसिंह जू देव के दान और प्रोत्साहन का वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

इस प्रकार यह एक विचार और विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ है, पर है प्राचीन परिपाटी पर। सहायक रूप में आये ग्रंथ, जगद्विनोद, रसराज, कविप्रिया, छन्दार्णव, छन्दप्रभाकर, भाषाभूषण, भारतीभूषण, अलंकारमंजूषा, साहित्य दर्पण, कुवलयानन्द, मार्कंडेय पुराण, मेघदूत, ऋतुसंहार आदि हैं। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित ग्रन्थ नहीं है, वरन विषय की आवश्यकतानुसार अनेक ग्रंथों का इसमें आधार है।

मिश्रबन्धु का 'साहित्य पारिजात'

'साहित्य पारिजात' सं० १९९७ वि० की रचना है। इसका प्रणयन पं० शुकदेवविहारी मिश्र और पं० प्रतापनारायण मिश्र दोनों ने मिलकर किया है। मिश्रबन्धु रीति-कालीन साहित्य के अनुरागी हैं और अपने अध्ययन की प्रौढ़ावस्था में उन्होंने इसका निर्माण किया है। अनेक लक्षण-ग्रन्थों को देखकर इन्होंने अपने लक्षण बनाने का प्रयत्न किया है और हिन्दी के चुने हुए प्रसिद्ध कवियों के उन शुद्ध उदाहरणों को खोजकर दिया है जो उन्हें अच्छे लगे हैं। इसमें आजकल के ग्रंथों के समान ही लक्षण खड़ी बोली गद्य में दिये गये हैं और उनकी खोलकर व्याख्या भी की गई है। उदाहरणों में आई कविता की भी लक्षणों के साथ मेल दिखलाने के लिये यथावश्यक व्याख्या की गई है। अब पूर्वकालीन संक्षिप्तपद्यात्मक लक्षणों के समान इसमें गुरुमुख से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है वह स्वयं ग्रंथ में ही विद्यमान है। उदाहरण के छन्द अधिकांश रीतिकालीन प्रसिद्ध कवियों से ही चुने गये हैं, दो एक कवियों की रचनाओं से उदाहरण चुनने की इन्होंने विशेष कृपा की है और वर्तमानकालीन कविता के उदाहरण कम हैं। भूमिका में बहुत ही संक्षेप में काव्यशास्त्र लिखने वाले हिन्दी कवियों का परिचय है। इन कवियों के विषय में लेखकों का मत है कि हिन्दी के सभी आचार्यों ने लक्षण कहने में बहुत थोड़े में प्रयोजन सा प्रकट किया है। उसमें न वैज्ञानिक विवेचन है और न खण्डन-मण्डन द्वारा बुद्धि-चमत्कार ही, उदाहरण देने में इन्हें सफलता अवश्य मिली है। काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों का पूर्ण और शुद्ध विवेचन करने वाले ग्रंथ बहुत कम हैं। लेखक-युगल का यह विचार ठीक ही है।

'साहित्य पारिजात' के इस खण्ड में काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों का निरूपण नहीं, सम्भवतः अवशिष्ट दूसरे खण्ड में हो। इसमें सबसे पहले साहित्य या काव्य की शुद्ध परिभाषा देने का यत्न किया गया है जिसमें काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगङ्गाधर, साहित्यपरिचय, कुलपतिकृत रसरहस्य में आदि में दिये हुए विशेष लक्षणों पर विचार करने के उपरान्त मिश्रबन्धुओं का लक्षण अधिक ठीक ठहराया गया है।

अन्य लक्षणों में तर्क के आधार पर दोष निकाले गये हैं। मिश्रबन्धुओं का लक्षण यह है कि जहाँ वाक्य या अर्थ कोई भी रमणीय हो, वही काव्य है।[1] पण्डितराज ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहा है,[2] पर उसमें अर्थ की ही रमणीयता ली जा सकती है और इस प्रकार के शब्द की रमणीयता वाले वाक्य जैसे शब्दालंकार, चित्र आदि, काव्य की कोटि में नहीं आ सकते, अतः मिश्रबन्धुओं ने केवल वाक्य की रमणीयता इसलिये नहीं कही कि शब्द की अर्थहीन रमणीयता तो वायवत्र से भी होती है पर उसे काव्य नहीं कह सकते। फिर भी, वाक्य कहने से भी निरर्थक वाक्य, काव्य नहीं हो सकता है, अतः वाक्य की रमणीयता से भी अर्थ की रमणीयता ही प्रकट होती है, शब्द की नहीं। अतः लक्षण इस प्रकार होता तो अधिक अच्छा होता कि शब्द या अर्थ की रमणीयता रखने वाला वाक्य ही काव्य है, तो अधिक उपयुक्त होता।

काव्य के तीन भेद, काव्य प्रकाश या भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' के आधार पर ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा अवर मानकर के मिश्रबन्धुओं ने पदार्थ निर्णय पर विचार किया है। लक्षणा के भेद पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार हैं और साहित्य-दर्पण के भेद बाद के चक्र में दिये गये हैं। शब्द, शब्दशक्ति और अर्थ पर विचार किया गया है, पर ध्वनि का प्रसङ्ग नहीं है, जो सम्भवतः दूसरे खण्ड में भाव और रस के साथ आय। दूसरा खण्ड अभी निर्मित नहीं हुआ है।

इसके पश्चात् अलंकार का विस्तार-पूर्वक वर्णन है अलंकारों के तीन भेद शब्द, अर्थ और मिश्र किये गये हैं। मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर का वर्णन है। यह मिश्रालंकार, 'रसाल' के 'अलंकार-पीयूष' में वर्णित मिश्रालंकार से भिन्न है क्योंकि मिश्रबन्धु का कथन है कि मिश्रालंकार में दोनों प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक अलंकार मिले रहते हैं।[3] इस प्रकार इसके अन्तर्गत उभयालंकार, मिश्रालंकार, संसृष्टि तथा संकर दोनों हैं। रसाल जी ने मिश्रालंकार की दूसरी ही धारणा उपस्थित की है। उनका विचार है कि—

---

१ 'साहित्य पारिजात', पृ० २।

२ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

—रसगंगाधर

३ 'साहित्य पारिजात', पृ० ४७।

इसमें प्रथम में पहला पद सामान्य और दूसरा पद विशेष तथा दूसरे में पहला चरण विशेष और दूसरा सामान्य है। एक व्यक्ति के सम्बन्ध का कथन, विशेष और बहुतों के सम्बन्ध का कथन सामान्य कहलाता है। यदि सोभर और गापी को विशेष न मानें तो फिर अर्थान्तरन्यास में दिये गये निम्नलिखित उदाहरण में भी त्रुटि हो सकती है।

१ बड़े न हूजै गुननि बिनु बिरद बड़ाइ पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय॥
२ रहिमन नीच प्रसंग ते, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझत मन ताहि॥

इन उदाहरणों में धतूरा के समान ही सोभर भी विशेष है, और कलारिन के समान गापी। अतः दृष्टान्त के दृष्टान्त उपयुक्त नहीं जान पड़ते।

रसवदादि अलंकारों के पूर्व, रस का संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है और अन्त में इस बात पर विचार किया गया है कि रसवदादि अलंकार हैं या नहीं। मिश्रबन्धुओं का मत ठीक ही है कि रसादि का उपकार तो सभी अलंकार करते हैं केवल इसी कारण से रसवदादि अलंकार नहीं हैं उनकी गणना तो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत होनी चाहिए। अनुप्रास के छेक, वृत्य, श्रुत्य और अन्त्य भेद हैं। अन्त में मिश्रालंकार के अन्तर्गत संसृष्टि और संकर अलंकारों का वर्णन है। इस प्रकार अलंकारों का वर्णन समाप्त हुआ है इतना वर्णन प्रथम खण्ड में है, अन्य अङ्गों का वर्णन दूसरे खण्ड में होगा जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

व्रजेश कृत रसरसांगनिर्णय

काव्याचार्य ब्रजेश जी आधुनिक युग में ब्रजभाषा और रीति काव्य की परंपरा को जाग्रत रखने वाले कवि हैं। ब्रजेश[१] जी रीवाँ के निवासी थे। इन्हें काव्याचार्यत्व वंश-परंपरा रूप में मिला था। साहित्यदर्पणकार महापात्र विश्वनाथ तथा अकबर के दरबारी कवि महापात्र नरहरि इनके पूर्वज थे। आचार्य विश्वनाथ की चौथी पीढ़ी में महापात्र नरहरि हुए थे। विश्वनाथ का समय १४ वीं शताब्दी है। नरहरि की बारहवीं पीढ़ी में श्री शीतलेश जी के पुत्ररूप में ब्रजेश जी का जन्म सं० १९२८ वि० में माघ

१ ब्रजेश जी के सम्बन्ध में मुझे श्री श्रीकृष्णचन्द्र वर्मा, दरबार कालेज रीवाँ के सौजन्य से सूचनायें प्राप्त हुईं। उन्हीं पर आधारित यह विवरण है।

शुक्ल तीज को रीवाँ के समीपवर्ती सिलापरी ग्राम में हुआ था इनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी। इन्हें १४ ब्रजभाषा और ६ संस्कृत के ग्रंथ कंठस्थ थे। यह काम इन्होंने १० से २० वर्ष की अवस्था में किया। १२ वर्ष की आयु से इन्होंने काव्य-रचना प्रारम्भ कर दी थी। ये बड़े विद्वान पंडित थे और रीवाँ नरेश के दरबार के अनेक कवियों को इन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। ये ओरछा नरेश वीरसिंह देव की भी सभा में रहे। अपने परिचय के संबंध में इन्होंने लिखा है —

> महापात्र विश्वनाथ जैसे नरहरिनाथ,
> भये हरिनाथ कवि मंडल में रवि हैं।
> पौत्र हैं जिनके ब्रजेश ब्रजभाषाचार्य
> काव्याचार्य कोविद महीपन में छवि हैं।
> जानैं अलंकार गूढ़ तत्व ध्वनि भाव भेद,
> छन्द रचना में दास देव से न दबि हैं।
> महाराज रीवाँ के पुराने कविराज हम
> ओरछाधिराज की सभा के राजकवि हैं।

ब्रजेश जी बड़ी उमंग से अपनी रचनायें सुनाते थे। इनका वार्तालाप, वेशभूषा, रहन-सहन सब कुछ आकर्षक एवं सुरुचिपूर्ण था। अभी हाल ही में ब्रजेश जी का शरीरान्त हुआ। ८२ वर्ष की आयु में भी वे स्वस्थ एवं पुष्ट थे।

काव्याचार्य ब्रजेश जी का लिखा हुआ अत्यन्त महत्वपूर्ण किन्तु अप्रकाशित ग्रन्थ 'रससारांग निर्णय' है। यह विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है जिसमें आचार्य ने विभिन्न काव्य-संबन्धी प्रसंगों में शंका उठाकर समाधान किया है। इस दृष्टि से ये हिन्दी में पंडितराज जगन्नाथ की पंक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। रससारांग का प्रणयन अनेक ग्रन्थों के मंथन और अनुशीलन के बाद हुआ था। ब्रजेश जी ने पद्य में लक्षण और उदाहरण देने के साथ साथ गद्यवार्तिक में विषय को स्पष्ट किया है। शंका-समाधान की परिपाटी पर लिखे गये इस ग्रंथ में शंका करने वाले ब्रजेश जी के भतीजे सज्जनेश जी हैं।

'रससारांग निर्णय' की रचना ओरछानरेश वीरसिंहदेव के लिए सं० १९९३ आश्विन शुक्ल सप्तमी को की गई थी। इसका उल्लेख निम्नांकित दोहों में हुआ है —

> प्रथमहिं कछु शंका करत, समाधान करि देत।
> रससारांग निर्णय रचत वीर विनोद निकेत॥
> संवत शिव के नेत्र निधि, ग्रह शशि आश्विन मास।
> शुक्ल पक्ष सप्तमि कियो सपूरण सहुलास॥

'रसरंग निर्णय' तरह तरंगों में समाप्त हुआ है। प्रथम तरंग में ओरछा नगर तथा राजवंश की प्रशंसा है। द्वितीय तरंग में रस निरूपण है। इसके पहले काव्य की कुछ परिभाषाओं की आलोचना भी है फिर रस का विवेचन है। रस के आनन्द स्वरूपत्व पर शंका उठाते हुए उन्होंने रस को दो भेदों में रखा है—एक प्रपंचात्मक और दूसरा रचनात्मक। प्रपंचात्मक रस ही कवि की रचनाओं में बँधकर रचनात्मक हो जाता है। प्रपंचात्मक रस सर्वत्र आनन्दप्रद न होते हुए भी रचना में आने पर आनन्द स्वरूप हो जाता है।

रस की कवि-सुलभ कल्पना करते हुए और उसे ब्रह्म रूप मानते हुए ब्रजेश जी ने वात्सल्य को मिलाकर दश रसों के रूप में रस-ब्रह्म का दश अवतारों के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसमें कवि प्रतिभा के साथ साथ आचार्य विश्वनाथ की धारणा के संस्कार हैं जिन्होंने वात्सल्य रस की सांगोपांग प्रतिष्ठा की है।

तृतीय तरंग में भावों का वर्णन है। ब्रजेश जी ने पाँच प्रकार के भाव माने हैं-स्थायी, विभाव, संचारी, अनुभाव। रस जैसा कि पहले कहा जा चुका है दस माने गये हैं। इन दसों रसों का विवरण पूर्ण विवेचन किया गया। विवेचन में बहुत से स्थल ऐसे हैं जिनमें *तथ्य की स्थापना का उद्देश्य नहीं जान पड़ता, वरन् केवल किसी मत का खंडन या मंडन* ही अभीष्ट है, यह सिद्ध होता है। कहीं कहीं विवेचन केवल तार्किक रूप ही ग्रहण किये हुए है जैसे रस विवेचन के प्रसंग में देखिये—"जीव ईश्वरांश है जिसका कोई रंग रूप नहीं है, परन्तु सत्कवियों ने तो रस का रंग रूप लिखा है, तब रस जीव कैसे हो सकता है? प्राचीन मतानुसार काव्य ही जीव है, क्योंकि जीव निराकार है तो काव्य में व्यंग का भी कोई आकार नहीं है।" और यों तो फिर जीव का भी योनिभेद में रूपरंग है, यहाँ पर रस का रंग रूप केवल कल्पना निर्मित है। वास्तव में रस का क्या कोई रूपरंग है, परन्तु केवल तर्क के उद्देश्य से यह त्रुटिपूर्ण युक्ति प्रस्तुत की गई है। इससे विवेचन की *गंभीरता* में कमी आ जाती है।

रसाभास के प्रसंग में ब्रजेश जी ने पूर्णता की कसौटी रखी है, औचित्य की नहीं। परन्तु औचित्य की कसौटी भी रस की पूर्णता के लिए ही है, धर्मशास्त्र की दृष्टि से नहीं।

स्थायी भाव के विवेचन में ब्रजेश जी की मौलिकता प्रकट होती है। उनके विचार से स्थायीभाव दो प्रकार है जीवगत और मनोगत। जीवगत स्थायीभाव, प्रकृतिरूप जीवात्मा में स्थिर होता है। इस जीवगत भाव के अनुकूल मन में विकार उठते हैं और मन में जो स्थिर होता है वही मनोगत स्थायी भाव होता है यह स्थायी भाव मन को समस्त पदार्थों से खींचकर अपने में ही रमाता है तब वह रस कहलाता है। इस प्रकार रस की निष्पत्ति के लिए स्थायी बीजरूप है।

सप्तम तरंग में अनुभावों तथा अष्टम तरंग में शृंगार रस का विवेचन है। संयोग शृंगार के ब्रजेश जी ने दो भेद माने हैं–सम संयोग और पूर्ण संयोग। जहां पर दम्पति या प्रिय और प्रेमा समीप न हों, परन्तु वियोग न हो वह सम संयोग और जहा समीप एवं केलि युक्त हों वही पूर्ण संयोग माना गया है। इस भेद में नवीनता तो है, परन्तु सम संयोग में रसत्व की अनुभूति ही सिद्ध करना कठिन होगा। वह केवल भाव की ही स्थिति होकर रह जायगी। अतः द्वितीय स्थिति ही वास्तव में संयोग शृंगार की है।

इसके बाद एकादश, द्वादश और त्रयोदश तरंगों में अन्य रसों का विस्तार से वर्णन किया गया है, वात्सल्य रस के भी इन्होंने दो भेद—संयोग और वियोग किये हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजेश जी ने एकादश रस 'साधारणरस' की भी चर्चा की है। सहजप्रीति इसका स्थायी भाव है विराट भगवान देवता मिश्रित रस भक्तगति तथा प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन तथा पुलक आदि अनुभाव हैं। इस रस के अनेक भेद हैं–जैसे देश विषयक सहज प्रीति, देव विषयक सहज प्रीति, स्वामी-सखा आदि विषयक सहज प्रीति। यह नवीन अवश्य है परन्तु इसका निरूपण भक्तिरस के रूप से अधिक औचित्य के साथ किया जा सकता है। इस के बाद रस दोषों का निरूपण है, जो साधारण महत्व का है।

इस प्रकार अनेक स्थलों पर मौलिक चिन्तन से युक्त ब्रजेश जी का 'रसरसांग निर्णय' काव्यशास्त्र पर महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

हम देखते हैं कि पूर्ववर्ती रीति-परंपरा पर ग्रंथ लिखने की परिपाटी आज भी चल रही है और इस परिपाटी का अपना निजी स्थान और महत्व है।

२ नवीन दृष्टिकोण से काव्यशास्त्र के अगो पर प्राप्त विचार।

आधुनिक काल में लिखे गये रीति-परम्परा वाले ग्रथो पर विचार किया जा चुका है। इन ग्रथो का उद्देश्य रीतिकालीन प्रणाली पर ही विषयो का विवेचन और स्पष्टीकरण था। इनके अतिरिक्त आधुनिक काल मे गद्य के विकास और नवीन साहित्यिक और सामाजिक विचारों के साथ सम्पर्क होने से नवीन दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। पुराने विषयों पर भी रूढ़िगत प्रणाली पर विचार न करके नये और समयोपयोगी ढंग से विचार किया गया, काव्यादर्शों की ओर बदलती परिस्थिति और विचारों के अनुसार दृष्टिपात किया गया। काव्य की समस्याओं पर स्वच्छन्द रीति से विचार हुआ। इस परिवर्तन का विशेष अध्ययन अगले अध्याय मे होगा। यहाँ पर हमारा उद्देश्य काव्यशास्त्र पर लिखित नवीन ढग से प्रकट किये हुए विचारो और ग्रन्थों का अध्ययन है, जिनका प्रभाव कवियों और समकालीन साहित्य पर गहराई के साथ पड़ा है।

नवीन विचारों का प्रारम्भ आधुनिक हिंदी में पत्र पत्रिकाओं के अभ्युदय के साथ हुआ है, और उन पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित नवीन साहित्य के मार्गप्रदर्शन के हेतु हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने काव्यशास्त्र के विविध अगों पर अपने विचार प्रकट करके, लेखकों और कवियों के सामने आदर्श रखने का प्रयत्न किया है। यों तो सामान्य रीति से अनेक छोटे छोटे ग्रथ लिखे गये हैं और उनके लिखने वाले भी अनेक हैं, पर महत्व, प्रभाव और मौलिकता की दृष्टि से उपयोगी लेखक कुछ ही हैं। इन लेखकों मे पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य श्यामसुन्दर दास, सूर्यकान्त शास्त्री, लक्ष्मीनारायणसिंह, 'सुधांशु', गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र और नगेन्द्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त भी अनेक लेखकों के विचार है पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। शुक्ल जी और श्यामसुन्दर दास जी के विचारों और ग्रथों की तो बड़ी धूम रही, इस कारण से इनके अध्ययन मे कुछ अधिक विवरण देना आवश्यक है। 'सुधांशु' जी ने काव्य शास्त्र की व्यापक समस्याओं पर अधिक व्यापकता और अधिक आधुनिक दृष्टि मे विचार किया है। उनके विचार, पूर्ण और सर्वमान्य चाहे न हों, पर उनका पथ नवीन और प्रशस्त है, जिस पर चलने से साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अधिक सुदृढ़ हो सकता है। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी और प० रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का काव्यशास्त्र के आवश्यक अगों पर अध्ययन उनके किसी एक ग्रथ विशेष मे न प्राप्त हो सकने के कारण

कई लेखों और ग्रन्थों के आधार पर किया गया है, पर आचार्य श्यामसुन्दर दास और 'सुधांशु' जी का अध्ययन उनके तद्विषयक ग्रन्थों के आधार पर ही है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

सबसे प्रथम द्विवेदी जी ही आते हैं। द्विवेदी जी के विचारों का महत्व आजकल उतना नहीं है जितना कि उनके समय में था। सिद्धांत नहीं, वरन् साहित्य सृजन की दृष्टि से खड़ी बोली की शैशवावस्था में उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन बड़े ही उपयोगी हुए और उन्हीं के कारण खड़ी बोली इस रूप में पनप सकी। द्विवेदी जी के काव्य भाषा, काव्य, काव्य का प्रयोजन, प्रेरणा और प्रभाव आदि विषयों पर विचार इस युग के आदर्शों को व्यक्त करते हैं जिनके विवरण और विवेचन नीचे की पंक्तियों में दिये जाते हैं।

काव्य भाषा

द्विवेदी जी सरल और शुद्ध भाषा के समर्थक थे। वह स्पष्ट किन्तु प्रभावपूर्ण प्रकाशन पर बल देते थे। तथ्य की बात तो यह है कि संस्कृत साहित्य और काव्यशास्त्र पर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी वे खड़ी बोली को शुद्ध रूप से काव्यात्मक भावों को व्यक्त करने योग्य एक समर्थ भाषा बनाने के प्रयोग में तल्लीन थे। इसी कारण से वे पहले भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध कर लेना चाहते थे। यदि भाषा शुद्ध है, तो भावों की अस्पष्टता भी दूर रहेगी और सुन्दर से सुन्दर भाव भी अभिव्यक्ति पा सकेंगे। वे किसी भी कवि को व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों के लिए क्षमा नहीं करना चाहते थे और कविता में इस अशुद्धि के स्थान पा जाने पर वे कवि की भाषा-सम्बन्धी अनभिज्ञता मानते थे। 'रसज्ञ रंजन' में उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं।

'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करना चाहिये। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है—जहाँ तक सम्भव हो शब्दों के मूलरूप को नहीं बिगाड़ना चाहिए।'[1]

यहाँ पर उन्होंने शब्दों और उनके प्रयोग की व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता पर ही केवल जोर नहीं दिया, वरन् तत्सम शब्दों के प्रयोग पर भी। इसका परिणाम

---

१ रसज्ञरंजन पृष्ठ ४५।

यह हुआ कि उस समय भाषा-काव्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया और सामान्य बोलचाल की भाषा एवं शब्दों के, जो हिन्दी काव्य की विशेषता के द्योतक थे, जिनमें भावव्यक्त करने की शक्ति अधिक थी और जिनसे हमारी वासना और संस्कार का सम्बन्ध था, प्रयोग की ओर अवहेलना होने लगी, जो द्विवेदीजी के द्वारा अभिप्रेत न था। इससे भाषा की समृद्धि में बाधा पड़ी किन्तु यह सब शुद्ध भाषा लिखने के जोश में छिप गया था। द्विवेदीजी के पूर्ववर्ती लेखकों में शुद्ध भाषा लिखने का कोई विशिष्ट प्रयत्न नहीं दिखलायी पड़ता किन्तु भाव-प्रकाशन के साधन के दृष्टिकोण से द्विवेदी जी ने एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया। दूसरी बात जिस पर उन्होंने जोर दिया वह सरल और प्रभावपूर्ण शब्दों का प्रयोग है। भाव चाहे जितना ऊँचा हो पर वह यदि सीधी, सरल और स्पष्ट भाषा में व्यक्त न हो तो उसका प्रभाव नहीं रह जाता। द्विवेदी जी ने अपने लेखों में सदैव ऐसी भाषा के प्रयोग की ही शिक्षा दी है जो साधारण लोगों-द्वारा बोली जाती हो और सभी लोगों की समझ में आ सके। उन्होंने शुद्ध मुहाविरों के प्रयोग पर भी जोर दिया, किन्तु यह बात तब हुई, जब उन्होंने देखा कि तत्सम और व्याकरण-सम्मत शुद्ध भाषा लिखने की धुन में लोग बोलचाल के हिन्दी और दूसरी भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार करके संस्कृत शब्दों से ही भंडार भर रहे हैं। इसको देखकर ही उन्होंने लिखा था—

"भाव चाहे जैसा ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल का मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं विद्वान और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए। जो मुहावरे सर्वसम्मत हैं उन्हीं का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी-उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता, उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए।"[1]

इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में उनके विचार अतीव व्यावहारिक थे।

---

१ रसज्ञरंजन' पृ० ८६ ८७ सं० १९९६

कविता का स्वरूप

कविता को पद्य से भिन्नता बताते हुए द्विवदी जो कहते हैं कि पद्य में किसी एक छन्द के अनुसार पंक्तियाँ गढ़ी जाती हैं किन्तु यह नियम कविता के लिए आवश्यक नहीं है। कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है। द्विवदी जी का विश्वास है कि छन्द कविता के लिए आवश्यक तत्व नहीं है, बिना छन्द के कविता हो सकती है। उनको आवश्यकता इतनी ही है, जितनी शरीर पर कपड़ों की। उनके विचार से छन्द कभी कभी भाव के स्वाभाविक प्रकाशन में बड़ी बाधा पहुँचाते हैं। वे कहते हैं —"पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं उनमें जकड़े जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता पूर्वक प्रकट करे।"[१] इस प्रकार कविता गद्य या पद्य दोनों में लिखी जा सकती है। द्विवदी जी ने लिखा है —

"नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं अर्थात् मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। यही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।"

इससे स्पष्ट यह है कि कविता के विषय में द्विवेदी जी का विचार बहुत उदार है। इस प्रकार की परिभाषा हिन्दी में प्रचलित कविता विषयक पूर्ववर्ती धारणा से नितान्त भिन्न है। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि द्विवदी जी ने जिसे कविता कहा है उसे काव्य कहते तो अधिक उपयुक्त था। कविता शब्द का रूढ़िगत प्रचलित प्रयोग पद्यकाव्य के लिए ही होता है, अतः कविता, शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में नहीं हो सकता।

द्विवदी जी ने यद्यपि काव्य में छन्दों की बड़ी आवश्यकता नहीं मानी, फिर भी वे यह मानते हैं कि छन्दों का अपना अलग महत्व भी होता है। इससे सौंदर्य और प्रभाव की वृद्धि ही होती है, यद्यपि यह काव्य का बीज रूप में कोई आवश्यक तत्व नहीं। बड़े कवियों की कविता में छन्द और शब्द सभी होते हैं और उनके अनुशासन में चलते हैं उनके लिए वे बाधा-रूप नहीं वरन् प्रभाव वर्द्धक हैं इसलिए अपने विषय के अनुसार प्रतिभा सम्पन्न कवि छन्दों का चुनावकर लेते हैं और वे बराबर निभाते चलते हैं। ऊपर जैसा

---

१ 'रसज्ञ रंजन', पृ० ३८।

कहा जा चुका है द्विवेदी जी ने छन्दों के प्रयोग के विषय में बड़ी ही उदार भावना दिखलाई है किन्तु जिस प्रकार शुद्ध भाषा न लिखने वाले को द्विवेदी जी अनभिज्ञ कहते हैं वैसे ही जिसे छन्द या लय का ज्ञान नहीं वह भी काव्य के एक उपकरण से अनभिज्ञ है। छन्द बहुधा सुन्दर विचारों और प्रभावशाली शब्दों के गुम्फन में सहायक अधिक होते हैं और भाव प्रकाशन को बाधा कम पहुँचाते हैं। छन्द की लय, भाव के उपयुक्त एक वायुमण्डल बना देती है जिसमें ध्वनिमय उपयुक्त शब्द अपने आप आते रहते हैं। छन्द का काव्य से बहिष्कृत कभी नहीं किया जा सकता उसे हम आज्ञाकारी और लचीला चाहे जितना बना लें, क्योंकि छन्द के साथ ही साथ कविता का प्रमुख स्वरूप सदा के लिए विलीन हो जायगा जो अब समुद्र के समान भरा हुआ है और जिसमें छन्द की गतिमय लहरें उठ उठकर अपना मन्द और गम्भीर आकर्षण रखर रही हैं।

द्विवेदी जी छन्द बद्ध कविता के विरोधी न थे पर वे छन्द की त्रुटि को उतना महत्वपूर्ण न समझते थे जितना भाव की असम्पन्नता को। परम्परा से पुराने छन्दों का व्यवहार हो रहा था द्विवेदी जी ने उसमें नवीनता उपस्थित करने के लिए यह कहा कि चाहे नवीन छदों का प्रयोग हो या छंद को तिलांजलि दे दी जाय पर भाषा शुद्ध और स्पष्ट होनी चाहिये। छन्दों अलंकारों आदि के बजाय उन्होंने अपने भावों को पूर्ण सच्चाई के साथ व्यक्त करने की अनुमति दी।[1] और इस प्रकार उनकी कविता की एक परिभाषा यह भी है "जो बात असाधारण और निराले ढंग से शब्दों द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है।"[2] इस निराले ढंग के विषय में द्विवेदी जी ने अपना विचार प्रकट नहीं किया। यह ढंग खोज निकालना ही कवि का काम है किन्तु वह ऐसा हो कि प्रभाव सब पर पड़े अवश्य। काव्य की परिभाषा बहुत व्यापक है और प्रभाव के विषय में मतभेद भी हो सकता है। किसी पर कोई ढंग प्रभाव डालता है, किसी पर कोई। पर इस प्रभाव के मानदण्ड के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

द्विवेदी जी कविता और चित्रकला का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। 'कविता कलाप' की भूमिका में उन्होंने लिखा है —

"चित्रकला और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा

---

१ देखिये, रसज्ञरंजन पृष्ठ ४ और पृष्ठ ११।

२ 'रसज्ञरंजन' पृष्ठ ११ नया पैरा।

सादृश्य है। दोनों का काम भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है। जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी भाव को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के श्रवण से आनन्द होता है, चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है, यह निर्णय करना कठिन है क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनन्द की वृद्धि होती है, उसी प्रकार कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है। चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान।"

कवि और चित्रकार के आसनों में कौन उच्च है इसके निर्णय में द्विवेदी जी को कठिनता थी पर अब तो स्पष्ट हो कवि, चित्रकार से बड़ा माना जाता है। चित्रकार के प्रत्येक चित्र पर कवि अपनी कविता ढाल सकता है, पर प्रत्येक कविता का चित्र उपस्थित करना चित्रकार के लिये कठिन है। उनके ऊपर के वक्तव्य से यही स्पष्ट है कि वे कविता और चित्रकला को एक ही कोटि की और घनिष्ठ सम्बन्ध वाली समझते थे। पर, उनका निष्कर्ष उनके निजी प्रयोगों और निरीक्षण पर ही अवलम्बित था। गहरे अध्ययन-युक्त मनन पर नहीं। उन्होंने कविता को चित्रकला से कुछ सम्बन्धित करते हुए कविता की एक और परिभाषा दी है। किरण को चित्र का नाम कविता है।"

यह ठीक है कि चित्रकारी का कविता से बहुत सम्बन्ध रहता रहता है, पर कविता का क्षेत्र उससे अधिक व्यापक है और वह अधिक पूर्ण है।

द्विवेदी जी के विचार से उत्तम कविता सभी पर प्रभाव डालने वाली होनी चाहिए। तुलसीदास के समान सभी का हित द्विवेदी जी का कविता-गत आदर्श है। इसलिये द्विवेदी जी ने लिखा है कि कविता में काव्यशास्त्रों में लिखे गुणों के आधार पर नीचे लिखी विशेषताओं का होना आवश्यक है।[2]

१ कविता साधारण मनुष्यों की दशा विकारों और भावनाओं का वर्णन लिये हो।

२ इसके अन्तर्गत गुणों के उदाहरण जैसे सहनशीलता प्रेम, दया, उत्साह, वीरता आदि हों।

३ कल्पना, सूक्ष्म और अलंकार स्पष्ट होने चाहिए।

---

१ 'रसज्ञ रञ्जन' पृष्ठ ५०, पंक्ति ११।

२ ,, ,, १८।

४ इसकी भाषा सरल, स्वाभाविक और प्रभावशाली हो।

५ छन्द सीधा, सुन्दर और वर्णन के अनुकूल हो।

इन बातों के साथ साथ कविता के अन्तर्गत सर्वप्रियता का गुण स्वभावतः आ जाता है। उन्होंने सर्वप्रियता पर सदैव ज़ोर दिया है और इसको सन्देह-रहित शब्दों में व्यक्त किया है कि कविता यदि संस्कृत शब्दों से भरी हुई होगी तो उसमें हानि की ही सम्भावना है जैसा कि नीचे की पंक्तियों से प्रकट है :—

"इसी प्रकार जब बोलचाल की भाषा की कविता को या आजकल के और दूसरे पद्यों को साधारण लोग भी पढ़ने लगें तब समझना चाहिये कि कविता और कवि लोकप्रिय है। आजकल संस्कृतमयी कविता का रचा जाना और भी अधिक हानिकारक है।"[1]

इस प्रकार काव्य विषयक द्विवेदी जी का विचार बड़ा ही प्रगतिशील था। उन्होंने साहित्य को प्रभावशाली बनाने पर बहुत अधिक बल दिया जैसा कि उनके सरस्वती में प्रकाशित एक लेख के नीचे लिखे उद्धरण से पता चलता है —

'साहित्य ऐसा होना चाहिये जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो। हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित्र-गठन को हानि न पहुँचनी चाहिये। आलस्य, अनुद्योग व विलासिता का उद्रेक जिस साहित्य से नहीं होता वही से मनुष्य में पौरुष व मनुष्यत्व आता है। रसवती, ऊर्जस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रन्थ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।"[2]

काव्य का प्रयोजन और विषय

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदी जी का काव्य सम्बन्धी मानदण्ड लोकप्रियता है। इसका स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि द्विवेदी जी का विश्वास था कि कविता से समाज का हित-साधन अवश्य होना चाहिये। उनका यह भी विश्वास था कि जैसे ही मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है कविता का उपयोग और प्रभाव कम होता जाता है इस

---

१ 'रसज्ञरंजन' पृष्ठ १८, १८ से २१ पंक्ति।

२ सरस्वती सन् १९१०।

विषय में उनका यह तर्क था कि कविता में कुछ असत्य अवश्य रहता है जो हमारी भावना पर प्रभाव डालता है, और जैसे ही मनुष्य ज्ञान का विकास बढ़ता जाता है उसकी बुद्धि व्यापक होती जाती है वैसे ही उसका प्रभाव कम होता जाता है।[1]

उनका यह विचार अंशतः ही मान्य हो सकता है क्योंकि यह देखा जाता है कि जैसे ही मनुष्य की ज्ञान वृद्धि होती है वैसे ही विश्व का रहस्य विलीन होता जाता है जैसे ही वस्तुयें अधिक परिचित होती जाती हैं वैसे ही उनका आकर्षण कम होता जाता है। पर इस विश्वास में यह पूर्व-मान्यता रहती है कि जब काव्य अपने चरम उत्कर्ष में था और विद्वान और रसिक काव्य की प्रशंसा करते थे तब वे या तो ज्ञान में या बुद्धि के विकास में हीन थे। यह बात सर्वकालीन सत्य नहीं रखती। कविता प्रत्येक युग में अपना नया स्वरूप ग्रहण करती रहती है इसलिये यदि बौद्धिक या ज्ञान का विकास हुआ तो कविता भी उसी के अनुसार अपने प्रभाव के लिये नया क्षेत्र अवश्य खोज निकालेगी। प्रत्येक युग के समक्ष नयी-नयी समस्यायें अपना सिर उठाती हैं उन्हीं के आधार पर भावों का आन्दोलन हुआ करता है इसी आन्दोलन और उथल पुथल पर ही कविता के नए क्षेत्र की पृष्ठ भूमि बना करती है अतएव इस विषय में डर की कोई बात नहीं कि कविता कभी संकट में होगी। हाँ, यह सम्भव अवश्य है कि किसी युग विशेष में काव्य की धारा अधिक बलवान गति से बहे और दूसरे युग में उसका वेग उतना प्रबल न रहे, पर काव्य का सम्बन्ध सदा ही मानव भावनाओं के साथ है। जब तक इनकी सत्ता है कविता के प्रभाव का साम्राज्य अटल है।

द्विवेदीजी कविता के आनन्द और उपयोगिता दोनों प्रयोजनों पर बल देते थे, वे प्राचीन और परम्परागत काव्यों पर कविता लिखने के विरोधी थे। नायिका भेद और लक्षण-ग्रन्थों की संख्या बढ़ाने के विरुद्ध थे और नये विषयों पर लेखनी चलाने के प्रयास का सदैव स्वागत करते थे। उनके विचार से कविता लिखने के विषयों की कोई सीमा नहीं। प्रकृति के सभी पदार्थ बड़ी तत्परतापूर्वक काव्य के बड़े सुन्दर विषय हो सकते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि कविता में विषय का उतना अधिक महत्व नहीं रहता जितना कि विषय के निर्वाह का। कवि की कल्पना, विषय को एक विलक्षण आकर्षण प्रदान करती है और वह मनामोहक शक्ति प्राप्त करता है। न केवल विषय, वरन् विचारों के

---

१ देखिये 'रसज्ञरञ्जन' पृ० ३३।

२ ,, ,, ,, १३

लिये भी प्रकाशन की कला और कुशलता चाहिये। यदि कितने सुन्दर विचार उद पादर करनेवाले शब्द उपयुक्त नहीं तो उनका कोई प्रभाव नहीं। शक्तिही अनुपयुक्त शब्दों के बीच भावों का जादू घुल जाता है इसलिये शब्दों के प्र कुशलता कवि के लिये प्रमुख रूप से आवश्यकीय है।[1]

कवि के कार्य के विषय में द्विवेदीजी ने कहा है कि कवि पहले विषय के तत्व करता है उसकी आत्मा में प्रवेश करता है और जब उसका हृदय विषय से ओत जाता है और मन उसमें तन्मय हो जाता है तब वह अपने भावों और विचारों को के रूप में व्यक्त करता है। रसज्ञरंजन में उन्होंने लिखा है—

"कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा वस्तु का वर्णन करते हैं रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों को सु वह रस सुननेवालों के हृदय में जाग्रत हो जाता है।"[2]

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचार से कवि को यथार्थ-दर्शी होना चाहिये अपने सांसारिक अनुभवों का पूरा उपयोग करना चाहिये[3]। उसे अपनी इच्छा के दूसरों की आज्ञानुसार नहीं लिखना चाहिये। कवि को यथार्थता के आधार से रहित कल्पना का विश्व नहीं खड़ा करना चाहिये। उसे जितना भी सम्भव हो सके स्वाभ होना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कल्पना से बिलकुल रहित हो। य में कल्पना, कवि की एक बड़ी शक्ति है। जितना ही कवि कल्पना की शक्ति से होता, है उतना ही बड़ा वह कवि है। कविता में नवीन उद्भावना रहती है। इस कवि की प्रतिभा, कल्पना ही है।[4] किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है केवल कल्पना से नहीं चल सकता। कवि को कल्पना के साथ साथ प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के अभ्य की भी आवश्यकता है। प्रकृति के क्रिया कलापों और चेष्टाओं का जितना विस्तृत उसके पास हो उतना ही अच्छा है। प्रकृति के साथ साथ मनुष्य स्वभाव का पूर्ण प भी होना चाहिये। उसे मानवता के सुख-दुःख, उल्लास विषाद आदि का व्यापक

---

१ देखिए 'रसज्ञरञ्जन' पृ० ४४ ४५

२ ,, ,, ,, ४१

३ ,, ,, ,, ३४

४ ,, ,, ,, ४०

होना चाहिये। इस प्रकृति और मानव भावनाओं की पृष्ठभूमि पर जब कवि की कल्पना कार्य करती है तभी उत्तम काव्य का निर्माण होता है।

उपर्युक्त अध्ययन द्वारा हम सहज ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि द्विवेदीजी की काव्य विषयक धारणा न शुद्ध आदर्शात्मक थी और न कट्टर यथार्थवादी। वे कवि की रचनाओं से यथार्थवाद और आदर्शवाद के समुचित समन्वय की प्रेरणा देते थे। उनके विचार से जहाँ काव्य का उद्देश्य हृदय और मन को सन्तोष एवं शांति प्रदान करना था वहीं पाठक या श्रोता के अन्तर्गत उदात्त भावनाओं और नवीन उत्साह का संचार करना भी। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली हिन्दी को काव्यात्मक भावव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ बनाने का प्रयत्न किया। द्विवेदी जी के साथ काव्यादर्शों में परिवर्तन के दर्शन होते हैं और शुद्ध भाषा का प्रयोग, तत्सम शब्दों का बाहुल्य, वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन, प्रकृति-चित्रण, उपदेशात्मकता, और काव्यविषयों का विस्तार प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। इन सभी बातों के लिए द्विवेदी जी का अपना निजी स्थान और महत्व है।

आधुनिक काल में हिन्दी काव्यादर्शों के विकास की अवस्था द्विवेदी जी के बाद आती है। इस अवस्था के अन्तर्गत हिन्दी काव्य, भाषा, विषय, भावाभिव्यंजना इत्यादि के आदर्शों की स्थिरता प्राप्त करता हुआ निश्चित विशेषताओं वाली मधुर रचना का भंडार भरता है। रचना की भी डुलमुल अवस्था समाप्त हो जाती है और कवि, चेतना के साथ अपना पथ देखते और अपने काव्यादर्शों को स्पष्ट करते दिखलायी देते हैं। इसके साथ ही साथ काव्यशास्त्र के नवीन प्राचीन विभिन्न विषयों का विवेचन भी आचार्यों-द्वारा प्राप्त होता है। कवियों ने अपने आदर्शों का स्पष्टीकरण या तो अपने काव्य ग्रंथों की भूमिका में किया है या अन्यत्र लेखों में जिसका विवेचन एक एक कवि को न लेकर एक एक विषय पर उनका मत स्पष्ट करते हुए अगले अध्याय में विकास के अध्ययन के साथ किया जायेगा। स्वतंत्र काव्यशास्त्र का विवेचन भी बहुतों ने किया है, पर विचार-स्वातंत्र्य और मौलिकता की दृष्टि से आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य बाबू श्याम सुन्दर दास का काव्यशास्त्र के विविध अंगों पर विचारों का अध्ययन यहाँ आवश्यक है क्योंकि यथार्थ विवेचन, प्रेरणा और पूर्णता इन्हीं में लक्षित होती है। अन्य लेखकों का विवरण विषयानुसार विवेचन के प्रसंग में अधिक उपयुक्त रहेगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के काव्यशास्त्र की प्राचीन और नवीन अनेक समस्याओं और विषयों पर, विचार दो दृष्टियों से महत्व के हैं। प्रथम तो इस कारण कि वे हमारे सामने उत्कृष्ट काव्य के सिद्धान्त उपस्थित करते हैं और द्वितीय इस कारण से कि वे प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन दृष्टि से और आधुनिक वादों को प्राचीन दृष्टि से देखने और समझने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। साथ ही साथ उन्होंने काव्यशास्त्र की जटिल समस्याओं को स्पष्ट करते हुए अलग निबन्धों के रूप में अपने विचार भी रखे हैं और आजकल की हानिकारक प्रवृत्तियों के विरोध में भी लेखनी का संचार किया है। इसलिए उनकी लगन, प्रतिभा, गंभीर अध्ययन और निष्पक्ष विवेचन सभी के कारण उनके विचार चिरस्थायित्व और प्रेरकत्व के गुण रखते हैं। काव्यशास्त्र की लगभग सभी समस्याओं पर उन्होंने कुछ न कुछ प्रकाश डाला है। सबसे पहले हम काव्य का स्वरूप शुक्ल जी के विचार से क्या है इसे ही देखते हैं।

कविता का स्वरूप

काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के पूर्व, काव्य और साहित्य का सम्बन्ध भी जान लेना आवश्यक है। शुक्ल जी के विचार से साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कार पूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो"[1] इस प्रकार शुक्ल जी के विचार से रचनात्मक और विवेचनात्मक दो प्रकार का साहित्य निर्धारित किया गया है। आलोचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत रचनात्मक साहित्य का विवेचन होता है शुक्ल जी ने इसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन आवश्यक माना है। अर्थ भावोन्मेष, और चमत्कार तीनों शब्दों को शुक्ल जी ने अपने इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति के आसन से दिये गये भाषण में इस प्रकार स्पष्ट किया है —

"भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से रति, करुणा क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि अरुचि से है और चमत्कार से अभिप्राय उक्ति-वैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष,

---

1 इन्दौर वाला भाषण, पृष्ठ २।

अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निस्संग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है। आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।"[1]

इस प्रकार शुक्ल जी ने साहित्य का भाव-व्यंजक या चमत्कार प्रकाशक अर्थ काव्य के भीतर माना है। इसमें रमणीयता का गुण रहता है। शुक्ल जी ने इसके चार भाग किये हैं—श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य, कथात्मक गद्य काव्य और काव्यात्मक गद्य या लेख और आलोचना। अन्तिम भाग के अन्तर्गत विचार से भरे हुए लेख हैं जिनमें भाव-व्यंजना है और रचनात्मक कृतियों की मार्मिक समीक्षा भी है। श्रव्य और दृश्य काव्य तो संस्कृत साहित्य के से हैं। कथात्मक गद्यकाव्य, उपन्यास और कहानियों के रूप में हैं। काव्यात्मक गद्य या लेख वर्तमान युग की देन है। साहित्य के अन्तर्गत इस प्रकार काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य, निबन्ध और साहित्यालोचन हैं। इनमें से काव्य का सामान्यतः अर्थ कविता से लिया जाता है। शुक्ल जी ने भी अपने लेखों में काव्य का अधिकांश इसी अर्थ में प्रयोग किया है। काव्यशास्त्र के विषयों में वे शब्द शक्ति, रस और अलंकार को प्रधान मानते हैं उनके मत से शब्द-शक्ति, रस और अलंकार ये विषय विभाग काव्य-समीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अन्तर्भूत करके संसार की नई पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है।[2]

शुक्ल जी, कविता को जीवन और जगत की अभिव्यक्ति मानते हैं। जगत उनके विचार से अव्यक्त की अभिव्यक्ति है[3] और कविता इस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। अतः काव्य के अन्तर्गत प्रकृति और जीवन की विशद एवं यथातथ्य अभिव्यक्ति होती है।

इस जगत और जीवन के अनेक रूपों और व्यापारों पर विमुग्ध होकर जब मनुष्य अपने को भूल जाता है और उनमें तन्मय हो जाता है वही हृदय की मुक्तावस्था, काव्यानुभूति या रस की दशा कहलाती है और इस अवस्था की अनुभूति का प्रकाशन कविता है।[4]

---

१ इन्दौर वाला भाषण पृष्ठ २। ३ काव्य में रहस्यवाद पृ० ११।

२ इन्द ४३। ४ इसिये चिन्तामणि, भाग १, पृ० १९२, १९३।

शुक्लजी इसी भावयोग को कर्मयोग और ज्ञानयोग के समान मानते हैं। अत उनकी दृष्टि में कविता का क्या महत्व है, यह स्पष्ट हो गया। इस दशा से जो कवि की अनुभूति होती है वह उसकी व्यक्तिगत अनुभूति न होकर सबकी अनुभूति होती है। और हमारे मनोविकार परिष्कृत होकर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में बंध जाते हैं। प्रकृति के शाश्वत जीवन और व्यापार के प्रभाव से हमारा संस्कार बनता रहा है अत उनकी एक-एक अभिव्यंजना हमारे हृदय पर चोट करती है। और इस प्रकार प्रकृति का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति के रूपों और व्यापारों का हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है।[1]

हम देख चुके हैं कि द्विवेदीजी ने सभ्यता के विकास के साथ साथ कविता का ह्रास स्वाभाविक बतलाया है। शुक्ल जी की धारणा इस दृष्टिकोण को और स्पष्ट करके हमारे सामने रखती है। वे सभ्यता के विकास के साथ साथ कविता की आवश्यकता की वृद्धि मानते हुए कहते हैं कि सभ्यता के जटिल आवरणों के चढ़ जाने से कविता करना कठिन होता जायगा। इस विषय में उन्होंने 'कविता क्या है ?' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—"ज्यों ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे, त्यों त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा"[2] शुक्लजी की धारणा वैसे भी स्पष्ट है। प्रकृति के मूल और आदिम रूपों से हमारे हृदय का, हमारी वासना या संस्कार के रूप में लगाव हो गया है और बढ़ती सभ्यता में नगरों व कल-कारखानों के विस्तार में उनका दर्शन भी दुर्लभ है। उनकी ओर हृदय की ललक है पर उस पर कृत्रिम जीवन के आवरण पड़ते जाते हैं अत उनके सम्बन्धों का प्रकाशन धीरे धीरे कठिन होता जाता है।

शुक्लजी के विचार से प्रकृति का सम्बन्ध या व्यापार कविता की भावना का पोषक है, क्योंकि उसमें नित्य नवीनता है, सरसता है और विकृति भी सृष्टि क्रम में मंगल कारिणी है। शारीरिक सुख ही नहीं मानसिक शान्ति और हृदय के सन्तोष को भी प्रदान करने वाली, प्रकृति है, जो अपने विशाल, भव्य, कोमल और कराल स्वरूपों में हमारे मन और हृदय पर प्रभाव डाला करती है। इसलिए प्रकृति के प्रति इतना मोह है। यहाँ पर एक और काव्य का मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है। वह यह है कि कविता

---

१ देखिये चिन्तामणि भाग १ पृष्ठ १२८

२ ,, ,, ,, १६०

का सम्बन्ध भावों से है और भावों को उकसाने में प्रमुख कारण 'साहचर्य' हुआ करता है।

साहचर्य

वर्णन की विलक्षणता और नवीनता हमारे हृदय में भावात्मक हिलोर नहीं उठाती वरन देखी सुनी वस्तुओं का चित्रण और अनुभूत व्यापारों का वर्णन हमारे हृदय में भावों को जगाने में समर्थ होते हैं। किसी वस्तु के साहचर्य के साथ उसके प्रति मोह पैदा होता है और परिचय की घनिष्टता में ही भावानुभूति छिपी रहती है।[1] शुक्ल जी ने साहचर्य की महत्ता पूर्णरूप से स्वीकार की है। वे कहते हैं "सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुखभोग नहीं, बल्कि चिरसाहचर्य-द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य, सीधे-सादे चिर परिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है।"[2] प्रकृति के दृश्यों में शोभा और सौन्दर्य के साथ प्राचीन साहचर्य की स्मृति वासना के रूप में रहती है। कवि, सहृदय या भावुक को इसी प्रकार की वासना प्रत्यक्ष या स्मृति के द्वारा जगती है जो कि कविता का आनन्द है।

इस वासना को जगाने के लिए दृश्यों का पूर्ण चित्र उपस्थित होना चाहिये। काव्य में अर्थ ग्रहण-मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब-ग्रहण भी अपेक्षित होता है।[3] इस बिम्ब-ग्रहण कराने के लिये बुद्धि की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कल्पना और भावुकता की। कल्पना का कविता में महत्वपूर्ण स्थान है भावों के परिवर्तन के लिए कल्पना की बड़ी आवश्यकता होती है। जिस कवि की कल्पना जितनी ही समर्थ होगी, उसमें भावमग्न कराने की क्षमता भी उतनी ही अधिक हो सकती है। कल्पना के शिथिल या निर्बल रहने पर वह गुण नहीं होता। पाठक या श्रोता के भीतर भी कल्पना का होना आवश्यक है। इस प्रकार शुक्लजी ने कल्पना के दो प्रकार बताये हैं एक विधायक कल्पना और दूसरी ग्राहक कल्पना।[4] कवि में विधायक कल्पना की आवश्यकता होती है और श्रोता में ग्राहक कल्पना की। कल्पना का इतना महत्व होते

---

[1] देखिये चिंतामणि' भाग १ पृ० २०८
[2] ,, ,, ,, २५
[3] चिन्तामणि, भाग १, पृ० १९८
[4] ,, ,, ,, २३०

हुए भी वह ध्यान में रखना चाहिये कि कल्पना ही सब कुछ नहीं है। यदि कल्पना के साथ भाव सचार न हो सका तो उसम काव्यगत रमणीयता का अभाव ही रहेगा।

कल्पना और भाव सचार की तीव्रता पर काव्य की रमणीयता निर्भर करती है। कल्पना हमारे सम्मुख वस्तु का पूर्ण रूप खड़ा करती है और उसके साथ यदि हमारी अनुभूति का सम्बन्ध हुआ तो हम अपनी सत्ता को भूल कर उसम तन्मय हो जाते हैं।

जिस वस्तु में तल्लीन करा लेने का गुण जितना ही अधिक होता है वह वस्तु हमारे लिए उतनी ही सुन्दर होती है, साथ ही साथ सुन्दर वस्तु के दर्शन या चित्रण के द्वारा जितनी ही अधिक तल्लीनता हम प्राप्त कर सकेंगे हमारी सौंदर्यानुभूति उतनी ही अधिक समझी जायगी।[1] बात यह होती है कि जो वस्तु सुन्दर ठहराई गई है उसको कोई एक दम कुरूप नहीं कह सकता उसे कम या अधिक सुन्दर कहा जा सकता है सौंदर्य को शुक्ल जी ने एक दिव्य[2] विभूति माना है। उनका कथन है कि जिस सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी सत्ता को खो देता है, वह दिव्य अवश्य है। सौंदर्य केवल दृष्टि का अवलम्बन ही नहीं होता, आकार या रङ्ग रूप में ही सौंदर्य की छटा नहीं वरन् कर्म और मनोवृत्ति में भी सौंदर्य होता है। उदारता, दया, वीरता, प्रेम, सहानुभूति आदि म भी सौंदर्य है यहाँ तक कि क्रोध म भी सौंदर्य है। किसी अत्याचारी के अत्याचार पर किसी के क्रोध प्रकट करने म हमें सौंदर्य की अनुभूति होती है। कविता के क्षेत्र में वस्तुएँ सुदर हैं या असुदर, इस विषय में शुक्ल जी का मत है कि सुदर और कुरूप काव्य में बस यही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप पुण्य, मगल अमगल, उपयोगी और अनुपयोगी ये शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। यह नीति, धर्म, व्यवहार अर्थशास्त्र आदि शब्द हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी। न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों म दिखाई जाती हैं, सुन्दर और असुन्दर।[3] सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति ही काव्य है। सौंदर्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी बातें भी काव्य में सहायता या विषमता द्वारा सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही करती हैं कवि की दृष्टि सौंदर्य को ही खोजती है वस्तुओं के रूप म या प्राणियों के मन वचन-कर्म म जहाँ कहाँ सौंदर्य होता है,

---

१ चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ २२५।

२ „ „ „ २२६।

३ „ „ „ २२८।

लाकर हमारे सामने रखती है। शुक्ल जी सौंदय और मगल को पयाय मानते हैं और दोनों को ही गतिशील। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में वे लिखते हैं कि 'ब्रह्म की व्यक्त सत्ता नियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र म स्थिर सौदय और मगल कहीं नहीं, गत्यात्मक मगल ही है, पर सौंदय की गति भी नित्य और अनन्त है और मगल की भी। गति की यही नित्यता जगत की नित्यता है। सौन्दय और मगल वास्तव म पयाय हैं कलापक्ष से देखन म जो सौन्दय है वही धमक्ष मे देखने म मंगल है।[1]"

प्रयत्न और उपभोग को लेकर शुक्ल जी ने काव्य के दो विभाग किये हैं। पहले प्रकार के वे हैं जो कि आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलते हैं और दूसरे वे हैं जो आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलते हैं। आनन्द की साधनावस्था लेकर चलने वाले काव्यों में अधिकांशत जीवन का सघष और प्रयत्न छिपा रहता है रामचरितमानस पद्मावत पृथ्वीराज रासो, आल्हा आदि इसी प्रकार के काव्यों में से हैं, किन्तु बिहारी सतसई, सूरसागर, रास पंचाध्यायी तथा अन्य अनेक रीति-कालीन रचनायें उपभोग पक्ष लेकर चलती हैं।[2] स्वभावत यदि काव्य का सम्बन्ध जीवन से है तो इनमें दोनों बातों में से एक न एक, काव्य के भीतर रहेगी।

कल्पना से सम्बन्धित होने पर भी, शुक्ल जी, काव्य और स्वप्न को एक नहीं मानते। कविता स्वप्न से भिन्न वस्तु, है, स्वप्न से उसका सामान्य केवल इसी बात में है कि दोनों बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहते। दोनों के आविर्भाव का स्थान भर एक है। स्वरूप में भेद है। कल्पना में आई हुई वस्तुओं की प्रतीति स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की प्रतीति भिन्न प्रकार की होती है। स्वप्नकाल की प्रतीति प्राय प्रत्यक्ष के ही समान होती है। दूसरी बात यह कि काव्य म शोक के प्रसग भी रहते हैं। शोक की वासना की तृप्ति शायद ही कोई प्राणी चाहता हो।[3]

शुक्ल जी काव्य को जीवन से सम्बन्धित मानते हैं जीवन के भीतर ही काव्य का तत्व और काव्य के अन्तर्गत जीवन का चित्रण। सुख दुःख, शांति-हाहाकार, सफलता-

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १०।

२ देखिए 'चिन्तामणि' भाग १,, २१३, २१४।

३ ,, ,, ,, ,, २१४ ।

असफलता आदि जीवन की बातें ही काव्य में चित्रित होकर उसे तन्मयता का गुण प्रदान करती हैं। इसलिए शुक्ल जी का यह कथन नितान्त सत्य है कि जो आँख मूँद कर काव्य का पता जगत और जीवन के बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं।[1] जीवन और काव्य दोनों की सफलता का मूल मन्त्र एक ही है और वह है सामंजस्य।[2] शुक्ल जी ने इस बात पर जोर दिया है कि काव्य की यथार्थ अनुभूति जीवन में ही प्राप्त होती है जिस कविता में जीवन और जगत् की यथार्थ अनुभूति नहीं मिलती, उसको शुक्ल जी ने असत्काव्य कहा है। वे कहते हैं कि सत्काव्य और असत्काव्य में, काव्य और काव्याभास में यही भीतरी या मार्मिक अन्तर होता है कि सच्चा काव्य, सामान्य भूमिपर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे वर्णनों की केवल नकल करता है।[3] जीवन और लोक मंगल से सम्बन्धित होने पर भी काव्य, नीति या उपदेश के पथ पर नहीं चलता। शिक्षा देना, काव्य का काम नहीं। वह तो जो कुछ करता है भावानुभूति-द्वारा ही।[4]

इस प्रकार शुक्ल जी द्वारा निर्धारित काव्य का स्वरूप बड़ा व्यापक है। जीवन की गति को अपने साथ अपनाये हुए, कल्पना के सहारे वस्तु का बिम्ब चित्रण करता हुआ वासना के रूप में भावों को उकसाकर जो हमारे हृदय और मनोविकारों का परिष्कार करता है और जीवन का बल देता है, वही पूर्ण काव्य है। ऐसा काव्य विश्व में चिरस्थायी रहेगा।

काव्य के विषय एवं प्रयोजन

शुक्ल जी ने सम्पूर्ण विश्व को अव्यक्त की अभिव्यक्ति माना है। 'जगत भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति।[5] अतएव जगत् भी शुक्ल जी की दृष्टि से एक काव्य है और जो आनन्द, एक रसिक को काव्य के अवलोकन से होता है वही आनन्द एक कवि या रहस्य-द्रष्टा को जगत् के अवलोकन से। शुक्ल जी ने तो यहाँ तक कहा है कि इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिये भी निमग्न न हुआ उसके

१ देखिए 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ७। ४ देखिए 'चिन्तामणि' भाग १ पृ० २६७।
२ „ „ „ , , १४। ५ „ 'काव्य में रहस्यवाद' „ ११।
३ „ „ „ „ „ ६।

जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिये ।[1] इस प्रकार प्रेरणा का तांता बराबर चलता जाता है। एक रचना देखकर दूसरा रचना करता है और जो उस रचना का बिम्ब, दर्शक का मन ग्रहण करता है उसकी अभिव्यक्ति पुनः पुनः काव्य तो नहीं होती। पर काव्य की प्रेरणा उससे अवश्य मिलती है। पर प्रारम्भिक प्रेरणा जिससे मिलती है वह है जगत्, विश्व या जीवन। अतः काव्य के विषयों की कोई सीमा नहीं। वे इतने ही असीम हैं जितना विश्व उतने ही व्यापक हैं जितना जीवन। इस प्रकार शुक्ल जी की कविता के विषयों को सम्पूर्ण सृष्टि प्रसार में व्याप्त मानते हैं। वे कहते हैं कि "काव्य दृष्टि कहीं तो १—नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २—मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३—कहीं समस्त चराचर के।"[2]

इनमें से अधिकांश काव्य नरक्षेत्र के भीतर ही हुए हैं, क्योंकि कविता, मनुष्य की रचना होने के कारण मनुष्य जीवन से ही उसका सबसे अधिक सरकार होता है। किन्तु इस बीच में भी प्रकृति, भावों के उद्दीपन के रूप में बराबर आयी। प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति की पृष्ठभूमि व्यापक रूप से देखी जाती है। इसे आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन कह सकते हैं। देखे सुने प्राकृतिक वर्णन भी भावों को उकसाते हैं और उनका वर्णन बिम्ब ग्रहण के रूप में बड़ा सन्तोषकारी होता है। शुक्ल जी के विचार से प्रकृति की सच्ची व्यंजना प्रकट करने वाली अन्योक्ति आदि भी काव्य की रमणीयता को बढ़ाती है और प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण भी। उनका कथन है कि प्रकृति के केवल यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रकट करता है। प्रकृति के किसी खण्ड के ब्योरों में चित्त रमाना इसी अनुराग की बात है। प्रकृति की व्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कवि की दृष्टि मनुष्य जीवन पर रहती है। इस भेद को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये। दोनों विधानों का महत्व बराबर है।[3]

काव्य के विषय में शुक्ल जी ने एक और महत्वपूर्ण बात बताई है और वह यह है कि काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं।[4] पर इस विशेष का वर्णन, यह आवश्यक नहीं कि विलक्षण ही हो। विलक्षण गुणों वाली वस्तु या व्यक्ति हमारे आश्चर्य का आलम्बन ही होगा, इसमें हमें चमत्कार ही मिलेगा, कुतूहल ही रहेगा। पर इस विशेष व्यक्तित्व के भीतर सामान्य गुणों

---

१ चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ १६६। ३ काव्य में रहस्यवाद ,, २४, २५।
२ ,, ,, , ,, १६६। ४ चिन्तामणि भाग १, ३०६।

भावों, मनोविकारों का आरोप कवि का काम है। कवि इस विशिष्ट व्यक्तित्व के द्वारा सामान्य जन समूह का चित्रण करता है। अतः काव्य का विषय सदा विशेष होता है। जब विषय विशेष न होकर सामान्य हो जाता है या व्यक्ति को छोड़कर जाति का वर्णन होता है, तब इतिहास या समाजशास्त्र हो जाता है, काव्य नहीं।

अब काव्य के प्रयोजन पर विचार करना चाहिये। काव्य के स्वरूप वर्णन के प्रसंग में इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि काव्य, उपदेश नहीं होता। उपदेश, धर्म शास्त्र के अन्तर्गत है। उपदेश जो कुछ रहता भी है वह प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर हमारी भावानुभूति के साथ ही। किंतु काव्य का प्रयोजन बड़ा व्यापक है। काव्य का सन्देश बड़ा ही उदार है। काव्य-तल्लीनता या भावपरिणति के साथ जो संदेश देता है, वह शुक्ल जी के शब्दों में निम्नांकित है।

"आजकल कवि के संदेश (message) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदि कवि का—आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की—संदेश है कि सब भूतों तक, सम्पूर्ण चराचर तक, अपने हृदय को फैलाकर जगत् में भाव रूप में रम जाओ, हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण प्रवाह की जो वाणी उनके मुख से पहले पहल निकली उसमें यही संदेश भरा था।"[1]

काव्य का यह संदेश और प्रयोजन चिरन्तन है जिसे इस रूप में शुक्ल जी ने ही पहल पहल उद्घाटित किया है। इस प्रकार काव्य का उद्देश्य लोक-जीवन में लय होना है और दुःख सुख से भावनाओं का परिष्कार करना है। काव्य का प्रयोजन हृदय प्रसार है। इस हृदय प्रसार के साथ ही साथ हम विश्व के प्राणियों के साथ घुल मिल जाते हैं। शुक्ल जी का स्पष्ट मत है कि हृदय प्रसार का स्मारक-स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नयी स्फूर्ति आ जाती है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर रसमग्न होने लगते हैं। कोई निष्ठुर कार्य हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।[2] शुक्ल जी कविता को एक

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १६।

२ 'चिन्तामणि' भाग १, ,, २१८।

दवा[1] मानते हैं। जिनका हृदय क्रूर कर्मों से कठोर हो गया है, जो दीन दुखियों का दुःख देखकर द्रवित नहीं होते हैं, जो अपने स्वार्थ को छोड़कर और संसार के किसी भी काम से अपना मतलब नहीं रखते, वे सब मानसिक रोगी हैं, उन्हें भावयोग का अभ्यास करना चाहिये और कविता-सेवन का नियम बनाना चाहिये। जो कविता का अभ्यासी, सरस सहृदय और भावयोगी होता है उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।[2]

शुक्ल जी के विचार से कविता का प्रयोजन केवल मनोरंजन नहीं है, वरन् वे तो मनोरञ्जन कविता का गौण उद्देश्य मानते हैं जैसा कि उनके ऊपर के विचारों से प्रकट है और उन्होंने अन्यत्र भी कहा है।[3] मनोरंजन यथार्थ में कविता का एक अस्त्र मात्र है उसका उद्देश्य लक्ष्य या प्रयोजन नहीं। मनोरञ्जन-द्वारा कविता अपना प्रभाव डालकर हमारी चित्तवृत्ति को एकाग्र कर लेती है और इस प्रकार इस अवस्था में कही गई बात का असर होता है। अतः कविता के विषय में मनोयोग एक अवस्था है, किन्तु पथ का ध्येय नहीं। शुक्ल जी को कविता का उद्देश्य मनोरञ्जन मानने में एक दृष्टि से आपत्ति है। वे कहते हैं कि मन को अनुरञ्जित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि और तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समझ कर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक और सहारा मिल जायगा। क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका था?[4] अवश्य था, वे राम के चरित्र को स्पष्ट करके एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे। इस प्रकार कविता, यथार्थ जीवन की प्रेरणा देती है। कविता सुधार करती है, कविता कर्म-क्षेत्र में कर्मठ बनाती है, मनोरञ्जन-द्वारा हमें दूसरे के साथ अपनापन जोड़ने की शक्ति देती है, व्यापक दृष्टि देती है और एक सामञ्जस्य प्रदान करती है। इन प्रयोजनों के साथ यथार्थ, काव्य का सेवन जितना ही फैलेगा उतना ही हमारा भला होगा। कविता को केवल मनोरञ्जन मान लेने से कवि का

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १, पृ० २१६।

२ ,, ,, ,, २१६।

३ "कविता पढ़ते समय मनोरञ्जन अवश्य होता है पर, उसके उपरान्त कुछ होता है और वही और सब कुछ है।" चिन्तामणि भाग १, पृ० २२१।

४ चिन्तामणि भाग १, पृ० २२३।

भी जीवनादर्श बदल जाता है और काव्य-रसिकों का भी। जब कविता, मनोरंजन द्वारा जीवन के अन्य महत्वपूर्ण कार्य करने में समर्थ है तब हम उसे सीमित एवं उसके प्रयोजन को संकीर्ण बनाकर उसका आदर्श क्यों खो दें। अतः शुक्ल जी के द्वारा कहे प्रयोजनों को लेकर कवि और रसिक दोनों को नवीन शक्ति प्राप्त होती है।

भाषा और छन्द

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से काव्य की भाषा में बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्नता रहती है। कवि को बोलचाल की प्रचलित भाषा से ही कभी कभी शब्दों को चुनना पड़ता है और कभी कभी उनको शक्ति और सौंदर्य देना पड़ता है, पर बोलचाल की सजीवता को खोकर नहीं। इस प्रकार काव्य की भाषा की चार विशेषताओं का उल्लेख उन्होंने 'चिन्तामणि' ग्रन्थ के 'कविता क्या है' निबन्ध के अन्तर्गत 'कविता की भाषा' के प्रसंग में किया है। कविता, स्वाभाविक रूपों और व्यापारों को ग्रहण करती है, अतः चित्र उपस्थित करने के लिये भाषा का लक्षणा शक्ति से सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योंकि सीधे ढंग से कहने पर मन के रमने में सन्देह है अतः चित्र उपस्थित करने का विधान आवश्यक है उदाहरणार्थ 'समय बीता जा रहा है' की अपेक्षा 'समय भागा जा रहा है' हमारे मन पर विशेष प्रभाव डालता है क्योंकि भागने का एक चित्र उपस्थित होता है। अतः पहली विशेषता कविता की भाषा की यही है कि वह हमारे सामने जो भी वस्तु व व्यापार लावे वह साकार हो, मूर्त हो, जिसे कल्पना ग्रहण कर सके।

इसी भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं।[१] काव्य में जाति-संकेत करने वाले, तत्व निरूपण करने वाले, शास्त्रीय परिभाषा के शब्द या साम्प्रदायिक शब्दों का उपयोग अच्छा नहीं होता, क्योंकि वे हमारे सामने कोई एक पूर्ण चित्र नहीं उपस्थित करते। विशेष दृश्यों को लेकर जो शब्द चलते हैं वही कविता के लिये महत्वपूर्ण हैं। कवि, अर्थ की ओर संकेत, दृश्यों को हमारे सामने उपस्थित करके ही करता है। उदाहरण के लिए प्राणी आयु-भर क्लेश निवारण और सुख प्राप्ति का प्रयास करता रह जाता है और कभी वास्तविक सुख शान्ति प्राप्त नहीं करता, इस बात को गोस्वामी जी यों सामने रखते हैं "डासत

१ 'चिन्तामणि भाग १, पृ० २३६ २४०'

ही गई बीती निसा सब, कबहुँ न नाय नींद भरि सोयो"[1] और "चरैं हरित तृन बलि पशु जैसे" को शुक्ल जी ने लिया है। इन दोनों में विशेष दृश्य, अर्थ क द्योतक हैं।

जिस प्रकार कविता हमारी आँखों के सामने चित्र उपस्थित करती है, इसी प्रकार संगीतमयिता या नाद-सौष्ठव भी हमारे हृदय पर प्रभाव डालता है और यह कविता की भाषा की तीसरी विशेषता है। वर्ण विन्यास का सौन्दर्य कविता के लिए आवश्यक गुण है। शुक्ल जी के विचार से 'श्रुतिकटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौंदय साधन के लिये ही हैं।[2] पर इस नाद-सौंदय के पीछे पड़कर भाव या अर्थ को छोड़, अनुप्रास आदि को ही अपना लेना ठीक नहीं। यह भावाभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। इस नाद-सौंदय का एक और गुण होता है कि कविता बहुत दिनों तक जीवित रहती है। शुक्ल जी ने लिखा है कि नाद-सौन्दय से कविता की आयु बढ़ती है। तालपत्र भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही गुनगुनाया करते हैं। अब नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिल्कुल हटा नहीं सकते।

चौथी विशेषता व्यक्तियों के प्रसग-वश आवश्यक गुण-सम्पन्न नामों का प्रयोग है। प्राय एक ही व्यक्ति के कई नाम होते हैं, पर जो नाम जिस प्रसग में आवश्यक हो उसी नाम का उस प्रसग में प्रयोग आवश्यक होता है। शुक्ल जी ने इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे किसी अत्याचारी से छुटकारा पाना है तो उस समय कृष्ण को पुकार 'राधिका रमण, वृन्दाविपिन-विहारी' नामों से उपयुक्त नहीं, उस स्थान पर 'मुरारी या कंस निकंदन'[2] नाम ही आवश्यक है।

भाषा की इन उपयुक्त चार विशेषताओं के अतिरिक्त शुक्ल जी न शब्द शक्तियों पर भी अपन स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों का क्षेत्र काम्य है। शुक्ल जी का मत है —"भाषा का पहला काम है शब्दों-द्वारा अर्थ

---

१ 'चिंतामणि' भाग १ पृ० २४२।

२, " , " २४४।

का बोध कराना। यह काम वह सवत्र करती है, इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में नित्य की बातचीत में, लड़ाई झगड़े म और काव्य मं भी। भावोन्मेष, चमत्कार-पूर्ण अनुरजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अथ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता, और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन म यह योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण-सबद्धता नहीं दिखाई पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और 'योग्य' अथवा 'प्रकरण-सम्बद्ध' अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह वाक्य या कथन, प्रलाप मात्र मान लिया जाता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप म परिणत होकर हमारे सामने आता है।"[1]

व्यंजना के विषय म शुक्ल जी का प्राचीन आचार्यों से कुछ मतभेद है। अभिधा मूला व्यजना के सलक्ष्यक्रम व्यंग्य और असलक्ष्यक्रम व्यग्य दो भेद पूर्वमान्य हैं। शुक्लजी इन्हें वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना कहते हैं। इन दोनों म अन्तर यह है कि पहले प्रकार में या वस्तु-व्यजना में वाच्याथ से व्यग्याथ में आने का क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, पर असंलक्ष्यक्रम व्यग्य में यह क्रम लक्षित नहीं होता। इन दोनों के अन्तगत इतना ही भद प्राचीन आचार्यों ने माना है। पर शुक्ल जी इन दोनों का अन्तर इतना ही नहीं मानते। उनके विचार से तथ्य या वृत्त की व्यजना वस्तु व्यजना कहलाती है और भाव की व्यजना जहाँ वहुत है वहाँ भाव-व्यंजना होती है केवल वाच्याथ से व्यग्यार्थ तक के क्रम का लक्षित न होना ही लक्षण नहीं। इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अथ से दूसरे अर्थ में जाना नहीं है। अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्याथ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। यदि व्यग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप म होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है' पर इस बात का ज्ञान स्वय क्रोध या रतिभाव, का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। अत भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना सवथा भिन्न कोटि की वस्तु है।"[2] ऊपर कहे हुए कथन में शुक्ल जी ने असलक्ष्यक्रम व्यग्य की और अधिक व्याख्या की है और उसकी यथाथ वृत्ति स्पष्ट

---

१ इन्दौर साहित्य सम्मेलन में दिया गया भाषण, पृ० ७।

२ इन्दौर वाला भाषण पृ० ९।

की है पर इससे उसकी असंलक्ष्य-क्रमता पर कोई आरोप या आपत्ति नहीं लगती। आचार्यों ने इसका असंलक्ष्य-क्रमता के आगे विचार नहीं किया, इस दृष्टि से शुक्ल जी के विचार आदरणीय हैं, पर प्राचीन आचार्यों की धारणा त्रुटिपूर्ण नहीं।

दूसरी बात जो शुक्ल जी के शब्द-शक्ति के विवेचन में महत्वपूर्ण है वह इस प्रश्न में है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है।' शुक्ल जी का मत है कि वह वाच्यार्थ में रहती है लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में नहीं। इस विषय में इन्दौर में दिये भाषण में कहे शुक्ल जी के पूरे तर्क का उद्धृत करना आवश्यक है। वे उदाहरण देते हुए कहते हैं —

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊँ॥

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब आप ही मिट जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या, पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत बुद्धि के अग्राह्य वाच्यार्थ में है। इस योग्य और बुद्धि ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।'[1] इसी विवेचन को और आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि "तो फिर लक्ष्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? लक्षणा, व्यंजना के सहारे योग्य व बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है? इस प्रयास का अभिप्राय यही है कि काव्य की उक्ति चाहे जितनी ही अतिरंजित-दूरारूढ़ और उड़ान वाली हो, उसका वाच्यार्थ चाहे कितना प्रकरणच्युत, व्याहत और असम्भव हो, उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य व बुद्धिग्राह्य अर्थ होना ही चाहिए।"[2] अब प्रश्न यह उठता है कि यदि उसमें रमणीयता नहीं, तो उसके प्राप्त करने की काव्य में आवश्यकता क्या है? इसका भी वे उत्तर देते हैं। "वह काव्य नहीं, काव्य को धारण करने वाला सत्य है जिसकी देख-रेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। व्यंजना करने वाली उक्ति की साधुता और सच्चाई की परख के लिए उसका सामने रखना आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों या आलोचकों को पड़ा करती है। वे उस सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देखकर यह निर्णय करते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक ठिकाने का है या ऊटपटाँग। इस प्रकार यहाँ के साहित्य-

---

१ 'इन्दौर वाला भाषण', पृ १४।
२ ,, ,, ,, १४।

मीमांसकों की दृष्टि में काव्य का योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए, योग्यता चाहे खुली हो, चाहे छिपी हो। अत्यन्त अयोग्य, असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी कभी काव्य के प्रयोजन भर को योग्यता छिपी रहती है जैसे शोकोन्मत्त या वियोग विक्षिप्त प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही 'योग्यता' है।"[१]

इस प्रकार शुक्ल जी ने वाच्यार्थ में ही काव्य की रमणीयता मानी है। पर यहाँ भी विचारणीय बात यह है कि शुक्ल जी का कथन यथार्थ में प्राचीन मान्यता के विरोध में है या नहीं। प्राचीन आचार्य, व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ से युक्त वाच्यार्थ को ही काव्य मानते हैं। इससे उनका विरोध नहीं है, रमणीयता का कारण व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ ही है, पर लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ की सत्ता बिना वाच्यार्थ के है ही नहीं अतः शुक्ल जी की यह खोज कि काव्य की यथार्थ रमणीयता वाच्यार्थ में ही रहती है सत्य अवश्य है, पर यह भी मानना होगा कि वह होती लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के समावेश से ही है। व्यंग्य से जो अर्थ निकलता है वह काव्य नहीं, वरन्, वाच्यार्थ में छिपा या अर्धोन्मीलित व्यंग्य ही काव्य-सौष्ठव से युक्त होता है।

अब छन्द पर शुक्ल जी के विचार देखना चाहिए। तथ्य तो यह है कि वे छन्द के पक्षपाती हैं। वे जिस प्रकार रूप विधान के लिए चित्र-विद्या को आवश्यक मानते हैं उसी प्रकार नाद विधान के लिए संगीत को। उनका स्पष्ट मत है कि "छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद सौन्दर्य की, प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है। हाँ, नए नए छन्दों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।"[२] नए छन्द नये भावों के हिसाब से होना चाहिए पर छन्दों का त्याग वे अनुचित मानते हैं। कुछ लोग आजकल छन्दों को बन्धन मानते हैं। द्विवेदी जी भी छन्दों को बहुत आवश्यक न समझते थे। पर शुक्ल जी की सम्मति है कि कविता एक पूर्ण कला है। भाव-निर्वाह में कभी कभी छन्द की गति के द्वारा शब्द चयन में कठिनाई अवश्य होती है, पर कविता-कला के संगीत और चित्र दोनों पक्ष पूर्ण होने चाहिए, अन्यथा वह स्वयं अपूर्ण रहेगी। छन्द का त्याग कर देने से कविता संगीत को सहायता भी न दे सकेगी और कवि अपनी संगीतात्मक प्रतिभा का उपयोग न कर सकेगा जो कि कविता को आकर्षण और स्मरणीयता प्रदान करती है।

---

१ 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ १४, १५।

२, 'काव्य में रहस्यवाद', ,, ११५।

कविता का पूरा सौन्दर्य छन्द को लय के साथ जोर से पढ़े जाने में ही खिलता है। छन्दों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य होता है।[1] शुक्ल जी केवल बन्धन के कारण ही छन्द से कविता की स्वच्छन्दता को ठीक नहीं समझते, क्योंकि कला के लिए कुछ न कुछ बन्धन अवश्य रहेंगे, किसी न किसी नियम का अनुसरण अवश्य होगा और फिर यदि यह माना भी जाय तो हमारे सामने छन्दों में बँधकर भी उत्तम से उत्तम कविता करने वाले कवि हैं। अतः बन्धन मानकर छोड़ना ठीक नहीं इससे उसके एक अंश का ह्रास होता है। उसे स्वाभाविक बनाने के पक्ष में तो शुक्ल जी भी हैं। उनका मत है—"लय भी एक प्रकार का बन्धन ही है। जब तक नाद-सौंदर्य का कुछ भी मान कविता में हम स्वीकार करेंगे तब तक बन्धन कुछ न कुछ रहेगा ही। नाद-सौंदर्य की जितनी मात्रा आवश्यक समझी जायगी उसी के हिसाब से यह प्रतिबन्ध रहेगा। इस बात का अनुभव तो बहुत से लोगों ने किया होगा कि संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा मालिनी, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा इत्यादि वर्णवृत्तों में नाद सौन्दर्य की पराकाष्ठा है, पर उनका बन्धन बहुत कड़ा होता है। अतः भावधारा या विचारधारा पूरी स्वच्छन्दता के साथ कुछ दूर तक उनमें नहीं चल सकती। इसी से हिन्दी में मात्रिक छन्दों का ही अधिक प्रचार रहा है। वर्णवृत्तों में सवैया इसलिए ग्रहण किये गये कि उनमें लय के हिसाब से गुरु-लघु का बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो जाता है।"[2]

इस प्रकार शुक्ल जी भावानुसार स्वाभाविक छन्दों के पक्षपाती हैं जिससे संगीत की मधुरता के साथ साथ भाव अधिक से अधिक स्वच्छन्दता से प्रकाशित हो सके।

कविता और कला

शुक्ल जी 'कला कला के लिए है' यह सिद्धान्त नहीं मानते। जैसा कि 'काव्य के स्वरूप के प्रसंग में कहा जा चुका है, भावानुभूति या रसात्मक तन्मयता काव्य का प्रधान अंग है भाव के बिना कला, वस्तुव्यंजना या लाक्षणिक चमत्कार चाहे जितना हो' प्रकृत कविता न होगी, केवल वह कुतूहल वर्धक होगी, तन्मयता का पोषक न होगी। कला एक बहुत बड़ा साधन है, शुक्ल जी इसे साध्य कभी नहीं मानते हैं, उनका कथन है कि

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १३ ।

२ ,, १३७ १३८ ।

एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।[1] वे मनोरंजन न काव्य का उद्देश्य मानते हैं और न कला का। इस अर्थ में कला को वे काव्य के अन्तर्गत नहीं रखते। कला का अर्थ, अभिव्यक्ति का कौशल है। उनका विचार है कि यदि 'कला' का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर ही से इस शब्द को नमस्कार करना चाहिये।[2] 'कला' को सजावट के अर्थ में शुक्ल जी अवांछनीय वस्तु समझते हैं। यदि अभिव्यक्ति का कौशल जो भावों को उठा सके कला का अर्थ है तो शुक्ल जी को मान्य है अन्यथा उसका विरोध स्थान स्थान पर देखने में आता है। उदाहरणार्थः—"सारांश यह कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मनबहलाव। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य-चर्चा में बहुत जल्दी सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा। हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था"[3] इस प्रकार शुक्ल जी 'कला' को कविता का एक साधन मानते हैं। कला के अन्तर्गत काव्य को वे मानने के लिए तैयार नहीं। हाँ, कविता में अभिव्यक्ति कौशल, वर्ण-विन्यास विच्छित्ति आदि कला के पक्ष रहते हैं जो कविता की आत्मा रस या भाव का ठीक ठीक प्रभावकारी रूप में प्रकट करने के लिए होते हैं।

अलङ्कार

कथन की विशेषता को 'अलंकार' कहते हैं। यह विशेषता कभी वर्ण विन्यास में पाई जाती है, कभी शब्द व अर्थ की क्रीड़ा में, कभी वाक्य के बाँकेपन में कभी प्रस्तुत अप्रस्तुत के सादृश्य सम्बन्ध में और दूरी की कल्पना में। इन्हीं के विचार से अनेक अलंकार होते हैं। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में जो जो विलक्षणता दिखाई पड़ती है, उन्हीं के आधार पर अलंकारों का नाम रक्खा गया है। शुक्ल जी के विचार से वस्तु या व्यापार के तीव्र करने, रूप व गुणों का उत्कर्ष दिखाने के लिए प्रस्तुत कथन के ढंगों को अलंकार कहते हैं। पर अलंकार है साधन ही, साध्य नहीं। शुक्ल जी अलंकारों का भाव या भावना के उत्कर्ष के लिए ही मानते हैं। वे कहते हैं:—

---

१ काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १ ४।

२ चिन्तामणि, भाग १ १६३।

३ „ १ ५।

"अलकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप म हा (जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में) चाहे वाक्य वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसख्या, याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्ण वि यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में), लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना क उत्कष साधन के लिए ही।"[1]

शुक्ल जी ने यह भी स्वीकृत किया है कि प्राचीन आचार्यों ने अलकारों से रस, रीति, गुण आदि सभी प्रकार के काव्य सौष्ठव का तात्पय ग्रहण किया है। पर धीरे धीरे जैसे ही अन्य सिद्धान्तों का स्वरूप साफ होता गया अलकारों का भी स्पष्ट रूप निखर आया। और अब वतमान विद्वत्समुदाय अलकारों को वणन की भि न भिन्न प्रणालियाँ ही मानता है। *शुक्ल जी स्वभावोक्ति को अलकारों की कोटि में नहीं मानते,* क्योंकि अलकार, वणन प्रणाली है और वस्तु-वणन या तथ्य निर्देश, अलकार का काम नहीं। वस्तुओं, चेष्टाओं और व्यापारों का वणन रसो और भावों के अन्तर्गत ही आयेगा, अलकार के अलकार कहना ठीक नहीं है। रसवत् आदि भी इस प्रकार अलकार नहीं हैं। सभी वणन भीतर हों ही यह आवश्यक नहीं।

शुक्ल जी अलकारों की भरमार, कविता में आवश्यक नहां मानते। वणन की बहुत सी नवीन प्रणालियाँ ऐसी हा सकती हैं जो अभी तक नहीं खोजी गयी हैं क्योंकि कविता का क्षेत्र भी असीम है और अभिव्यक्ति का ढग भी। उमड़ते भाव की प्ररणा से कथन की जो स्वा भाविक वक्रता होती है उसी के भीतर यथाथ और साथक अलकार होते हैं। अत शुक्ल जी ने अलकार की स्वाभाविकता पर ज़ोर दिया है। स्वभावत आये अलकार अधिकांश किसी साम्य पर आधारित रहते हैं। इस साम्य को शुक्ल जी ने तीन प्रकार का माना है जैसा कि उ होंने अपने इन्दौर वाले भाषण म बताया है। "अलकारा म अधिकतर साम्य-मूलक अल कार ही अधिक चलते हैं। अत इस साम्य के सम्बन्ध में थोड़ा विवेचन कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ साम्य मुख्यत तीन प्रकार के माने गय हैं। सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धम अथात् गुण आदि की समानता) तथा शब्द साम्य (कवल शब्द या नाम के आधार पर समानता)। इनम से तीसरे को लेकर तमाशे खड़े करना तो कवल केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है। प्रथम दो के सम्ब ध में ही कुछ निवेदन करने की आवश्यकता है। सादृश्य के सम्ब ध म पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि काव्य में उसकी योजना, बोध या जानकारी करने के लिए नहां की जाती है, बल्कि सौंदय, माधुय भीषणता इत्यादि की

---

१ चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ २४७।

भावना जगाने के लिए की जाती है। जैसे क्रुद्ध व्यक्तियों की आँखों के सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि वे 'अंगार सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि 'कमल' के समान लाल हैं।"[1]

इस प्रकार अलंकारों की स्वाभाविकता पर उनका विचार, समीचीन है। रीति को वे शुद्ध नाद से सम्बन्धित मानते हैं भाव से नहीं। उनका कथन है कि रीति का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों, रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया है।[2] शुक्ल जी प्राचीन काव्य-पद्धतियों को काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा के लिए बड़े काम की बताते हैं। पर यथार्थता यह है कि उनके द्वारा काव्य के नव निर्माण को अधिक प्रेरणा नहीं मिलती। उनका आधार लेकर चलने वाले काव्यों में रूढ़िगत एक रसता आजाने का डर रहता है।

रस

शुक्ल जी रस सिद्धान्त के समर्थक थे अतः रस पर उन्होंने बहुत अधिक विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। वे रस को ही कविता का सब कुछ मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य की आत्मा रस है, इस बात को ही अन्य विद्वानों ने दूसरे दूसरे शब्दों में कहा है जिससे उनका नवीन विचार प्रकट हो। पण्डितराज जगन्नाथ का रमणीयार्थ प्रतिपादक काव्य भी रसात्मकता प्राप्त किये हुए है। भावमग्नता और रमणीयता को वे एक ही मानते हैं। जहाँ मन रमेगा वहीं हृदय भी प्रभावित होगा और रस का अनुभव होगा। अतः रस ही काव्य में प्रधान है। फिर कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है, इस परिभाषा में केवल भाव-पक्ष ही आता है, कल्पना और कलापक्ष छूट जाता है। इस आपत्ति का भी शुक्ल जी उत्तर देते हैं। उनका मत है कि भाव कोई अकेली मानसिक वृत्ति नहीं है, वरन् इसके अन्तर्गत प्रत्यय, अनुभूति, इच्छा और शरीर धर्म सम्मिलित हैं यह मनोविज्ञान द्वारा भी निरूपित हो चुका है। ये सभी भाव के अंग हैं। शुक्ल जी के मत से विभावों और अनुभावों का वर्णन कल्पना की अपेक्षा रखता है। अतः कल्पना पक्ष इसी के अन्तर्गत अपने आप ही आ जाता है।[3]

---

१ इन्दौर वाला भाषण पृ० ८९।
२ इन्दौर वाला भाषण ,, ६८।
३ 'काव्य में रहस्यवाद ,, ५८।

शुक्ल जी रसात्मक प्रतीति के लिए कवि कर्म के दो पक्ष मानते हैं—अनुभाव और विभाव। अनुभाव के भीतर कवि का उद्देश्य आश्रय (अर्थात् जिसके भीतर भाव उत्पन्न होते हैं) के रूप-चेष्टा-वचन आदि का वर्णन होता है और विभाव पक्ष के अन्तर्गत आलम्बन के रूप, चेष्टा और वचन का। इस विषय में शुक्ल जी दूसरों से भिन्न हैं। वे शृंगार रस में जो स्त्रियों के हाव या अलंकार होते हैं उन्हें विभाव पक्ष के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि इनके द्वारा मनोमोहकता बढ़ती है। नायिका, आलम्बन रूप में है और हाव या अलंकारों का संयोग उद्दीपन का काम करता है। इन दोनों में कल्पना, कवि और पाठक या श्रोता दोनों के लिए अपेक्षित है। कवि के लिए अपेक्षित कल्पना को वे विधायक कल्पना कहते हैं और पाठक के लिए 'ग्राहक कल्पना' की आवश्यकता वे मानते हैं।[1]

फिर रसात्मक प्रतीति की दो कोटियाँ शुक्ल जी मानते हैं। उनका कथन है कि रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षणग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है —

१ जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना।

२ जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन तो न होना, पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।[2]

इनमें प्रथम तो उत्तम प्रकार के प्रभाव को व्यक्त करता है और दूसरा मध्यम। यहीं शुक्ल जी ने स्थायी भावों का महत्व भी स्पष्ट किया है। पूर्ण रस की अनुभूति के लिए जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन हो जाना आवश्यक है, पर यह तभी होता है जब कि साहित्यिक स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों-द्वारा रस के रूप में प्रकट हुए हों या विकसित हुए हैं। अन्य भाव विभाव, अनुभाव और संचारियों से मिलकर भी पूर्ण तादात्म्य की अनुभूति नहीं देते। इसीलिए आचार्यों ने स्थायी भावों को अलग रखकर उन पर विचार किया है। शुक्ल जी ने लिखा है —

"पूर्ण रस की अनुभूति अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्य दृष्टि से जब

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ५६।

२ „ „ „ ५०।

हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्य मात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ 'हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय हो जाता है' वही पुनीत रस भूमि है। आश्रय के साथ यह तादात्म्य, आलम्बन का यह साधारणीकरण जो स्थायी भावों में होता है, दूसरे भावों में चाहे वे स्वतंत्र रूप में भी आये हों नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं"[1] रसानुभूति या रस की प्रतीति का और अधिक विश्लेषण शुक्ल जी ने साधारणीकरण के अन्तर्गत किया है। साधारणीकरण की क्रिया रसानुभूति के तत्व को स्पष्ट करती है। जब आश्रय का आलम्बन केवल उसी का आलम्बन न रहकर पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है और वह भी उसके प्रति उन्हीं भावों का अनुभव करता है जो आश्रय करता है तब उसे साधारणीकरण की दशा कहते हैं। शुक्ल जी का कथन है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। विशेष व्यक्ति में ही वर्णन या अभिनय के द्वारा ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है कि उसके प्रति सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। रस मग्न पाठक के मन में यह भेद भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। अपना अलग हृदय नहीं रहता।

इस अवस्था को तादात्म्य की अवस्था कह सकते हैं। रस प्रतीति की यह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। शुक्ल जी इसके अतिरिक्त रस की एक नीची अवस्था[2] और मानते हैं, इस अवस्था का हमारे प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। इस अवस्था में पाठक या श्रोता, पात्र के भावों का अनुभव स्वयं नहीं करता। आश्रय, आलम्बन के प्रति जिन भावों में मग्न होता है पाठक या श्रोता उन भावों में मग्न न होकर दूसरे प्रकार के भावों में मग्न होता है, जैसे कि कोई अत्याचारी पुरुष किसी निरपराध व्यक्ति पर क्रोध का भाव दिखला रहा है तो श्रोता के अन्तर्गत क्रोध दिखलानेवाले व्यक्ति के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि के भाव जाग्रत होंगे। यह रस प्रतीति की नीची अवस्था है।

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ६०१।

२ 'चिन्तामणि' भाग १, ,, ३१४।

इस दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उस पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव रसात्मक ही होगा। इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की मान सकते हैं।[1] शुक्लजी का कथन है कि इस अवस्था में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है किन्तु पहली अवस्था और इसमें अन्तर इतना ही है कि पहली अवस्था में भाव का आलम्बन पाठक या दर्शक का भी आलम्बन होता है और इस अवस्था में आश्रय, जिस के अन्दर स्वयं भाव उठ रहे हैं पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है और तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है। कभी-कभी जहाँ कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है, वहाँ तादात्म्य कवि के भावों के साथ होता है क्योंकि कवि ने किसी न किसी भाव से प्रेरित होकर के ही वह चित्रण किया है।

दूसरी अवस्था का एक और रूप शुक्ल जी ने बताया है जिसमें दोनों अवस्थाओं का थोड़ा अंश रहता है। जब कभी कोई विचित्र शील वाला व्यक्ति हमारे सामने आता है और उसके प्रति घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य, कुतूहल आदि भावों में से कोई अपरितुष्ट दशा में रह जाता है और कोई दूसरा पात्र आकर पहले पात्र के प्रति उठे हुए भावों की व्यंजना करता है तब पाठक या दर्शक एक अपूर्व तुष्टि का अनुभव करता है। यह भी रसानुभूति की एक दशा है जिसमें दोनों दशाओं का योग रहता है यद्यपि दोनों अलग-अलग रहती हैं। इस प्रकार शील द्रष्टा के रूप में भावानुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य, दोनों को, दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ शुक्ल जी ने मानी हैं। उनका अन्तर उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर भावात्मक सत्ता में मिल जाता है और दूसरी में वह अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखता है।

इस रसानुभूति के लिए जो कि साधारणीकरण-द्वारा सिद्ध होती है यह आवश्यक है कि वह पात्र जो भावों का आलम्बन होता है व्यक्तिविशेष होकर के भी हमारी सामान्य भावनाओं का आलम्बन हो सके। उसके चरित्र चाहे जितने ऊँचे या नीचे हों हम उसके प्रति प्रेम श्रद्धा या घृणा-क्रोध आदि भावों का अनुभव कर सकें। यदि वह सामान्यविशेष व्यक्ति न होकर विरल-विशेष व्यक्ति होगा अर्थात् उसका चरित्र ऐसा होगा जैसा कि हम

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १, पृष्ठ ३१६।

नित्य प्रति के जीवन में नहीं देखते तो उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्पन्न नहीं वह केवल कुतूहल का पात्र होगा। यहाँ यह बात बता देना आवश्यक है कि हमारे यहाँ महाकाव्य या नाटक के नायक प्रसिद्ध व्यक्ति को ही मानने का जो निर्देश किया गया है वह इसी तादात्म्य की गहराई के लिए ही। जो प्रसिद्ध और ऊँचे चरित्र वाले होते हैं उनके प्रति हमारे कुछ न कुछ भाव पहले से ही रहते हैं। इसलिये नाटक में उनके प्रति भावानुभूति भी शीघ्र होती है।

शुक्ल जी भाव के अन्तर्गत विभाव पक्ष को प्रधान स्थान देते हैं। उनका कहना है कि अपने मुख से अपने भावों का विश्लेषण उतना अच्छा नहीं, जितना कि वस्तु स्थिति का सजीव चित्रण करके पाठक या दर्शक के भीतर अनुभूति जाग्रत करना। उन्होंने कहा है कि अपनी अनुभूति या सम्वेदना का लम्बा चौड़ा ब्योरा पेश करने की अपेक्षा उन तथ्यों या वस्तुओं को पाठक की कल्पना में ठीक-ठीक पहुँचा देना जिन्होंने वह अनुभूति या सम्वेदना जगाई है कवि के लिए हम अधिक आवश्यक समझते हैं। सहृदय या भावुक पाठक अपनी अनुभूति का पथ बहुत कुछ आपसे आप निकाल लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे कवियों की अनुभूति का आभास बहुत कुछ उनकी वस्तु योजना की शब्द भंगी में ही मिल जाता है[1]। इसी भाव को उन्होंने अपने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध में प्रगट करते हुए कहा है "मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"

रसानुभूति में हम अपने नित्य के जीवन को भूलकर एक काल्पनिक जीवन में तन्मय हो जाते हैं। इसलिये इसको अलौकिक अनुभव के रूप में विद्वानों ने ग्रहण किया है। शुक्ल जी उसे इस रूप में नहीं मानते। वे इस अनुभव को भी जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों के समान ही ग्रहण करते हैं। (वे जीवन में ही एक सामञ्जस्यपूर्ण दशा में किया गया अनुभव, रसानुभव के समान मानते हैं। [2]उनका कहना है कि रसानुभूति या काव्यानुभूति की उपयुक्त विशेषता के कारण उसे लोकोत्तर जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है। पर वास्तव में यह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शुक्ल जी समस्त रसों के अनुभव को आनन्दमय नहीं मानते। उनका स्पष्ट विचार है—

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ७१, ७७।

२ „ , ८२।

"क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्बन्ध में साहित्य-प्रेमियों को शायद कुछ अड़चन दिखाई पड़े क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसास्वाद आनन्द स्वरूप कहा गया है, अतः दुःख रूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है। यह प्रश्न कुछ गड़बड़ डालता दिखाई पड़ेगा। पर "आनन्द" शब्द को व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसके अर्थ में हृदय की व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूं। इस दशा की प्राप्ति के लिए समय-समय पर प्रवृत्ति होना आश्चर्य की बात नहीं। करुणारस प्रधान नाटक में दर्शकों के आँसुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि "आनन्द में भी तो आँसू आते हैं" केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्तदशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[1]

यह हृदय की दशा का अनुभव ही जो कि सत्वोद्रेक के अवसर पर होता है रस से युक्त है, पर सुख प्रधान रस और दुःख प्रधान रस की अनुभूतियाँ एक ही हो ऐसा नहीं। आनन्द व उल्लास की अनुभूति, करुणा और क्रोध की अनुभूति से बहुत भिन्नता रखती है जो विचारणीय है। रसानुभूति के पहले की अवस्था का भी शुक्ल जी ने वर्णन किया है। रस की अवस्था तो वस्तु या भाव की पूर्ण व्यंजना होने पर होती है। काव्य के पूर्ण ज्ञान पर रस की प्रतीति मानी गयी है। इसके पूर्व की अवस्था, या पूर्व की उमंग को शुक्ल जी ने रस प्रवणता या रसोन्मुखता कहकर व्यक्त किया है।[2]

रसानुभूति के ही प्रसंग में एक और महत्वपूर्ण विश्लेषण शुक्ल जी का है। भावों की प्रक्रिया के भीतर भाव का कुछ अंश व आश्रय की चेतना के प्रकाश में मानते हैं और कुछ अन्तस्संज्ञा के भीतर छिपा हुआ। उदाहरण के लिए रति भाव के अन्तर्गत ही कभी कभी असूया संचारी इस तीव्रता के साथ अपनी चरम सीमा में व्यक्त होता है कि आश्रय के भीतर स्वयं ही रतिभाव की कोमल सत्ता का ज्ञान नहीं रहता। यहाँ असूया, प्रकाश में और स्थायीभाव रति अन्तस्संज्ञा के भीतर है। शुक्ल जी इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में प्रधान पात्र के अन्तर्गत मूल, प्रेरक भाव या बीज भाव मानते हैं। इसी बीज भाव की

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ८२।
२ " " " , ५८।

प्रेरणा से घटना चक्र चलता है और अनेक भाव स्थायी और संचारी बीच में जगते हैं। इस शुक्ल जी दोनों से भिन्न मानते हुए कहते हैं —"इस बीज भाव को साहित्य-ग्रंथों में निरूपित स्थायी भाव और अंगीभाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।"[1]

शुक्ल जी ने बीज-भाव के अन्तर्गत कोमल और मधुर, कठोर और तीक्ष्ण दोनों ही प्रकार के भावों को माना है। यदि बीज भाव मङ्गलमूलक हैं तो उसकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आये सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होंगे। और इस प्रकार के बीज भाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र के अन्तर्गत होगी इसके भावों के साथ पाठकों का तादात्म्य हो सकता है। पर दूसरे प्रकार के पात्र जिनके भावों के साथ पाठकों के भावों का तादात्म्य नहीं होता, मङ्गलमूलक बीज भाव की प्रतिष्ठा वाले पात्रों की क्रिया में बाधा डालने वाले होते हैं। उदाहरण के लिए राम, मङ्गलमूलक बीज भाव को लेकर चलते हैं। यदि वे रावण के प्रति क्रोध या घृणा की व्यंजना करेंगे, तो इनके साथ पाठक का तादात्म्य होगा पर यदि रावण, राम के प्रति क्रोध या घृणा का भाव प्रकट करेगा तो उसके साथ पाठकों के भावों का तादात्म्य नहीं होगा। यही दोनों बातें, दो प्रकार की शुक्ल जी द्वारा वर्णित रसानुभूति की कोटियों के कारण रूप हैं।

यह तो हुआ रसानुभूति की दशा का विश्लेषण। इसके लिए कल्पना और भावुकता दोनों ही कवि के लिए आवश्यक हैं। भावुक जब कल्पना सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।[2] अतः कल्पना और भावुकता के सम्बन्ध से जो रसात्मक बोध के विविधरूप होते हैं उन पर आचार्य शुक्ल ने विस्तार के साथ अपने विचार प्रगट किये हैं। इसके अन्तर्गत उन्होंने काव्यगत रसानुभूति तथा जीवन में रसात्मक बोध के रूपों का वर्णन किया है। इस प्रसंग में भी उनकी नवीन धारणा महत्व की है। शुक्ल जी हमारे बीच में उठने वाले भावों को हमारे चारों ओर फैले हुए जगत् के रूपों में ही प्रतिष्ठित मानते हैं। उनका कथन है कि जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त होती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं। जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।[3] उनका स्पष्ट विचार है

---

१ 'चिन्तामणि' भाग १, पृ० ३०२।

२ 'काव्य में रहस्यवाद' ७१।

३ 'चिन्तामणि', भाग १ ३२६।

कि हमारे भीतर दिखाई पड़ने वाले रूप विधानों का आधार प्रत्यक्ष देखे हुए रूप ही रहते हैं। अन्तःकरण में उठने वाले रूप भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो ऐसे रूप होते हैं जो हमारे अच्छी प्रकार से देखे हैं जिनका हमारा साहचर्य भी अधिक गहरा है और एक-एक करके हमारे अन्तःपट पर आ आकर खड़े होते हैं और हम उस समय कहाँ बैठे हैं, क्या कर रहे हैं सब भूल जाते हैं। अपने को भूल कर उन्हीं मीठी दृश्यों में घुल-मिल जाते हैं। आँखें खुली रहती हैं, पर उनकी बाहर की ओर प्रेरक शक्ति खिंचकर उनमें लीन हो जाती हैं इन दृश्यों के साथ हमारी किसी न किसी भावना का सम्बन्ध है। या तो वह बाल्यकाल के दृश्य होंगे या माता पिता सम्बन्धी, मित्रों के साहचर्य के या युवावस्था के। *तात्पर्य यह कि उनमें अतीत की छाप हो, उनकी मोहकता और रमणीयता का मूल* कारण है। इस प्रकार की अन्तःकरण की अनुभूति को 'स्मृति' कहते हैं। इनमें देखे सुने दृश्य ज्यों के त्यों रहते हैं, बुद्धि से सम्बन्धित न होकर हमारी भावुकता के ही ये सगे होते हैं। दूसरी प्रकार के अन्तःकरण में अनुभूत रूप वे होते हैं जो हमारे प्रत्यक्ष किये रूपों का ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब न लेकर उनके आधार पर नये रूप खड़े करते हैं। इस प्रकार की रूप योजना *कल्पना* के अन्तर्गत है। इस प्रकार समस्त रूप विधानों को शुक्ल जी ने तीन कोटियों में रखा है—

१ प्रत्यक्ष रूप विधान।

२ स्मृत रूप विधान।

३ कल्पित रूप विधान।

इन रूप विधानों में से कल्पित रूप विधान के अन्तर्गत तो रसानुभूति जाग्रत करने की क्षमता को सभी ने माना है पर शुक्ल जी का विचार है कि प्रत्यक्ष और स्मृति रूप विधानों द्वारा भी मार्मिक अनुभूति जागरित होती है और वह रसानुभूति की कोटि में आ सकती है। बात यह है कि हमारे हृदय में प्रत्यक्ष रूप, परम्परा से अतीत काल से प्रभाव डालते हैं और उन्हीं के आधार पर हमारी वासना बनी है। शुक्ल जी का कथन है कि इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होगी वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं। प्रत्यक्ष रूपों की बाहरी मार्मिक अनुभूति ही भावुक का लक्षण है। प्रत्यक्ष के अन्तर्गत शुक्ल जी ने केवल चाक्षुष ज्ञान को ही नहीं लिया, वरन्

१ चिन्तामणि' भाग १, पृ ३३०।

२ " " " ३३१।

इसके अन्तर्गत शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श को भी माना है क्योंकि जब कभी वस्तु व्यापार का वर्णन होता है तब इन सभी का महत्वपूर्ण स्थान होता है। पर साहित्य समीक्षक प्रत्यक्ष रूप विधानों को काव्यानुभूति के अन्तर्गत नहीं मानते क्योंकि काव्य, शब्द-व्यापार है। अत प्रत्यक्ष का कल्पना के भीतर आया रूप ही शब्द-व्यापारों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। काव्य की प्रक्रिया के अन्तर्गत ये रूप कल्पित हो जाते हैं अत जो केवल कवि कर्म की ही विवेचना करते हैं उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे कल्पना-पक्ष पर विचार करते और रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष-बोध से कोई सम्बन्ध न रखते।

प्रत्यक्ष रूपों के अनुभव को रसात्मक अनुभूति से अलग करने वाली मुख्य बात साधारणीकरण है। इस प्रत्यक्ष अनुभव में साधारणीकरण अर्थात् एक साथ अनेक लोगों का अनुभव रहता है या नहीं रहता, यह प्रश्न विचारणीय है। शुक्ल जी का इस विषय में मत है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है। अत इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।[१] यह दशा उन दृश्यों के द्वारा प्राप्त होती है जो मनुष्यमात्र या सहृदयमात्र पर प्रभाव डालने वाले होते हैं। अब हम इस दशा का और अधिक विश्लेषण करके प्रत्येक रस को लेकर रस दशा की विशेषताओं द्वारा यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि प्रत्यक्ष रूपानुभूति के अन्तर्गत भी उन विशेषताओं का समावेश कहाँ तक रहता है।

रसात्मक अनुभूति के शुक्ल जी ने दो लक्षण कहे हैं—१ अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार और २ किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में भी भाव का उदय।[२]

---

१ चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ ३३७।

२ ,, ,, ,, ३३८।

इन दोनों का समावेश शुक्ल जी प्रत्यक्ष रूप विधान के अन्तगत करते हैं उनका कथन है कि 'यदि हम इन दोनों बातों को प्रत्यक्ष उपस्थित आलम्बनों के प्रति जगने वाले भावों की अनुभूतियों पर घटाकर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।" इसकी पुष्टि शुक्ल जी ने एक एक स्थायी भाव को लेकर की है। रति भाव के अन्तगत गहरी प्रेमानुभूति में व्यक्ति अपने तन बदन को भूला रहता है। बीच बीच में यदि उसे स्मरण, हर्ष, विषाद आदि होता है तब भी आत्मविस्मृति की अवस्था रहती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रेमानुभूति सदैव सभी सहृदयों के हृदयों में उसी भाव का उदय नहीं कराती, पर इसके साथ यह भी कथन असत्य होगा कि कोई भी रति भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति, सब के हृदय में भाव नहीं उठा सकती। जैसा कि आलम्बन यदि अत्यन्त मोहक होता है तो सभी को उसकी रमणीयता के प्रभाव वश उसके प्रति प्रेम का अनुभव होता है।

'हास' में तो यह बात होती है। ऐसे पात्र होते हैं कि उनके सामने आने पर अपने व्यक्तिगत सुख दुख भूल सभी या बहुतेरे एक विचित्र आह्लाद का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार 'उत्साह' की भी बात है। यदि उत्साह ऐसा है जिसमें केवल व्यक्तिगत लाभ के सम्बन्ध का सहारा आता है तो बात दूसरी है पर यदि काम ऐसा है जिसमें सभी का या अधिकांश व्यक्तियों का भला होता है, तो अवश्य सहृदय व्यक्ति उन व्यक्तियों की भावनाओं के साथ एक हो जाते हैं और अपने व्यक्तित्व को कुछ क्षणों के लिए भूल जाते हैं यही बात क्रोध के सम्बन्ध में भी है। क्रोध यदि किसी सार्वजनिक हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति है तो उस क्रोध का रसात्मक अनुभव हमें अवश्य होगा। 'शोक' स्थायी भाव के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने कहा है —

" 'शोक' अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है।' इस प्रकार 'शोक' की अनुभूति रसात्मक नहीं पर 'करुणा' की अनुभूति को तो हम रसात्मक मान ही सकते हैं। प्रकृति के नाना प्रकार के मधुर दृश्यों में अपने को भूल जाना तो और भी स्वाभाविक और स्वयंसिद्ध सा है और इस प्रकार शुक्ल जी का निष्कर्ष यही है कि ' रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से

१ देखिये 'चिन्तामणि' भाग १ पृ ३४०

२ " " " " ३४३

प्रथवा पृथक कोई अन्तवृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"

शुक्ल जी के इस विवेचन से 'रसानुभूति के अलौकिकत्व' का भी झगड़ा साफ हो जाता है। आजकल बहुत से लोग रस की अनुभूति को अलौकिक नहीं मानना चाहते हैं उनका कथन है कि रसात्मक अनुभूति हम लोक के बीच जीवन के मध्य भी होती है। शुक्लजी ने अपने प्रत्यक्ष रूप विधान के अन्तर्गत कुछ उसी समस्या को हल किया है। शुक्लजी प्रत्येक रसात्मक अनुभूति को समूहगत मानते हैं। और वे व्यक्तिगत सभी अनुभूतियों को भी रस की कोटि में ले जाते हैं। रसानुभूति के लिए व्यक्तिगत अनुभूति का रस की कोटि में मानने के दोनों लक्षण जो ऊपर कहे गये हैं होने चाहिये।

रसात्मक बोध का दूसरा स्वरूप शुक्ल जी स्मृत रूप विधान मानते हैं। शुक्लजी के ही शब्दों में "जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आये हुए कुछ रूप व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है"[२] इस स्मृति को वह दो प्रकार की मानते हैं—एक विशुद्ध स्मृति और दूसरी प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

विशुद्ध स्मृति के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं जिनको अतीतकाल में हमने प्रत्यक्ष किया था और वही हमारे अन्तःकरण में उपस्थित होकर हमें भावमग्न करती हैं। इनमें रसानुभूति का कारण साहचर्य भी विशेष रूप में होता है। साहचर्य का प्रत्यक्ष दशा के समय चाहे उतना प्रभाव न हो पर समय और स्थान का व्यवधान पड़ते ही उसका माधुर्य अनोखा हो जाता है। "इस साहचर्य का प्रभाव सबसे प्रबल रूप में स्मरण काल के भीतर देखा जाता है" यह शुक्लजी का भी विचार है। शुक्ल जी स्मरण-द्वारा रसानुभूति के भीतर रति, हास और करुणा को ही विशेष रूप से मानते हैं। अन्य भाव इसके भीतर कम आते हैं।

प्रत्यभिज्ञान तब होता है जब किसी प्रत्यक्ष देखी वस्तु या दृश्य से उसके सम्बन्ध की अनेक बातें याद हो आती हैं। इसमें कुछ अंश रहता है और बहुत सा अंश उसके

---

१ देखिए 'चिन्तामणि' भाग १, पृ० ३४४।
२ " " " ,, ३४३।
३ " " " , ३४६।

सम्बन्ध से स्मरण में आता है। शुक्लजी इसमें भी रस संचार की गहरी शक्ति मानते हैं। प्रत्यभिज्ञान का ग्रहण बराबर काव्यों में आता है।

स्मृत रूप विधान के अन्तर्गत शुक्ल जी एक और दशा रखते हैं स्मृत्याभास कल्पना की। इसका सम्बन्ध अध्ययन से है। किसी इतिहास में घटी घटना की स्मृति जो पहले कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष हो चुकी है। इसके अन्तर्गत है शुक्ल जी आप्त शब्द या इतिहास इसका आधार मानते हैं। दूसरे प्रकार की 'स्मृत्याभास कल्पना' को वे किसी ऐसे दृश्य के प्रत्यक्ष होने पर अध्ययन-द्वारा कल्पना से प्रत्यक्ष किए गये दृश्यों की स्मृति के भीतर मानते हैं। यथार्थ में यह कोई अलग विधान नहीं। निरीक्षण द्वारा नहीं, वरन् अध्ययन द्वारा प्रत्यक्ष किये गये रूपों का ही यह स्मृत रूप होता है। इस रूपविधान के अन्तर्गत अतीत का आकर्षण काम करता है और उसी के कारण ही इसे रसात्मक स्वरूप प्राप्त होता है।

तीसरा और अन्तिम तथा प्रधान रसात्मक बोध का रूप कल्पित रूप विधान है। काव्य में कल्पना का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कल्पना हमें रसात्मक बोध अथवा रसानुभूति में सहायता देती है। पर यह कल्पना साधन ही है, साध्य नहीं। शुक्ल जी ने स्पष्ट कह दिया है, 'कविता में कल्पना को हम साधन मानते हैं साध्य नहीं'[1]। रसात्मक बोध का कल्पित रूप विधान सभी को मान्य है। शुक्ल जी कल्पना से केवल 'नूतन सृष्टि का जो चमत्कार उत्पन्न करने में ही सहायक होती है, यही तात्पर्य नहीं लेते, वरन् उनके विचार से कल्पना हमारे सामने मार्मिकता से भरे रूपों को खड़ा करती है जिनमें हमारी भावनायें मग्न होती हैं। रूप उपस्थित करना कल्पना का ही व्यापार है अत भावों का भी मूर्त रूप खड़ा करना कल्पना का ही काम है। चिन्तामणि में शुक्ल जी कहते हैं—"सारा रूप विधान कल्पना ही करती है अत अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारों और चेष्टाओं तथा आश्रय को जो रूप दिया जाता है वह भी कल्पना ही द्वारा'[2] अनदेखे चित्र भी कल्पना उपस्थित करती है पर हमारी अनुभूति को उकसाने वाले चित्रों व रूपों का आधार देखे चित्र ही हो सकते हैं। नितान्त अलौकिक रूप विधान केवल वैचित्र्य का ही भण्डार रहेगा। भाव का आभास उसमें न हो पावेगा। अत विभाव को पूर्ण रीति से हमारे सामने उपस्थित करना कल्पना का मुख्य काम है। कहन

---

१ काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ ८७।

२ चिन्तामणि भाग १, ३६१

का अर्थ यह है कि कल्पना का कार्य प्रस्तुत है प्रस्तुत दोनों को ही कविता में प्रत्यक्ष करा देना है। अप्रस्तुत भी भाव के साथ हो क्योंकि भाव की प्रेरणा से जो, अप्रस्तुत लाये जाते हैं उनकी प्रभविष्णुता पर कवि की दृष्टि रहती है इस बात पर रहती है—कि इनके द्वारा भी वैसी ही भावना जगे जैसी प्रस्तुत के सम्बन्ध में।"

इसके अतिरिक्त कल्पना का कार्य भाषा को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कार पूर्ण बनाने में भी रहता है। लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियाँ कल्पना द्वारा ही उपस्थित होती हैं जो हमें रसात्मक बोध में सहायता देती हैं। यह एक एक व्यापार को एक एक क्रिया का रूप देकर उसका दृश्य सामने उपस्थित कर देती है। अमूर्त भावनाओं का मूर्त बना देना कल्पना का ही काम है। अतः कल्पना का भाव के सम्बन्ध में काव्य में बड़ा महत्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी रस सिद्धान्त के दृढ़ पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि यथार्थतः काव्य, रस में ही है। उसका रूप युग युग में बदलते आदर्शों और बदलती मनोवृत्तियों के साथ नवीन होता रहता है, किन्तु आधार में यही प्राचीन आचार्यों द्वारा स्थापित गहरी नींव अवश्य रहेगी। 'काव्य में रहस्यवाद' के अन्तिम पृष्ठ में उन्होंने लिखा है —"इस परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा के लिए हमें अपनी रस निरूपण पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार और संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गयी है, पर इसके ढाँचों का नए नए अनुभवों के अनुसार, अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है"[२] इस प्रकार रस सिद्धान्त की व्यापकता शुक्ल जी के विचार से स्पष्ट है।

काव्य के सम्बन्ध में प्राचीन सिद्धान्तों पर शुक्ल जी के विचार जान लेने के पश्चात् आधुनिक वादों पर उनके विचार जानना भी आवश्यक है। आधुनिक वादों में प्रमुखतः प्रचलित, यथार्थवाद आदर्शवाद, अभिव्यंजनावाद, छायावाद, रहस्यवाद आदि हैं। शुक्ल जी का विचार साहित्य में प्रतीकवादों के प्रचलन में सहयोग नहीं देता। यथार्थ में वादों के चक्कर में पड़कर सुन्दर काव्य पनपता ही नहीं है। यह बात दूसरी है कि काव्य सम्बन्धी आलोचना के लिये हम इन वादों की विशेषताओं का वर्णन करें। पर वाद के भीतर आकर साम्प्रदायिक संकीर्णता सी आ जाती है। शुक्ल जी का काव्य को साम्प्र

---

[१] चिन्तामणि भाग १ पृष्ठ ३६५।

[२] काव्य में रहस्यवाद ,, १५१।

दायिकता से दूर की वस्तु मानते हैं, इसी दृष्टिकोण से उन्होंने इन सभी वादों पर विचार किया है। सबसे पहले हम रहस्यवाद को लेते हैं।

रहस्यवाद

रहस्यवाद पर उनकी स्वतन्त्र पुस्तक है 'काव्य में रहस्यवाद,' जिसमें उन्होंने रहस्यवाद के अतिरिक्त, अभिव्यंजना, कलावाद, छायावाद, रस, छंद अलंकार आदि पर भी विचार किया और जिससे आवश्यक उदाहरण विचारणीय प्रसंगों में दिये जा चुके हैं। रहस्यवाद के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने यह विचार किया है कि काव्य में रहस्यवाद का क्या स्थान है ? कहाँ तक रहस्य भावना काव्य के लिए उपयुक्त है और कहाँ तक अनुपयुक्त, तथा हिन्दी काव्य में रहस्यवाद को लेकर लिखे गये काव्य कहाँ तक काव्यत्व का समावेश करते हैं और कहाँ तक वे भारतीय हैं, इन सभी बातों का विचार उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' जायसी ग्रंथावली की भूमिका' तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास में किया है। रहस्यवाद यथार्थ में एक दार्शनिक सिद्धान्त है जो अद्वैतवाद से विशेष सम्बन्ध रखता है और इसको लेकर भारत में ही नहीं अन्य देशों में अनेक सम्प्रदाय बने हैं, सूफी रहस्यवादी, निर्गुणी आदि इसी से सम्बन्धित हैं। साधन की दृष्टि से अनेक प्रकार की क्रियाओं के बीच अपने को परमात्मामय और अपने भीतर उसका अनुभव करना या उस अव्यक्त और असीम से कोई सम्बन्ध स्थापित करना आदि बातें इसके भीतर प्रचलित था। पर शुक्ल जी का विचार है कि काव्य के लिए साम्प्रदायिक साधना का कोई महत्व नहीं। उनकी दृष्टि से काव्य के स्वरूप भौतिक और लौकिक हैं। हमारी देखी सुनी इन्द्रियगोचर या इन्द्रिय गम्य बातें या भावनायें ही काव्य का आधार और विषय बन सकती हैं अलौकिक, अगोचर और अज्ञात नहीं। इस प्रकार का आधार एवं विषय ग्रहण करने पर काव्य विलक्षण और चमत्कार पूर्ण चाहे भले हो पर व्यापक व प्रभावशाली नहीं हो सकता और इस विचार के तो वे विरोधी हैं कि रहस्यवाद काव्य ही काव्य है अन्य नहीं। इस विचार को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :—

"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय सा तांडव करने या मुँदे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना कहाँ तक ठीक है ?'

१ काव्य में रहस्यवाद पृ० ४५।

शुक्ल जी कविता को मनोभावों का चित्रण मानते हैं और हमारे मनोभावों का सम्बन्ध गोचर जगत से ही विशेष है। जो अगोचर है, अज्ञात है, अनसुना है उसके साथ उनका सम्बन्ध कैसा? अतः भारतीय दृष्टिकोण से उसे प्रेम या श्रद्धा का पात्र बनाने के लिए उस अव्यक्त, असीम व निराकार को सगुण व साकार रूप में प्रतिष्ठित किया है और उसके पश्चात् उसे भक्ति व काव्यगत भावों का विषय बनाया है जो सर्वथा संगत है। चाहे राम की भक्ति हो, चाहे विष्णु, शिव या शक्ति की इन सभी का एक स्वरूप[1] हमारे सामने है और यह उनके गुण भी हमारे बीच में हैं अतः ये काव्य के विषय हो सके हैं। पर अव्यक्त व असीम अपने अव्यक्त रूप में कैसे भावों का विषय हो सकता है। भाव कैसे उस पर टिक सकते हैं? यह बात उनके लिए समस्या है। वह जिज्ञासा का विषय हो सकता है जैसा कि दर्शनों में है पर प्रेम या अभिलाषा की वस्तु नहीं। उनका कथन है कि — "भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं।" और इसी भाव को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—"जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा में केवल जानने की इच्छा है। उसका विषय वस्तु के प्रति राग द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान से होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रति भाव का एक अंग है। अव्यक्त, ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त सगुण ईश्वर या भगवान के सान्निध्य की अभिलाषा, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात की अभिलाषा, यह बिलकुल विदेशी कल्पना है।......अव्यक्त, अगोचर, ज्ञानकाण्ड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासना क्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्य-क्षेत्र में।"[2]

यहाँ पर शुक्लजी ने यह बात मान ली है कि अव्यक्त व असीम ब्रह्मज्ञान का या खोज का विषय है और सगुण, साकार अथवा अवतार के रूप में प्रतिष्ठित ब्रह्म, भक्ति या उपासना का विषय। निराकार और असीम ब्रह्म को वे अज्ञात मानते हैं। यहाँ पर दोनों दृष्टियों में भेद उपस्थित होता है। शुक्ल जी ज्ञात या सगुण ईश्वर ही को उपासना का विषय मानते हैं। पर यदि हम सगुण का अर्थ अवतार में प्रतिष्ठित लेते हैं तब जो आज कल की सामान्य मान्यता एवं विश्वास पर धक्का लगता है। यह अवतारवाद ही विलक्षणता लिये है। अवतारवाद के रूप में तो हम मनुष्य की ही उपासना और गुणगान

१ काव्य में रहस्यवाद पृ० ४७
२ ,, ,, ,, ४७

काव्य सिद्धान्त के रूप में रहस्यवाद कभी नहीं आ सकता। क्योंकि रहस्यवाद का सम्बन्ध एक प्रकार के भाव, मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से है और सभी काव्य क्षेत्र पर इसका प्रभाव नहीं है। काव्य का कोई भी सिद्धान्त पूरे काव्य पर लागू होता है इसी प्रकार के सिद्धान्त ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार आदि हैं जो सभी उत्तम काव्य में होते हैं। पर रहस्य भावना काव्य गत एक भावना हो सकती है, जिसे हम जीवन की उच्च भावना कह सकते हैं, पर सर्वव्यापी नहीं।

काव्य के अन्तर्गत सामान्य अनुभव ही आते हैं और इस दृष्टि से ईश्वर या आत्मा का अनुभव सामान्य अनुभव नहीं, विशिष्ट अनुभव है अतः शुक्ल जी इसे काव्य के क्षेत्र से बाहर की वस्तु मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य या सम्बन्ध मनोमय कोश से ही है "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य भूमि है, यही हमारा पक्ष है"[1] हमारी लालसा, सुख, दुख आदि की भावनाओं का यहीं तक क्षेत्र रहता है इसके ऊपर नहीं। सुख या आनन्द प्राप्ति के लिए ही मनुष्य अभिलाषा करता है क्योंकि जितना सुख या आनन्द वह पाता है उससे उसकी तृप्ति नहीं होती अतः वह, उसे अधिक पूर्णता के रूप में देखने के लिए शुक्ल जी के विचार से चार क्षेत्रों का सहारा लेता है।

"१—इस भूलोक के बाहर पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में।

२—इस भूलोक के भीतर ही पर अतीत के क्षेत्र में।

३—इस भूलोक के भीतर ही पर भविष्य के गर्भ में।

४—इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अनन्त क्षेत्र में।"[2]

इनमें से प्रथम में स्वर्ग या वैकुण्ठ या इन्द्रपुरी आदि की कल्पना है, द्वितीय का स्वरूप इतिहास, पुराण, कथा आदि के ग्रन्थों में मिलता है, तृतीय की कल्पना नवीन है, इसमें आगे की नवीन दुनिया बनाने के सुख स्वप्न चलते हैं। चौथे रूप को वे तीसरे के अन्तर्गत ही मानते हैं। उनका कथन है—

"जो भविष्य प्रेम कहा जाता है वह वास्तव में प्रस्तुत जीवन का प्रेम है जो आशा का संचरण कराके कवि को भविष्य सुख सौन्दर्य के चित्रण में प्रवृत्त करता है। वही बात यहाँ भी है। वास्तव में यह इसी जगत् के सुख-सौन्दर्य की आसक्ति या प्रेम है जो संचारी

---

१ काव्य में रहस्यवाद पृ॰ ८७।

२ ,, ,, ,, ४३, ४४।

के रूप म आशा या अभिलाषा का उन्मेष करके, इस सुख-सौन्दर्य को किसी अज्ञात या अव्यक्त क्षेत्र में ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है। अत तात्विक दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से, "अज्ञात की लालसा" कोई भाव ही नहीं है। वह केवल "ज्ञात की लालसा" है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे अज्ञात की लालसा कही जाती है'[1] अब हमें यह देखना चाहिये कि यदि यह ज्ञात की ही लालसा है तो और प्रकार की लालसा में और इसमें क्या भेद है ? और इसी निर्णय में इसकी काव्यगत महत्ता भी स्पष्ट हो जायगी। भौतिक वस्तुओं की लालसा में उनकी प्राप्ति असम्भव नहीं। 'लालसा' के साथ प्रयत्न और सफलता पर उसके पश्चात् उस वस्तु के साथ जीवन भर सम्बन्ध या विछोह दो ही बातें होती हैं। लालसा के बाद प्रयत्न की अवस्था में काव्य का पूरा क्षेत्र आ सकता है। विछोह तो 'लालसा के साथ अभाव के सम्बन्ध से है ही। इसलिए यदि हम 'ज्ञात की लालसा' मान लें तो काव्य का क्षेत्र उपस्थित हो जाता है और यह क्षेत्र जगत् के रूप में बड़ा असीम का है। सम्पूर्ण विश्व में एक सम्बन्ध सूत्र ढूँढना, सबको एक से सम्बन्धित करना ही रहस्यवादी दृष्टि के अन्तर्गत है। रहस्यवादी, जगत् को परमात्मा की रचना नहीं मानता वरन् उसकी अभिव्यक्ति मानता है अत उसका कण कण से मोह है और इस दृष्टि से काव्य का क्षेत्र उसके लिये खुला है उसकी लालसा सभी उच्च एवं पवित्र आत्माओं की लालसा है। हाँ, यह अवश्य है कि इसका अनुभव हम जीवन संघर्ष के बीच में नहीं करते, वरन् उसे शान्ति के क्षणों में ही प्राप्त करते हैं। शुक्ल जी ने सभी रहस्यवाद के अन्तर्गत इस प्रवृत्ति को स्वीकार किया है।[2] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे अज्ञात या अव्यक्त के प्रति हृदय का सम्बन्ध असम्भव मानते हैं और कहते हैं कि —

'हमारा कहना यही है कि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाष, जो कुछ प्रगट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा।'[3]

शुक्ल जी के विचार से जहाँ भक्ति के भारतीय स्वरूप को किसी प्रकार से बाधा पहुँची, वहीं ही मनुष्य के भीतर की स्वाभाविक भक्ति भावना इस रूप में प्रकट हुई।

---

१ काव्य में रहस्यवाद, पृ० ४४।

२ काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ ५ ।

३ ,, ,, ,, ।

अतः यह भक्ति भावना का ही एक स्वरूप समझना चाहिए उससे भिन्न नहीं। शुक्लजी के विचारानुसार यह समझ रखना चाहिए कि काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही पारस, अरब तथा योरप में हुई जहाँ पैगम्बरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा ऊब रहा था। वे इस प्रकार की परिस्थिति को रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का कारण मानते हैं। इस प्रकार की बाधा यहाँ पर न रहने के कारण भारतीय भक्ति प्रवृति के अन्तर्गत जहाँ एक ओर सगुण व साकार भक्ति का स्वरूप मिलता है वहाँ ही उपनिषदों तथा अन्य ग्रंथों में प्रकृति के कण कण में चेतन शक्ति की अनुभूति का भी स्पष्ट प्रकाशन है। वर्तमान समय में यह दूसरा रूप रहस्यवाद के अन्तगत ही आ गया है इस प्रकार भक्ति और रहस्यवाद में भावना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं केवल प्रकाशन-शैली अथवा प्रणाली के भेद से ही दोनों की बीच गहरी खाई सी जान पड़ती है। शुक्लजी अवतारवाद के मूल में भी रहस्यवाद मानते हैं। उनका कहना है कि भारतीय भक्ति मार्ग रहस्यभावना का विकसित स्वरूप है। जब तक उसमें रहस्य या गुह्य भाव रहे तब तक वे योग तन्त्र आदि से सम्बन्धित रहे पर उसे स्पष्टरूप में प्रतिपादित करने के बाद भक्ति प्रबल रूप से आई। अवतारवाद दोनों के बीच की अवस्था है। यथार्थ में भक्ति का पल्ला अवतारवाद को लेकर ही भारी पड़ा और काव्य, भक्ति को लेकर चला, रहस्यवाद को लेकर नहीं। इस विषय पर शुक्लजी ने लिखा है'—

"अवतारवाद मूल में तो रहस्यवाद के रूप में रहा, पर आगे चलकर वह पूर्ण प्रकाशवान के रूप में पल्लवित हुआ। रहस्य का उद्घाटन हुआ और राम कृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोक विभूति का विकास हुआ। उसी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या कला को लेकर हमारा भक्ति काव्य अग्रसर हुआ, छिपे रहस्य को लेकर नहीं।"[1]

छिपे रहस्य को लेकर उसे हम भावनाओं का विषय नहीं बना सकते। भावनाओं का विषय वही बन सकता है जो स्पष्ट और गोचर हो। चाहे वह परमात्मा का स्वरूप हो चाहे मनुष्य का। जिसका जीवन में किसी न किसी रूप में मनुष्य को अनुभव हुआ है वही भावों का और कविता का विषय हो सकता है। इसलिए साम्प्रदायिक रहस्यवाद को लेकर चलने वाली कविताओं में शुक्ल जी दो विरक्ति जनक बातें बताते हैं। एक भावों की सच्चाई का अभाव और दूसरी, व्यंजना की कृत्रिमता उनमें व्यंजित अधिकांश भावों को कोई हृदय के सच्चे भाव नहीं कह सकता। अत

---

१ काव्य में रहस्यवाद, पृ १०६।

उनकी व्यंजना की उछलकूद भी एक भद्दी सी नकल जान पड़ती है[1]। जहाँ पर सच्चे भावों का अभाव होगा वहाँ श्रोता या पाठक को काव्यानुभूति न होगी और इस प्रकार काव्य प्रभावहीन होगा। इसलिए शुक्ल जी का निर्णय यह है कि साम्प्रदायिक या धार्मिक रूप में जो रहस्यवाद का स्वरूप योग, तन्त्र या पाश्चात्य सम्प्रदायों में है वह काव्य का विषय नहीं हो सकता। काव्य की रहस्य भावना उनसे स्वच्छन्द वह भावना है जिसमें कवि और उसके साथ ही साथ श्रोता या पाठक भी विश्व के कण कण में, प्रकृति के अंग अंग में उसकी एक एक गति में असीम परमात्मा की भावाभिव्यक्ति देखता है और मानव तथा प्रकृति के जीवन का प्रत्येक व्यक्ति समस्त विश्व की सूक्ष्म भावनाओं से सम्बन्धित है।

अभिव्यंजनावाद

रहस्यवाद के बाद हम अभिव्यंजनावाद पर शुक्ल जी के विचारों को लेते हैं। चिन्तन द्वारा उत्पन्न विचारों को सम्मुख रखना, सत्य के विविध स्वरूपों को स्पष्ट करना, असत्य का खंडन करना आदि दर्शन या विज्ञान का कार्य है। अतः विचार की नवीनता को हम काव्य का गुण नहीं मान सकते, क्योंकि नवीन विचार सदैव काव्य नहीं होते। फिर काव्य है क्या ? काव्य को कथन की विशेषता कह सकते हैं। साधारण जनता की भाषा में भी इस मत का प्रकाशन किया गया है 'उक्ति विशेषो काव्यम् भाषा जो होय सो होय।' तो उस उक्ति विशेष, अभिव्यक्ति के ढंग में ही काव्य विशेषता मानना, काव्य की आत्मा, समझना, कुछ विद्वानों की दृष्टि से ठीक समझा गया और इसी के आधार पर कथन की वक्रता को काव्य की आत्मा माना गया। संस्कृत का 'वक्रोक्तिवाद' इसी विचार को लेकर चला और आचार्य कुन्तल के 'वक्रोक्ति जीवितम्' में वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है, यह प्रतिपादित किया गया। अभिव्यंजनावाद भी इसी कथन की विशेषता पर ही जोर देता है। कथन की विशेषता पर ज़ोर देने से ही अनेक प्रकार के अलंकारों का समावेश हुआ है और कल्पना, ऊहा, उक्ति का इतना अधिक प्रयोग रीतिकालीन साहित्य में देखा जाता है। शुक्ल जी के विचार से अभिव्यंजनावाद धीरे धीरे शब्दाडम्बर की ओर हमें ले जाता है। उनका कथन है कि—

"अभिव्यंजनावाद किस प्रकार व्यंजन प्रणाली की वक्रता और विलक्षणता पर ही ज़ोर देता है, यह हम देख चुके हैं। यह हमारे यहाँ का पुराना वक्रोक्तिवाद ही है, यह

---

१ 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १०९।

भी हम निर्धारित कर आये। उसके कारण शब्दाडम्बर की कितनी अधिकता हुई है, यह बात भी हम देख रहे हैं।"[1] 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक में इसका भली प्रकार निरूपण शुक्लजी ने किया है। अभिव्यक्ति की विलक्षणता काव्य का एक अंग अवश्य है, पर सब कुछ नहीं है, उसकी आत्मा भी नहीं है, क्योंकि केवल अभिव्यक्ति की वक्रता पर ही जोर देने से काव्य का स्वरूप केवल चमत्कारमय हो जाता है। उसमें रमणीयता या तन्मयता का गुण रहना भी स्वाभाविक है इसलिये हमें भाव की अभिव्यंजना को काव्य कहना चाहिए, यदि अभिव्यंजना को उक्ति की विलक्षणता के रूप में लिया जाय। पर कवि के लिये साध्य 'भाव' है, अभिव्यक्ति की वक्रता नहीं। भावानुभूति के साथ साथ वह स्वाभाविक रूप में आकर ही काव्य का गौरव बढ़ाती है उदाहरण के लिये छोटे बच्चे अपने भाव की अभिव्यक्ति में स्वाभावतः जो अंग संचालन, मुख नेत्र विकार आदि उपस्थित करते हैं उनमें आनन्द रहता है, पर यदि कोई उनका अनुकरण करे, उसके भीतर भाव, स्वाभाविक रीति से न आये हों तो वह उपहास का पात्र है यही भाव से रहित केवल वक्रता, को लेन से भी होता है। शुक्लजी ने इसे काव्य के बाह्य स्वरूप के अन्तर्गत रखा है। अभिव्यंजनावाद, उनके विचार से शिल्प विधि है। छायावाद, रहस्यवाद पर लिखते हुए उन्होंने कहा है —

"अब तक जो लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में आनिकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीज़ों का मुरब्बा है। जैसा कि हम पहले दिखा आये हैं रहस्यवाद या छायावाद का वस्तु (Matter) से सम्बन्ध रखता है और अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध विधान विधि (form) से होता है। अभिव्यंजनावाद के साथ संयुक्त होकर बंगला से हिन्दी में आने के कारण साधारणतः छायावाद के स्वरूप की ठीक भावना बहुत से रचयिताओं को भी नहीं होती। वे केवल ऊपरी रूप रंग (form) का अनुकरण करके समझते हैं कि हम रहस्यवाद या छायावाद की कविता लिख रहे हैं। पर वास्तव में उनकी रचना में केवल 'अभिव्यंजनावाद' का अनुकरण रहता है। 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो।"[2]

इससे स्पष्ट है कि जहाँ वास्तविक अनुभूति नहीं, वहाँ पर कोरी वाक्पटुता का कोई

---

१ काव्य में रहस्यवाद पृ० १४४।

२ काव्य में रहस्यवाद, ,, १६८।

महत्व नहीं रहता है उसका स्थान तो अनुभूति के साथ ही है, अलग नहीं हाँ अनुभूति के साथ उसकी जितनी ही अधिक विशेषता हो उतना ही अच्छा। इसलिये 'अभिव्यञ्जना-वाद' को लेकर चाहे कुछ कहा जाय, भाव का सहारा छोड़कर वह केवल बौद्धिक और काल्पनिक चमत्कार मात्र ही रह जाता है और किसी गंभीर भावुकता को नहीं उकसाता। प्रचीन कवियों की रचनाओं में भी इसका आधिक्य 'दृष्टिकूट' या उलटवाँसी आदि के रूप में देखा जाता है जो कि काव्य की दृष्टि से अधम कोटि के ही हैं। शुक्ल जी ने केवल 'अभिव्यञ्जनावाद'का बाहुल्य होने पर अनेक प्रकार के दोषों का स्पष्ट आगमन देखा है। साहित्य सम्मेलन के इन्दौर वाले अधिवेशन के समय सभापति के रूप में जो भाषण उन्होंने दिया था उसमें उन्होंने उनकी ओर संकेत अनेक प्रवृत्तियों के रूप में किया है। उनका कथन है कि—

"कलावाद और अभिव्यञ्जनावाद से उत्पन्न कुछ प्रवृत्तियाँ ये हैं —

१ *प्रस्तुत मार्मिक रूप विधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप* विधान में ही प्रतिभा या कल्पना प्रयोग।

२ जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

३ जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम सम्बन्धी-मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (Lyric) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

४ 'अनन्त' 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों-द्वारा उन पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

५ काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प अर्थात बेल बूटे और नक्काशी वाली हल्की धारणा।

६ समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास"[1]

इन सभी प्रवृत्तियों पर उन्होंने विस्तारपूर्वक विचार किया है और काव्य के विकास व स्थायित्व में इन्हें हानिकारक सिद्ध किया है। वे अभिव्यंजनावाद से अधिक भावानुभूति पर बल देते हैं। केवल कल्पना को ही सब कुछ मानने से भावपक्ष हल्का पड़ जाता है और कलापक्ष ही प्रधान रहता है। भाव का योग शुक्ल जी के विचार से काव्य की आत्मा है। अभिव्यंजना उसके साथ ही आनी चाहिए, अलग होकर नहीं। क्रोचे के

१ इन्दौर वाला भाषण पृ ५० तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७८८।

'अभिव्यञ्जनावाद' म भो कल्पना पर ही जोर मिलता है। इसी कारण उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण म उसका खण्डन किया है।

अन्य शिल्पकलाओं के समान हम काव्य को भी सुन्दर कहने लगते हैं। पर शुक्ल जी के विचार से काव्य के लिए सुन्दर शब्द इतने काम का नहीं जितना 'रमणीय'। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है[1] कि सुन्दर शब्द से अधिक 'रमणीय' शब्द काव्य के लिए उपयुक्त है इसी कारण पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के लक्षण म काव्य को रमणीय अर्थ का उत्पादक कहा है। रमणीय वह है जिसम मन रम सके और बार बार अपने सामने लाना चाहे। उसकी परीक्षा यह है कि आप काव्य-खण्ड को सुनकर कहते हैं, फिर कहिए। सुन्दर शब्द का सम्बन्ध चक्षु से विशेष है। रमणीय शब्द का हृदय से। इसलिये यह सुन्दर शब्द अभिव्यञ्जनावाद को प्रकट करता है। रमणीयता की ओर ध्यान रक्खें तो अभिव्यंजनावाद इस रूप में नहीं आ सकता है। सुन्दर, शब्द को काव्य में प्रयुक्त करने का कारण यह है कि सौन्दर्यशास्त्र म चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों के साथ साथ काव्य का भी विचार होने लगा जो कि उपयुक्त नहीं है। इस विषय म उनके शब्द ये हैं—

"सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसीलिये काव्य के स्वरूप की भावना धीरे धीरे बेल बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गयी। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं म नहीं की गयी है।"

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यंजनावाद जो केवल कल्पना पर ही अधिक बल देता है शुक्ल जी के विचार से काव्य की सम्पूर्ण विशेषता को अपना नहीं सकता है वह एकांगी है क्योंकि काव्य विधान में कल्पना का स्थान भावयोग म ही है। विभाव को चित्रित करने म और भाव को प्रकट करने म जो कल्पना काम करती है वही काव्य के लिए उपयुक्त है, हृदय की अनुभूति से दूर, स्वप्न और अप्रत्यक्ष का बेढंगा रूप सामने वाली नहीं और अभिव्यञ्जनावाद साध्य होकर कल्पना के इसी रूप को विकास देता है। अत शुक्ल जी के विचार से भावयोग के साथ स्वभावत आया हुआ अभिव्यक्ति कौशल ही आवश्यक है, उसके अतिरिक्त उक्ति विशेष के फेर म पड़कर अनोखी बातें कहने वाला अभिव्यंजनावाद नहीं।

---

१ इन्दौर वाला भाषण, पृ० २१ तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७८६।

छायावाद

छायावाद का कोमल, सक्रुतमय, प्रतीक एव चित्रभाषा से सम्पन्न स्वरूप हिन्दी क आधुनिक युगीन काव्य क तृतीय विकास का लक्षण है। छायावाद के सम्ब व में बहुत दिनों तक बड़ा मतभेद चलता रहा, परन्तु, शुक्लजी के इतिहास, काव्य म रहस्यवाद नामक लेख एव इन्दौर वाले भाषण में सन्निहित छायावाद-सम्ब धी विचारों ने अस्पष्टता का परदा फाड़ कर इस नवीनवाद की विवादहीन स्पष्ट व्याख्या की। छायावाद, रहस्यवाद का ही समानार्थी है या उससे भिन्न है, इस समस्या पर भी बहुत कुछ विचार प्रकट किये गये। जैसा कि आगे बताया जायगा, श्री जयशंकर प्रसाद के विचार से 'छायावाद' वक्रोक्ति या अभिव्यजना की आमामयी प्रणाली ही है।[1] किन्तु छायावाद का यह रूप वाद का रूप है, प्रारम्भ में यह रहस्यवादी उक्तियों से सम्पन्न कविता की प्रवृत्तियों के लिए आया है जिनमें कथन का कौशल सन्निहित है। आचाय प० रामचन्द्र शुक्ल ने दोनों स्वरूपों की व्याख्या छायावाद क अन्तगत की है।

छायावाद के प्रारम्भ की ओर सकत यद्यपि उन्होंने इस सम्ब ध वाले सभी लेखों में किया है पर उन्होंने अपने इन्दौर वाले भाषण में इसका इतिहास सा दे दिया है। उनका कहना है कि ईश्वर व आमास का रूप देने क लिए बातों को अन्योक्तियों एवं रूपकों द्वारा कहना पड़ता है, अत कबीर आदि रहस्यवादी सन्तों और योरप के रहस्यवादी कवियों की उक्तियों में विचित्र-रूपक जाल रहता है। ईसवी सन् ६०४ में प्रसिद्ध महात्मा सन्त 'प्रभरी' ने मूर्च्छोन्माद की दशा में होने वाले ईश्वर के समागम के लिए कहा है कि साधक ईश्वर का सोपाधिरूप देखता है। हमारे भीतर का कल्मष अन्धकार की भांति उस शुद्ध ज्योति को हमारे समक्ष तक नहीं आने देता। वह कुछ धुधले प्रकाश की भाँति दीखती है। बारहवीं शताब्दी क सन्त 'बर्नार्ड' ने 'हाल' की दशा में ईश्वरानुभूति के विषय में कहा है कि ईश्वर की ज्योति किरण की झलक को दूसरों के सम्मुख उपस्थिति करने के *लिए विचित्र लौकिक रूपकों का सहारा लेना पड़ता है। उस चकाचौंध पैदा करने वाली* ज्योति का व्यक्त करने वाले अनूठ विधानों का छाया दृश्य कह सकते हैं।[2]

इन छाया दृश्यों क विषय म शुक्ल जी का विचार है कि छाया दृश्य के लक्षणों का अनुकरण सभी मज़हबों क भीतर चले हुए भक्ति-रहस्य-मार्गों में पाया जाता है।

---

१ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध।

२ का यकला तथा अन्य निबन्ध, छायावाद और यथार्थवाद लेख।

सूफियों में इसी परम्परा का निवाह शराब, प्याले, आदि के रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक से हो गये हैं। निर्गुण पन्थ की बानियों में विशेषतः कबीरदास की बानी में जो वेदान्त, हठयोग आदि की साधारण बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पड़ जाती है वह भी इसी रूढ़ि का निवाह है। रहस्यवादी अँगरेज कवि 'ब्लेक' ने कल्पना द्वारा जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया उसका भी यही साम्प्रदायिक मूल है। इधर क्रोचे ने जो 'वाद' खड़ा किया है, वह भी इसी का आधुनिक वाग्विस्तार है।

ईसाई भक्ति मार्ग के इस छाया दृश्य (Phantasmata) वाले प्रवाद का प्रभाव योरप के काव्य-क्षेत्र में भी समय-समय पर प्रगट होता रहा। सन् १८८५ में फ्रांस के रहस्यात्मक प्रतीकवादियों ने कविता का जो ढंग पकड़ा था उसमें उक्त 'छायादृश्य' वाली धारणा का पूरा अनुसरण था। इसी से जब उक्त रहस्यवाद का ढंग ब्रह्मोसमाज के भजनों में दिखाई दिया तब पुराने ईसाई भक्तों के उसी छायादृश्य के अनुकरण के कारण उसी ढंग की रचनाओं को 'छायावाद' कहने लगे।

यह है हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में प्रचलित 'छायावाद' शब्द का मूल और इतिहास[1], किन्तु छायावाद एकदम एक नई लहर के रूप में नहीं आया, वरन् इसने एक उठती हुई प्रवृत्ति को प्रबल बना दिया। इसके पूर्व भी धार्मिक विषयों और मार्मिक वर्णन पद्धति की ओर हिन्दी कविता का झुकाव था। हाँ, व्यंजक शैली, कल्पना और संवेदना इतने प्रबल रूप में नहीं आई थी। अभिव्यंजना की व्यंजक प्रणाली धीरे धीरे विकसित हो रही थी, जिसे छायावाद ने द्रुतगति प्रदान की। छायावाद ने आते आते काव्य के उद्देश्य में अवश्य एक अन्तर डाल दिया, क्योंकि बहुत से कवि इसके आगमन के साथ रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु विन्यास की विशृङ्खलता चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चलने लगे।[2]

छायावाद में विभावपक्ष अस्पष्ट और अधूरा रहा जिसके कारण जीवन की गहरी अनुभूति जगाने में यह कविता अधिक समर्थ न हुई और उसके बाद भी इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप 'प्रगतिशीलता' का आन्दोलन, कविता को जीवन के समीप लाने और जीवन के तथ्यों की अभिव्यंजना करने के लिए चल पड़ा।

---

१ इन्दौरवाला भाषण, पृ ५८ तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ७८४।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ७८५।

ऊपर के विश्लेषण एवं रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रकट किये गये शुक्ल जी के विचारों से यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद या छायावाद की प्रवृत्ति का समावेश कविता में वे बाह्य प्रभावों द्वारा ही मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वान् इस प्रवृत्ति को भारतीय काव्य की शाश्वत् धारा के अन्तर्गत रखते हैं।[1] शुक्ल जी इसका विरोध करते हैं, वे साम्प्रदायिक एवं दार्शनिक विचार धारा को भारतीय काव्य धारा से भिन्न मानते हैं। उनका कथन है:—

"अज्ञय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रख कर कामवासना के शब्दों में प्रेम-व्यंजना भारतीय काव्यधारा में कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात 'हमारे यहाँ यह भी था वह भी था,' की पुकार करनेवालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद् से लेकर तंत्र और योगमार्ग तक की दौड़ लगाते हैं। उपनिषदों में आये हुये आत्मा के पूर्ण आनन्द-स्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानन्द की अपरिमेयता को समझाने के लिये स्त्री पुरुष सम्बन्ध वाले दृष्टान्त या उपमायें, योग के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीच ये बड़े सन्तोष के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिये कि जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मतमतान्तरों की साधना के क्षेत्र में रहस्यमार्ग नहीं चले? योगरहस्यमार्ग है, तंत्र रहस्यमार्ग है, रसायन भी रहस्यमार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं, प्रकृत भाव भूमि या काव्य भूमि के भीतर चले हुये मार्ग नहीं। भारतीय परम्परा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर तरह तरह के रंग महल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।"[2]

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी काव्य में रहस्यवाद की प्राचीन धारा नहीं मानते। उनका मत है काव्य में रहस्यवाद का समागम विदेशी प्रभाव के कारण है। अपने यहाँ रहस्यवाद काव्य से अलग रहा है।

छायावाद के इतिहास के पश्चात् छायावाद के स्वरूप के विषय में विचार करना चाहिये। आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो काव्य वस्तु को लक्ष्य करके रहस्यवाद के अर्थ में होता है जिसमें चित्रमयी भाषा में अज्ञात प्रियतम के प्रेम की व्यंजना की जाती है। इसे शुक्ल जी पुराने संतों या साधकों की तुरीयावस्था में कही गयी बानी का अनुकरण मानते हैं जिसमें आध्यात्मिक

---

1 देखिये जयशंकर प्रसाद के काव्यकला तथा और निबंध का रहस्यवाद पर लेख

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७८५, ७८६।

ज्ञान का अभाव रहता है।[1] जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस आध्यात्मिक ज्ञान को साधक लौकिक रूपकों में व्यक्त करते थे जिसे उस ज्ञान या अनुभव की छाया कहा जा सकता है और बंगाल में इसी अनुकरण पर जो गीत बने वे 'छायावादी' कहलाने लगे। हिन्दी से भी इनका सम्पर्क हुआ और इन छायावादी गीतों के अन्तर्गत पुराने संत कवि कबीर व जायसी के से रहस्यात्मक उद्‌गारों का भी समावेश हुआ। यह छायावाद का स्वरूप का वस्तु की दृष्टि से हुआ।

दूसरे अर्थ में इसका प्रयोग अभिव्यंजना की शैली के लिए हुआ जिसमें भाव प्रकाशन के लिए प्रतीकवाद का अवलम्ब लिया गया। इसीलिए दूसरे अर्थ में शुक्ल जी के शब्दों में "हिन्दी में छायावाद शब्द का, जो व्यापक अर्थ में रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ, वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी भी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।"[2] इसलिये प्रारम्भ में अधिकतर छायावाद शब्द के अन्तर्गत दोनों स्वरूपों का सन्निवेश था, पर धीरे धीरे रहस्यवादी रचनाएँ छायावादी रचनाओं से भिन्न समझी जाने लगीं।

रहस्यवाद काव्य वस्तु से सम्बन्ध रखता है और इसका परिगणन एक प्रवृत्ति-विशेष के ही अन्तर्गत होना ठीक है जैसे देश प्रेम आदि पर छायावाद, काव्य की एक शैली विशेष के रूप में आया। अतः इस शैली-विशेष या प्रणाली-विशेष के रूप में इसका विश्लेषण करना आवश्यक है। रीति, अलंकार या वक्रोक्ति सिद्धान्तों की भाँति इसकी व्याख्या या प्रतिपादन नहीं हुआ फिर भी छायावादी कविताओं में लगभग सभी भावों की व्यंजना ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व आदि दोषों का परिहार करके अब तक प्रचलित शैली से भिन्न ढंग पर हुई है। इसका प्रचलन विदेशी प्रभाव ही हो, ऐसी बात नहीं, खड़ी बोली को सुष्ठु रूप देने के प्रयत्न में भी इसका विकास प्रारम्भ हुआ था और बाह्य प्रभाव के अतिरिक्त दूसरा कारण देश प्रेम की भावनाओं के स्पष्ट कथन पर प्रतिबन्ध भी था। ऐसी दशा में सर्वव्यापी एवं साधारण भावों को भी ढंग से, संकेतमय, रूपकमय एवं लाक्षणिक शैली पर प्रकट करना पड़ा। इसी कोटि का दूसरा एक और कारण रहा। वर्तमान खड़ी बोली कविता ने अपने विकास के साथ साथ रीतिकालीन

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०६।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, ,, ८०७।

काव्य वस्तु का तिरस्कार किया, नायिका भेद एवं मानव-सौन्दर्य वर्णन के प्रति प्रतिक्रिया हुई। ऐसा होते हुए भी कवि समुदाय अपनी लेखनी को मानव सौन्दर्य-वर्णन से रोक न सका, अतः उसी प्रकार के भावों को घुमा फिरा कर कभी अन्योक्ति, कभी रूपक आदि के बहाने वर्णन किया गया। पन्त की 'छाया' और निराला की 'जुही की कली' की रचनायें लगभग रीतिकालीन ढंग पर ही हैं पर वर्णन है छायावादी। इस प्रकार भावों के सीधे प्रकाशन पर समाज या देश के अधिकारियों को आपत्ति होने के कारण इस प्रकार की शैली का विकास हुआ।

शुक्ल जी ने इस छायावादी शैली का विश्लेषण करते हुए लिखा है "पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा-शैली की दृष्टि से ही छाया वादी कहलाये।" इस विषय में उनका स्पष्ट विचार है कि चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अन्योक्ति पद्धति का अवलम्बन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा की भरमार के रूप में भी हुआ। इनमें से उपादान और लक्षण-लक्षणाओं को छोड़ और सब बातें किसी न किसी प्रकार की साम्य भावना के आधार पर ही खड़ी होने वाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलकृत रचनायें बहुत पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं अतः छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्य ग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ।[१]

साम्य के अन्तर्गत शुक्ल जी ने प्राचीन परिपाटी के विचार से सादृश्य (रूप या आकार का साम्य) साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्द साम्य को लिया है और उनका स्पष्ट मत है कि छायावाद, बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रख कर चला है।[२] और आभ्यन्तर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०७-८८।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, ,, ८८।

काव्य शैली की अपनी विशेषता है।[1] इस प्रकार शैली की दृष्टि से छायावाद में उत्कृष्ट काव्य शैली निखरी। जितनी अधिक लक्षणा का प्रयोग हम छायावादी कविता में मिलता है उतना शायद ही कुछ ब्रजभाषा कवियों की कविता में मिल सके। किन्तु लक्षणा का प्रयोग सर्वत्र प्रभाव साम्य पर न होकर उसके आरोप मात्र पर भी हुआ है। इसका कारण भी शुक्ल जी शहरी वादों का प्रभाव मानते हैं।[2] इस प्रकार काव्य शैली के रूप में आये छायावाद के अन्तर्गत भाव प्रकाशन की एक सुष्ठु प्रणाली विकसित हुई, पर उसका विषय अधिकांश प्रेम गीतात्मक ही रहा।

छायावाद की प्रशंसा एवं उसके कुछ दोषों का परिष्कार करने के विचार से शुक्ल जी ने लिखा है—"यहाँ पर यह सूचित कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि छायावाद के अन्तर्गत बहुत-सी रचनायें ऐसी हुई हैं, जिनमें अभिव्यंजनावाद के अज्ञात अनुकरण कारण बहुत सुन्दर लाक्षणिक चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। इसमें भावना का बहुत ही साहस पूर्ण संचालन, मूर्तमत्ता का बहुत ही आकर्षक विधान और व्यंजना की पूरी प्रगल्भता पाई जाती है। ऐसी रचना करने वाले कवियों से आगे चलकर कुछ आशा है। अपनी इस आशा की सफलता के लिये हम अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे दो तीन बातों का अनुरोध करते हैं। पहली बात तो यह है कि वे 'वाद' का साम्प्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओं सहित, प्रकृत काव्य भूमि पर आयें जिस पर संसार के बड़े बड़े कवि रहे हैं और हैं। दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिये वे बँगला, अंग्रेज़ी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिल्कुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें। तीसरी बात है, लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि जिस भाव से कोई शब्द लाया गया है उसके साथ वह ठीक ठीक बैठता है या नहीं।[3]

ऊपर की तीनों बातों पर ध्यान दिया जाता तो छायावाद का विकसित रूप हमारे काव्य का पथप्रदर्शन करता, पर इन्हीं बातों को छोड़, कल्पना और कला के

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०१।

२ छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप में पड़ता रहा है इससे बहुत सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामने आता है—हिन्दी सा० का इतिहास, पृ० ८१३

३ काव्य में रहस्यवाद पृ० ११६

फेर में पड़कर उसने जीवन की प्रकृत भूमि को छोड़ दिया और शैली एवं विषय दोनों की दृष्टि से एकांगी हो गया। लाक्षणिकता यहाँ तक बढ़ी कि दुरूह हो गयी यथार्थ भावों का यहाँ तक गोपन हुआ कि अनुभूति से अछूते रह गये।

छायावाद के प्रति शुक्ल जी के विचार यथार्थवादी हैं। छायावाद जिस प्रकार रहस्यवादी भाव के रूप में आया और काव्य शैली के रूप में परिणत हो गया उसको उन्होंने स्पष्ट प्रगट कर दिया है। अनेक भावों के फलस्वरूप छायावाद का स्वरूप प्रकट हुआ पर उसकी जड़ हिन्दी काव्य में अधिक गहराई तक न जा सकी। और प्रगतिवाद के रूप में भावमय, प्रभाव पूर्ण, प्रसादगुण-सम्पन्न रचनाओं की ओर छायावादी कवितायें पढ़ते पढ़ते लोगों की ललक जाग्रत हुई। यह सब होते हुए भी छायावाद की शैली को अधिक उपयोगी बना कर काव्य की स्वाभाविक शैली के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

ऊपर काव्यशास्त्र के अनेक विषयों पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का विश्लेषण रखा गया है जिससे हमें कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहला तो यह है कि शुक्ल जी रस सिद्धान्त को ही काव्य में सर्वोपरि समझते थे और काव्य को केवल मनोरंजन का साधन नहीं, वरन् लोक मंगल का मार्ग मानते थे। दूसरी बात यह है कि वे प्राचीन आचार्यों की चिन्तनप्रणाली एवं उनके द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों पर आस्था रखते थे, पर उनके साथ ही उसमें विकास के पक्षपाती भी थे। तीसरी बात यह है कि वे एक दम नवीन सिद्धान्तों को भी उदारता की दृष्टि से देखते थे, यदि वे यथार्थतः नवीनता लिये और सच्चे मार्ग पर चलने वाले हों। वे काव्य-परक साधना एवं स्पष्ट तथा प्रभावशाली कथन को महत्त्व देते थे। अन्त में भारतीय काव्यशास्त्र के विषय में उनके विचार उद्धृत कर इस प्रसंग को समाप्त किया जाता है। उनका कथन है—

"यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिये कि हमारे काव्य का हमारे साहित्यशास्त्र का, एक स्वतंत्र रूप है जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को, परख जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यालोचन-द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं।"[1]

---

१ काव्य में रहस्यवाद, पृ० १४।

आचाय श्यामसुन्दरदास

आचाय श्यामसुन्दरदास का महत्व काव्य शास्त्र के विविध अगों पर सामग्री प्रस्तुत करने में एवं एक ही विषय पर परिश्रमीय विद्वानों तथा भारतीय पण्डितों के विचार एकत्र करने में है। उनका 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ विद्यार्थियोपयोगी है और बड़े परिश्रम का परिणाम है पर प्राचीन या नवीन सिद्धान्तों को हिन्दी में स्पष्ट रूप से रखने की विशेषता को छोड़कर, उन्हें सद् या असद् सिद्ध करने या उन्हें विकास देने का प्रयत्न इसमें नहीं किया गया है। डा० श्यामसुन्दरदास ने इसका उल्लेख स्वयं ही अपनी पहले संस्करण की भूमिका में कर दिया है—

"मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने का यह रहा है कि भारतीय तथा योरपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसके तत्वों को लेकर इस रूप में सजा दूँ कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण-दोष की परख करने और साथ ही ग्रन्थ निर्माण या काव्य रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परन्तु सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिन्दी भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है।"

'साहित्यालोचन' में प्रत्येक विषय पर महत्वपूर्ण विचारों का एकत्र किया गया है, परन्तु उन विचारों की आलोचना, उनके गुण-दोष कथन का इसमें अभाव है। काव्य शास्त्र और आलोचना की प्रचुर एवं प्रामाणिक सामग्री का यह भाण्डार है और अपने क्षेत्र में बहुत समय तक हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों में से रहा है।

'साहित्यालोचन' में प्रत्येक प्रसंग पर वैज्ञानिक रीति से विचार का प्रयत्न किया गया है और विषय प्रतिपादन बहुत ही सुलझा हुआ है। इसमें विशेष महत्व की बात भारतीय तथा योरपीय सिद्धान्तों का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग है। ग्रन्थ स्वतः ही अलग अलग विषयों को लेकर लिखा गया है। इसलिये उनका परिचय देना व्यर्थ है। अतः इस अवसर पर विभिन्न विषयों पर भारतीय और योरपीय सिद्धान्तों के सामंजस्य रूप में जो कुछ भी नवीनता मिलती है उसका अध्ययन ही अधिक उपयुक्त होगा।

कला

कला के विषय में श्यामसुन्दरदास ने पाश्चात्य मतानुसार कहा है कि कला का सम्बन्ध नियमों से नहीं है, यह तो भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र है।[1] पाश्चात्य मत के अनुसार भावना, मनुष्य की मानसिक क्रिया के तीन रूपों में से एक है जिनके दो रूप ज्ञान और इच्छा, भारतीय मत के बुद्धि व्यापार की तीन प्रक्रियाओं में से दो हैं। तीसरी प्रक्रिया 'प्रयत्न' का मेल नहीं मिलता। आचार्य श्यामसुन्दर दास जी ने इसका निर्णय करते हुए लिखा है कि मनोविज्ञान के अनुसार ये शक्तियाँ एक अविच्छिन्न रूप से मिली हुई हैं और अलग नहीं की जा सकतीं। यद्यपि कला के मूल में भावना शक्ति का प्राधान्य है, पर भावना शक्ति का विश्लेषण करने पर उसमें भी ज्ञान और इच्छा की शक्तियाँ सन्निहित देख पड़ती हैं। भारतीय साहित्य और कलाओं के मूल में जो स्थायी भाव माने गए हैं वे केवल विह्वितों की विवेक-रहित भावनायें नहीं हैं, उनके साथ ज्ञान शक्ति का भी समन्वय है, इस प्रकार भावना को इच्छा के अन्तर्गत मानकर उन्होंने सिद्ध किया है कि इच्छा शक्ति का बहुत कुछ भावना पर नियंत्रण रहता है। कला का सम्बन्ध भावना से है। इस प्रसंग में उन्होंने भाव और भावना को समानार्थी माना है (जैसा कि साहित्यालोचन के पंचम आवृत्ति पृष्ठ ८ के फुट नोट से प्रकट है)।

आगे चलकर वे कला और प्रकृति के सम्बन्ध में बताते हैं कि कला और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाँति डा० श्यामसुन्दर दास का भी विश्वास है कि प्रकृति के प्रत्यक्ष अनुभव में भी रसानुभूति होती है जैसा कि उनके इस कथन से प्रकट है—'किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर कलाकार के हृदय में जो भावना जितनी तीव्रता के अथवा स्थायित्व के साथ उदय हो, यदि उतनी ही वास्तविकता और सच्चाई के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ हो तो उस अभिव्यक्ति से दर्शक, श्रोता अथवा पाठक समाज को भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है।'[2] पर उन्होंने संस्कृत आचार्यों की विवेचना पर इस प्रसंग में प्रकाश नहीं डाला कि पहले जो प्रत्यक्ष अनुभव हो चुकता है उसकी अभिव्यक्ति में आनन्द छिपा रहता है और उस अनुभव को जाग्रत करने वाले जो व्यापार होते हैं उनमें भी आनन्द प्रदान की शक्ति छिपी रहती है। प्रत्यक्ष अनुभव का आनन्द, इन्द्रियजन्य अनुभव है जो काव्यगत मानसिक आनन्द से भिन्न कोटि का है।

---

१ साहित्यालोचन, परिवर्द्धित संस्करण पृ० ३।

२. साहित्यालोचन, परिवर्द्धित संस्करण पृ० ६।

कला और आचार के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि कला की कृतियाँ सभ्यता और शिष्टता के विकास के साथ साथ अपने सौष्ठव की वृद्धि प्राप्त करती हैं। कला के सम्बन्ध में फ्रायड के स्वप्नवाद, यथार्थवाद और कलावाद आदि पर भी उन्होंने विचार किया है और यह बात मान्य है कि भारतीय सिद्धान्त इस विषय पर अधिक गहरे हैं। कला को लेकर इन वादों पर विचार हमारे शास्त्रों में नहीं हुआ है, क्योंकि कला के लिये सम्पूर्ण जीवन ही, रहस्यभरा विश्व ही, क्षेत्र है, स्वप्नवाद की भाँति कोई एक प्रवृत्ति के सहारे इसका विश्लेषण करना संकीर्ण प्रयास है। कला कला के लिए है और आचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसकी पुष्टि हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी होती है। यह बात विचारणीय है कि कला-सम्बन्धी शास्त्र, आचार सम्बन्धी शास्त्रों से भिन्न होने का अर्थ यही है कि दोनों का विचार अलग अलग पृथकता के साथ किया गया है। उनका यह तात्पर्य नहीं है कि कला का आचार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

कला और प्रकृति का सम्बन्ध बताते हुए आचार्य श्यामसुन्दरदास जी ने लिखा है — "प्रकृति की ओर मनुष्य निसर्गतः आकृष्ट होता रहता है क्योंकि उससे उसकी वासनाओं की तृप्ति होती है। इस नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य, प्रकृति के उन चित्रों को अपने दुःख के रस से सिक्त कर अभिव्यंजित करता है और वे भिन्न भिन्न कलाओं के रूप में प्रकट हो मानव हृदय को रसाप्लावित करते हैं"[1] यहाँ पर कला और प्रकृति के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि प्रकृति की ओर स्वभावतः मनुष्य आकृष्ट होता है, या जीवन में उसका इतना साहचर्य है कि कलाओं में उसका आना आवश्यक है। यथार्थ में प्रकृति, मानव जीवन के आसपास रहने वाली आवश्यक, निर्दोष, मूक किन्तु स्थायी वस्तु है। जीवन के यथार्थ वर्णन की कुछ ही बातें ऐसी होंगी जिनमें प्रकृति एक अंग बनकर न आयी हो। ग्राम, वृक्ष नक्षत्र, बादल, आकाश, पक्षी, लता, कीट, नदी, पर्वत निर्झर, उपत्यका पथ, फूल, फल आदि के रूप में मूक भाव से प्रकृति मनुष्य जीवन के साथ है। अतः कला यदि मनुष्य जीवन का वर्णन करती है तो प्रकृति उसके साथ अवश्य आयगी। प्रकृति से वासनाओं की तृप्ति होती है इसे हम इसी रूप में मान सकते हैं कि चिर सहचर, प्राकृतिक दृश्य हमारे सामने कलाओं के रूप में आकर संस्कार के रूप में उपस्थित वासनाओं को उकसाते हैं। इसी कारण से प्राचीन काव्यों में प्रकृति के जितने विस्तृत वर्णन प्राप्त होते हैं, आजकल के काव्यों में

---

१ साहित्यालोचन, छठी आवृत्ति, पृ० ७।

उतने नहीं क्योंकि हमारा साहचर्य स्वच्छन्द प्रकृति से कम रह गया है। अपनी ही निर्मित वस्तुओं से अधिक है जिनको भी हम काव्य में स्थान देने लगे हैं।

कला को प्रकृति की अभिव्यंजना बताते हुए आचार्य श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि यद्यपि कला को प्रकृति की अभिव्यंजना ही कहा जाता है तथापि भारतीय विद्वान् प्राकृतिक आनन्द और काव्यानन्द में वही भेद मानते हैं जो शरीर और आत्मा में है। यह कथन भी विचारणीय है। इसमें यथार्थत दो विचार देखने को मिलते हैं जिनका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हुआ। प्राकृतिक आनन्द क्या है और काव्यानन्द क्या है, इस विषय पर आचार्य ने आगे विचार किया है। प्राकृतिक आनन्द का अर्थ है इन्द्रियों-द्वारा भोगा हुआ आनन्द, और काव्य का आनन्द इन्द्रियों-द्वारा नहीं, वरन् अन्तःकरण के द्वारा प्राप्त आनन्द है। अत काव्य, प्रकृति की अभिव्यंजना होते हुये भी अन्तःकरण को मानसिक आनन्द दे सकता है। आनन्द देने का व्यापार अभिव्यंजना की शक्ति पर निर्भर करता है। इस बात का संकेत इसी प्रसंग में आगे चलकर उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में किया है।

"भारत के दार्शनिक और काव्यज्ञ मन और अन्तःकरण को ही सुख दुःख का कारण मानते हैं। इसी से वे साधारण इन्द्रिय जन्य प्राकृतिक अनुभव से मानसिक अनुभव और स्वधर्मरूप काव्यानन्द को बहुत भिन्न मानते हैं। भारतीय मत के अनुसार आनन्द आत्मा का गुण है। उस आत्मानन्द की तुलना भला स्थूल इन्द्रिय-सुख से कैसे की जा सकती है!"[1]

कला के वर्गीकरण के सम्बन्ध में आचार्य डॉ श्यामसुन्दर दास ने यह स्वीकार किया है कि कलाओं के वर्गीकरण का कोई भी आभ्यन्तर आधार नहीं है और क्रोचे के विचार से कि कला एक अखंड अभिव्यक्ति है वे सहमत हैं। उसका जो भी वर्गीकरण सम्भव हो सकता है वह व्यवहारिक सुविधा के लिए बाह्य रूप का वर्गीकरण होगा। इस दृष्टि से वर्गीकरणों के अनेक आधारों का विवेचन डॉ दास ने किया है और अपना इस व्यवहारिक वर्गीकरण पर विश्वास प्रकट करते हुए लिखा है कि हमारे विचार में कलाओं का वर्गीकरण असम्भव नहीं है, वरन् बहुत कुछ क्रम तथा नियमपूर्वक यह वर्गीकरण किया जा सकता है। जो वर्गीकरण उन्होंने दिया है वह प्रचलित है। उपयोगी और ललित कलाओं के रूप में कला का वर्गीकरण यद्यपि वैज्ञानिक नहीं, क्योंकि जिन्हें हम उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत लाते हैं उनमें भी लालित्य है और जिन्हें हम ललित कलायें कहते हैं

---

१ 'साहित्यालोचन', छठी आवृत्ति, पृ० ८।

उनमें भी उपयोगिता होती है फिर भी उपयोगिता या लालित्य में से जिस बात की प्रधानता रहती है उसी दृष्टि से हम उसका नामकरण करते हैं। वैसे तो ललित कलाओं में भी उपयोगिता और उपयोगी कलाओं म भी लालित्य, कला के इस स्वरूप को स्पष्ट कर देता है कि कला में सौंदय या लालित्य एवं उपयोगिता दोनों ही विशेषतायें होनी स्वाभाविक हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि जो उपयोगी वस्तु हो वह सुन्दर ही हो परन्तु जब हम उपयोगी कला का विचार करते हैं तब उसमें सौंदर्य का किसी न किसी अंश में समावेश हो जाता है।

यहाँ पर हम यदि कुछ देर 'कला' शब्द के प्रयोग और अर्थ पर विचार कर लें तो कदाचित् यह वर्गीकरण और भी ठीक तरह समझ म आ जाय। 'क्रोचे' आदि दार्शनिकों ने इसको जिस रूप में लिया है उसे छोड़ दीजिये। यह देखिये कि यथार्थ और व्यावहारिक जीवन में कला किस अर्थ में प्रयुक्त होती है। लोग कहते हैं—'अमुक व्यक्ति चोरी की कला म बढ़ा चढ़ा है' 'यह तो बात बनाने की कला खूब जानता है', इन वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि 'कला' का अर्थ है विशेष दक्षता, सराहनीय कौशल। अब साधारण अर्थ में कला ऐसी भी हो सकती है जो न उपयोगी हो और न ललित। चोरी की कला न उपयोगी है और न ललित। पर ऐसे अभ्यासों को विद्वानों ने कला नहीं कहा है। उसे व्यसन, या दुर्व्यसन की संज्ञा देकर सामाजिक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर ही कलाओं का स्वरूप निश्चय किया गया है। अत व्यवहार की दृष्टि से हम जो कलाओं के उपयोगी और ललित वर्ग कहते हैं, वे शुद्ध वैज्ञानिक नहीं हैं।

ललित कलाओं के पाँच वर्ग किये गये हैं—वास्तु मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। और ललित कलाओं के विषय में यह बात उन्होंने मानी है कि ललित कला वह वस्तु या कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ करती हैं। काव्य को आँखों से देखकर पढ़ते हैं पर आँखें देखकर जिस रूप का ज्ञान करती हैं, अर्थ-द्वारा उत्पन्न अनुभव, उससे सर्वथा भिन्न है। उसका अनुभव मन करता है अतः यह कथन ठीक है।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो मत हैं, कला कला के लिये और कला जीवन के लिये। यथार्थ में कला कला के लिये बौद्धिक चिन्तन की रिक्तता को स्पष्ट करता है, यदि कला, कलाकार को और जैसा कि कला का उद्देश्य है श्रोता, दर्शक या पाठक को, आनन्द प्रदान कर सकी तो उसका उद्देश्य जीवन के लिये बन चुका, क्योंकि आनन्द प्राप्त करना जीवन का स्वयं सबसे व्यापक उद्देश्य है। इस प्रकार कला सदैव

जीवन के लिए ही होती है। आचार्य डॉ० श्यामसुन्दरदास का भी यही मत है कि कला अपने यथार्थ और सत्स्वरूप में सदैव जीवन के लिये ही होती है।[1] और यही सिद्धान्त भारतीय विचारकों की दृष्टि से भी समीचीन है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्य कला को संगीत और चित्रकला से भिन्न माना है, उसका सब से बड़ा कारण यह है कि काव्य में संगीत और चित्र दोनों का ही आनन्द रहता है। काव्य का आनन्द क्षण क्षण में नवीन रहता है, चित्रकला का प्रभाव एकरसता लिये रहता है। यद्यपि चित्र हमारे ऊपर एक साथ प्रभाव डालते हैं और वर्णन की भाँति कोई एक क्रम से एक एक अंग सामने नहीं लाते, पर काव्य को अपने दिये शब्द की पृष्ठभूमि मिलती है और भाव को सूक्ष्मता की ओर संकेत रहता है प्रत्येक वस्तु का पूर्ण प्रकाशन रहता है जो कि चित्र में नहीं। हाँ चित्र भी कहानी की सहायता लेकर चलते हैं और इस प्रकार यदि काव्य का सहारा लेकर चित्रकला चलती है तो अधिक सूक्ष्मता और प्रचुर प्रभाव को प्राप्त करती जाती है।

'साहित्यालोचन' के दूसरे अध्याय में आचार्य ने व्यापक दृष्टि से साहित्य का विवेचन किया है। हमारे यहाँ कुछ विद्वानों ने काव्य का कला के अन्तर्गत नहीं माना[2] क्योंकि अन्य कलाओं के समान काव्य की दक्षता अभ्यास से नहीं आती। यदि ऐसा होता तो आज के युग में जैसे चित्रकला, संगीत कला आदि के बड़े बड़े विद्यालय हैं वैसे ही काव्य रचना सिखाने वाले भी बड़े बड़े विद्यालय होते। जो विद्यालय हैं वे हमें काव्य और साहित्य का समझना, उसका आनन्द उठाना, उसका गुण-दोष देखना ही बताते हैं उसकी रचना कला नहीं बताते। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तात्विक विचार से काव्य, कलाओं से भिन्न है।

मूर्तिरचना, चित्रांकन, संगीत तथा कविता की प्रणालियाँ प्राचीन काल की भाँति आज भी प्रचलित हैं और सभ्य देशों में इनका लगभग साथ साथ विकास देखा जाता है। इतिहास के साक्षी, इनके आधार पर प्राचीन सभ्यताओं की विशेषताओं का पता लगाते हैं। इन बातों के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कहा है —

---

१ देखिये 'साहित्यालोचन, छठी आवृत्ति, पृ २४।

२ देखिए शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'प्रसाद' जी का 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध'।

"ऐसी अवस्था में यह भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता कि साहित्य कला किसी अन्य कला से तत्वतः भिन्न अथवा पृथक् है। साहित्य की उत्पत्ति और विकास भी उसी प्रकार से हुआ है जिस प्रकार अन्य कलाओं का हुआ है।[१]"

यहाँ पर यह कहना अधिक उचित था कि बाह्य रूप से साहित्य-कला और कलाओं से भिन्न नहीं है, क्योंकि आचार्य का यह विश्वास अवश्य है कि अन्य कलायें अभ्यास से आ जाती हैं, नियमों को समझने से आ जाती है, पर काव्य कोरे अभ्यास से नहीं आता। इस बात का स्पष्टीकरण नीचे लिखे उनके वाक्यों से हो जाता है —

"नियम निर्धारण के लिये साहित्य शास्त्र की रचना उचित नहीं जान पड़ती, और न स्वाभाविक ही है। साहित्य की वेगवती सरिता नियमों की अवहेलना कर स्वच्छंदता पूर्वक बहने में ही प्रसन्न रहती है। साहित्य सम्बन्धी शास्त्रकार को अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए।[२]" इससे यह स्पष्ट है काव्य अन्य कलाओं से तत्वतः भिन्न है उसका उनसे केवल बाह्य साम्य है यह बात डॉ० श्यामसुन्दर दास मानते हैं। संगीत शास्त्री संगीत-सृष्टि में दक्ष होता है, चित्रकला विशारद, सुन्दर चित्र-रचना कर सकता है, पर काव्यशास्त्री के लिए यह कदापि निश्चित नहीं कि वह कुछ भी काव्य रचना कर सकेगा या नहीं। इसलिए भारतीय दृष्टि से ६४ कलाओं के अन्तर्गत काव्य नहीं वरन् 'समस्या-पूर्ति' रखा गया है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने पाश्चात्य मत का निरूपण किया है और उनके विचार से 'कला' का अर्थ आनन्दमयी अभिव्यक्ति है दक्षता या कुशलता जो अभ्यास से आती है नहीं है और उस दृष्टि से काव्य 'ललित', कला के अन्तर्गत नहीं आ पायेगी। हाँ, यदि हम प्रत्येक कला के विद्यांश और कलांश को अलग कर लें तो ये सब विद्यायें हो सकती हैं जिसका कुछ या अधिकांश भाग हम अभ्यास द्वारा प्राप्त कर सकते हैं जिसे हम कला कह सकते हैं। किन्तु आजकल विद्या और कला के भी अर्थों में अधिक अन्तर नहीं रह गया। इसलिए काव्य को हम कला के अन्तर्गत न लाय तो ही अच्छा है।

साहित्यालोचन के सम्बन्ध में आचार्य डॉ० श्यामसुन्दर दास का यह मत सर्वमान्य है कि इसके अन्तर्गत व्यक्ति मत निरूपण को सदैव दूर रखते हुए साहित्य के स्वभाव का निरूपण हमारा लक्ष्य होना चाहिए।[३] साहित्य के स्वरूप के विषय में उनका स्पष्ट

---

१ 'साहित्यलोचन', छठी आवृत्ति पृष्ठ ३१।
२ 'साहित्यालोचन' ,, ३२।
३ ,, , ३२।

मत है कि साहित्य, सृष्टि चक्र और जीवन की विविधता को लेकर ही अपना महत्व प्राप्त करता है। आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं, प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है इस भिन्नता और विशेषता का चित्रण साहित्य का ध्येय है। विविधता को अपने में समाविष्ट करके ही साहित्य, साहित्य की सत्ता प्राप्त करता है।

प्रायः इस विषय में भी मत-भेद रहता है कि काव्यानन्द का क्या स्वरूप है। काव्य के आनन्द को रस के नाम से निरूपण किया गया है। यह रस, ब्रह्मानन्द सहोदर या अलौकिक कहा गया है। अलौकिक का क्या अर्थ है और रस किस अर्थ में अलौकिक है, ये विचारणीय प्रश्न हैं। 'क्रोचे' के विचार से भी काव्य आध्यात्मिक प्रक्रिया है। किन्तु विद्वानों के द्वारा इसका इस रूप में खंडन किया गया है कि यदि अलौकिक आनन्द रस है तो इसका अर्थ यह हुआ कि लोक में हमें वैसा आनन्द नहीं मिलता, परलोक में ही मिलता है। पर काव्य की कोटि का आनन्द लोक जीवन के बीच में भी प्राप्त होता है। प्राकृतिक दृश्यों को देखने में, किसी निष्ठुर को किसी निरपराध व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार करते में, तथा अन्य इन समयों पर जो अनुभूति होती है वह काव्यानुभूति से मिलती जुलती है। अतः इसे अलौकिक क्यों कहा जाय ?

इनका समाधान आचार्य दास ने बड़ी सुन्दरता से किया है। अलौकिक का अर्थ है, इन्द्रियों के आनन्द से भिन्न आनन्द। उन्होंने अलौकिक का अर्थ संवेदनजन्य, मानसिक और सूक्ष्म लिया है। वह उस आनन्द से भिन्न है जिसमें इन्द्रिय सुख ही या उसका प्राधान्य रहता है। इसमें कल्पना के योग से अनुभूति होती है और व्यक्तिगत भौतिक चेतना तिरोहित हो जाती है। इस आनन्द में बड़ी आत्मविभोरता की विचित्र अवस्था होती है इसी कारण से इसको अलौकिक कहा गया है। इस आनन्द में लोक का सम्बन्ध पूर्व लौकिक अनुभव और वासना के रूप में रहता है पर यह अनुभूति, कल्पना की अवस्था में होती है। तत्कालीन लोक अनुभव नितांत विस्मृत रहता है। हमारी रसानुभूति लौकिक अनुभव पर ही आधारित रहती है। पर सभी प्रकार के अनुभव, रस उत्पन्न नहीं करते हैं। लौकिक अनुभवों को, षट्रस आदि के आनन्द को भी रसास्वाद कहते हैं इसे मनु ने 'साहित्य' की संज्ञा दी है कि "नाति सौहित्यमाचरेत" अतः यह मानसिक अनुभूति जिसमें सभी इन्द्रियाँ तन्मय होती हैं, इन्द्रियजन्य आस्वादों से भिन्न है, और इसी को साहित्य में रस कहते हैं।

जाता है कि भावुकता क साथ कल्पना का लगाव रहता है। साहित्य या काव्य के लिए यही भाव-जगत् ही महत्व का है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्य के उपकरणों में सौंदर्य, रमणीयार्थ, अलकार और रस तथा भाषा को माना है। सौन्दर्य, रमणीयार्थ को अपने अन्तगत ले लेता है अथवा यों कहें कि काव्यगत सौंदर्य, रमणीयार्थ ही के रूप म होता है। यदि रमणीयार्थ क अतिरिक्त सौन्दर्य है तो वह सगीत का है और केवल सगीत का। अलकार एवं गुण इसी रमणीयार्थ के उपकरण हैं। भाषा काव्य का आवश्यक अंग है। अत काव्य के उपकरण के रूप में हम शब्द और अलकार को मान सकते हैं। कवि की दृष्टि से भाषा, भाव, एवं कल्पना अनिवार्य काव्य सामग्री हो सकती है।

'काव्य का सत्य' नामक प्रसग म आचार्य श्यामसुन्दर ने सभी कलाओं की भाँति काव्य के सत्य को भी असाधारण बताया है, क्योंकि वह प्राय सभी के अपने अनुभवों से कुछ भिन्न होता है, यदि ऐसा न हो तो कवि में नवीनता, मौलिकता एव रोचकता का अभाव रहे। अत कवि वस्तुजगत और कल्पना जगत की अनोखी अनारी बातों का वर्णन करता है। प्रत्येक वस्तु का जो वह कल्पना के सहारे एक मनोहारी रूप उपस्थित करता है, वही रूप सामान्य सत्य नहीं होता, वरन् उसे असाधारण सत्य के रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि उस वस्तु का यथार्थ रूप सबकी दृष्टि में उतना मनोहारी नहीं है। परन्तु इस प्रकार कल्पना-द्वारा दिया गया रूप सदैव सामान्य सत्य एव वास्तविकता क ही आधार पर टिक सकता है, वास्तविकता-विहीन केवल काल्पनिक रूप प्रभावहीन ही होता है। कभी कभी वर्णन ऐसा होता है कि जो हम स्थूल दृष्टि से आश्चर्यमय जान पड़ता है, पर भावों पर प्रभाव डालने के लिए उस रूप म वर्णन ही आवश्यक होता है। जैसे मन की गति, पैरों की गति से तेज होती है वैसे ही कल्पना का मापदण्ड भी साधारण स्थूल दृष्टि के मापदण्ड से सूक्ष्म और ऊंचा होता है, इसी कारण हम कल्पना के ठहराव के लिए वर्णनों में अतिशयोक्ति अथवा अत्युक्ति को स्थान देते हैं।

काव्य चाहे जिस प्रकार का हो, वह जितना ही लोकमंगल से प्रेरित होगा उतना ही ऊँचा और महत्त्व का होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य में धार्मिक उपदेश हो। उद्देश्ययुक्त सबल और प्रभावपूर्ण लौकिक जीवन के चित्र एव आदर्श स्वरूप सदैव काव्य के उत्तम विषय रहे हैं और ऐसे ही कवि विश्वव्यापी ख्याति भी प्राप्त कर चुके हैं। हमें यह देखना है कि स्वान्त सुखाय, या कलावाद को लेकर रचा गया काव्य कहाँ

तक सफल और लोक कल्याण से दूर रहकर ही प्रभावपूर्ण हो सकता है। सत्य बात तो यह है कि स्वान्त सुखाय भी यदि काव्य होगा, तो भी उसमें परान्त सुखाय की मात्रा होगी, क्योंकि अनेक विभिन्नताओं के होने पर भी मनुष्य के अनेक सामान्य गुण एवं भावनायें मानव जाति को एक सूत्र में बाँधती हैं। कला का तात्पर्य है प्रभाव-सम्पन्न अभिव्यक्ति और प्रभाव की सार्थकता ही है सत्प्रेरणा। अत काव्य के उद्देश्य रूप में लोक जीवन की हितैषणा स्वयं सिद्ध ही है।

इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि किसी भी लेखक या कवि की कृतियों की आलोचना या उनका रसास्वादन पूर्ण सहानुभूति के बिना नहीं प्राप्त हो सकता। अत हमें सबसे प्रथम श्रद्धा और सहानुभूतिपूर्वक लेखक के व्यक्तित्व से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण उसके जीवनचरित-सम्बन्धी ज्ञान और उसकी रचना शैली के द्वारा हो सकता है, पर पूर्ण प्रतिभा का परिचय पाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम किसी भी कवि या लेखक के एकाध ग्रन्थ पढ़ कर ही सन्तुष्ट न हो जायँ। प्रयत्न यह करना चाहिये कि हम उसके सभी ग्रन्थों का अध्ययन करें और तब अपनी उस कवि या लेखक सम्बन्धी धारणा दृढ़ करें। काव्यरसिकों के रसास्वादन के लिये तो जिन बातों का ध्यान रखना है वे हैं तुलनात्मक अध्ययन एवं समयानुसार विकासक्रम,[१] क्योंकि इनके द्वारा ही लेखक की प्रतिभा की जाँच होती है और उसकी महत्ता स्पष्ट हो सकती है। तुलना के द्वारा हम अन्य लेखकों तथा अन्य कवियों के पैमाने पर उसे नापते हैं और समयानुसार विकासक्रम के द्वारा हम उसे नवीन अथवा प्राचीन परम्परा में स्थान दे सकते हैं। इसलिए हमें किसी लेखक या कवि की प्रतिभा का परिचय पाने के लिए उसके जीवन चरित, शैली, ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन और समय से सम्बन्ध आदि बातों का ध्यान रखना पड़ेगा।

कविता

'कविता का विवेचन' नामक चौथे अध्याय में आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पद्य काव्य का विवेचन किया है। काव्य के अन्तर्गत जहाँ पर सभी प्रकार की रसमयी, रमणीय रचना का समावेश हो जाता है, वहाँ कविता भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। पर कविता के अन्तर्गत केवल पद्य का व रहता है। डॉ० दास का कथन है काव्य का गद्य और पद्य की कोटियों में विभाजन किसी तात्त्विक आधार पर नहीं है और यह विभाजन

१ 'साहित्यालोचन' ६ठी आवृत्ति, पृष्ठ ८२,८३।

केवल व्यवहार की दृष्टि से है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है —"यद्यपि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद्य से कम नहीं हैं और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत् भासित होती है, तथापि पद्य में संगीत-कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी देख पड़ती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है"[१]। काव्य के पद्य क्षेत्र में सीमित न होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि छन्दबद्ध काव्य और गद्य काव्य में बड़ा अन्तर होता है जब हम पद्य में कवित्वहीन तुकबन्दी प्राप्त कर, खेद करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता कि छन्द काव्य का केवल अनिवार्य अंग है यह उसका एक अंग है। और काव्य के अन्य उपकरणों से युक्त होकर यदि वह छन्दों से भी सम्पन्न है तभी उसे 'कविता' का नाम देना चाहिये, अन्यथा नहीं। यह बात अनुभव द्वारा निश्चित करने की है कि गद्य बिना कथानक के उतना प्रभावकारी नहीं होता जितनी कविता, गद्य में कविता की कल्पना और भावना कम शोभा देती है, जब कि कथानक, वस्तु वर्णन, विवेचन आदि गद्य में ही अधिक प्रभावकारी होते हैं। यदि हम उपमा से काम लें तो हम कह सकते हैं कि पद्य यदि नृत्य की गति है तो गद्य साधारण चाल। दोनों में भाव होते हैं पर दोनों का कलात्मक महत्व भिन्न भिन्न है। नृत्य का आकर्षण और प्रभाव नित्यप्रति की सामान्य चाल को नहीं मिल सकता। इसका प्रयोग द्वारा निर्णय हो सकता है। यदि कविता गद्य में और गद्य काव्य पद्य में रख हम देखें तो पता चलेगा कि कौन सा ढंग कविता के लिये सुन्दरतर है।

कविता के विषय में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं जिन पर आचार्य दास ने विचार किया है और ये दोनों ही अंशतः सत्य हैं। प्रथम तो यह है कि कविता का सभ्यता के साथ साथ ह्रास होता जाता है और दूसरा यह कि कविता असाधारण परिस्थिति की उपज है और गद्य, हमारी दैनिक सामाजिक परिस्थितियों के साथ चलता, अतः कविता स्वभाव से ही यथार्थ से कुछ दूर आदर्श पर है। पहले सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि हम सभ्यता के विकास के साथ साथ कविता का ह्रास देखते हैं, पर वह फिर ही और कारणों से।[२] इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कविता का सम्बन्ध

१ 'साहित्यालोचन' ६ठी आवृत्ति पृष्ठ ८७।

२ देखिये प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार और उनका विवेचन।

ही अव्यवस्थावस्था से है । इसके मूल में राजनीतिक और सामाजिक कारण पड़ते हैं और कविता के आनन्द का समाज में ह्रास हो जाने का अर्थ यह भी है कि समाज ने अपने आनन्द को खो दिया । हम कह सकते हैं कि मनुष्य आनन्द के पीछे उतना नहीं जितना धालस्या के पीछे पड़ा हुआ है। वह वर्तमान को आनन्दमय कम बनाता है, भविष्य को अपने वश में रखने के लिए विशेष प्रयत्नशील है । ऐसी दशा में किसे अवकाश है कि कविता का अलौकिक आनन्द प्राप्त कर ले । वह तो सुविधा, निद्वन्द्वता का आनन्द है, जो कवि की प्रतिष्ठा करने पर प्राप्त हो सकता है ।

दूसरे सिद्धांत का अर्थ यह नहीं है कि समाज से कविता आदर्शवादिनी होने के कारण दूर है, वरन् उसका जोर इस बात पर है कि आदर्श की सृष्टि करने के कारण उसके भीतर कल्पना और नूतन उद्भावना का क्षेत्र खुला है । पर वह कल्पना मय चित्रण हमारे हृदय में जिस आधार पर भाव उकसा सकेगा, वह आधार हमारा यथार्थवाद का ही है अतः कविता में सामाजिक जीवन के अनुभव के साथ आदर्श और कल्पना दोनों का व्यापार चलता है उसका ध्येय यथार्थ पर उगा हुआ आदर्श सींचना है ।

कविता के भावपक्ष और कलापक्ष दो पहलू हैं । भावपक्ष पर विचार करने का क्षेत्र आचार्य श्यामसुन्दर दास के विचार से दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र आदि में है । इस पक्ष में मानव-समाज की व्यापक अनुभूतियाँ ही कविता का अक्षयभंडार है, परन्तु इन भावों की अभिव्यक्ति की शैली कविता के कलापक्ष से सम्बन्ध रखती है । कला के अन्तर्गत गुण, दोष अलंकार आदि हैं । इसी प्रसंग में उन्होंने इस बात को भी समझाने का प्रयत्न किया है कि काव्य का आनन्द किस बात में है और अभिनय देखने और कविता पढ़ने या सुनने की अनुभूति में क्या अन्तर रहता है ।

पश्चिमीय विद्वानों ने अभिनय का कारण सत्य या यथार्थ जीवन की अनुकृति को माना है, पर आनन्द वस्तुतः अनुकृति में नहीं, यथार्थ कृति में ही मिलता है। काव्य या नाटकाभिनय के माध्यम से जो अनुभूति हमें प्राप्त होती है उसका आनन्द का रहस्य है जीवन का चित्रण । कवि के अनुभवों के बीच जब हम स्वयं अपने को पाते हैं तभी हमें यह अनुभूति होती है । यदि हम उसे अनुकृति समझते हैं तो यथार्थ आनन्द से वंचित रह जाते हैं । वह चाहे हो अनुकृति ही पर अनुकृति का तत्वज्ञान आनन्द को नहीं देता आनन्द तो जीवन की यथार्थता का अनुभव करने से प्राप्त होता है । अभिनीत और पठित काव्यों की अनुभूति में केवल उसकी प्रक्रिया का ही अन्तर है । अभिनय देखने

वाला अपने सामने विभाव, अनुभाव आदि प्रत्यक्ष देखकर, उनके मिथ्यात्व की सत्य कल्पना करता और पाठक विभाव, अनुभाव आदि का स्वरूप केवल अपनी कल्पना के बल पर ही खड़ा कर लेता है। एक में कल्पना एक प्रत्यक्ष दृश्य को सत्य मानती है, और दूसरी में हम स्मृति और कल्पना के सहारे वर्णित वस्तु का साक्षात्कार करते हैं अतः दोनों में अनुभूति की तीव्रता का अन्तर हो सकता है, कोटि का नहीं। काव्य और कला-कृतियों की सफलता इसी बात में जाँची जा सकती है कि वे वास्तविक रूप को ग्रहण कराने में समर्थ हों।

भाव पक्ष और कला पक्ष के सम्बन्ध के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये दोनों अलग-अलग पक्ष नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तु को देखने के लिये दो दृष्टिकोण हैं जहाँ पूर्ण सफलता है वहाँ दोनों ही समत्व हैं, ऐसा आचार्य श्यामसुन्दर दास ने 'क्रोचे' के विचार और महापात्र विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक काव्य' के सिद्धांत द्वारा ही सिद्ध किया है। भारतीय पद्धति के विचार से कविता का स्वरूप आँकने पर डॉ॰ श्याम सुन्दरदास मम्मट के काव्य प्रकाश में दी हुई कविता की परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' को सबसे व्यापक परिभाषा मानते हैं क्योंकि 'वाक्य रसात्मक काव्य' और 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यं' दोनों परिभाषाओं में उत्तम काव्य का ही लक्षण है। चित्रकाव्य को कोई भी परिभाषा अपने में समेट नहीं पाती, पर मम्मट की परिभाषा के अन्तर्गत यह भी आ जाता है। उनके विचार से यद्यपि ध्वनि, उत्तम काव्य पर चित्रकाव्य अधम ही सही, काव्य है अवश्य, और इस प्रकार प्राचीन परम्परा से माने जानेवाले चित्रकाव्य का भी काव्य-क्षेत्र से निष्कासन नहीं होता। फिर इसके साथ साथ शब्द अर्थ का महत्व देकर, वाचक, लक्षक, व्यंजक शब्द उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ तथा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ भी काव्य विवेचन के अन्तर्गत आ जाती हैं। इसलिये उनका दृष्टिकोण सबसे व्यापक है। यद्यपि हम पहले देख चुके हैं कि यह मत सर्वमान्य नहीं है।[१]

जैसा कि इस प्रसंग के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि छंद शास्त्र, काव्य का अनिवार्य अंग न भी हो, पर हिन्दी कविता का अनिवार्य अंग है, कविता के अन्तर्गत हम प्रायः न कोई छंद अवश्य पाते हैं। आचार्य श्यामसुन्दरदास का विचार है कि कविता का आधार शब्द है, और स्वर, संगीत का आधार है, इसलिये यह छंद आदि

---

१ देखिये 'काव्यप्रभाकर' का काव्य निर्णय प्रसंग।

संगीत शास्त्र के अन्तर्गत विचारणीय है। यह ठीक है पर छन्द का एक रूप जो स्वर से सम्बन्ध न रखकर गति से सम्बन्ध रखता है वह कविता का अनिवार्य अंग है। कविता में संगीत और चित्र दोनों का सामंजस्य है इसलिए संगीत के नाम पर हम छन्दों को कविता से अलग नहीं कर सकते, जैसे चित्रकला के नाम पर शब्द-चित्रों को। कविता चित्रकार को चित्रों का रूप देती है, प्रेरणा देती है, वैसे ही वह संगीत के बोल देती है जिन्हें संगीतज्ञ अपने कण्ठ का स्वर भरता है। इसलिए कविता में यह प्रधान न हो पर है उसका आवश्यक अंग।

कवि-कल्पना, अभिव्यंजक शक्ति, आदर्श आदि पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनका आशय यही है कि कवि-कल्पना का बहुत बड़ा महत्त्व है। वैज्ञानिक की बुद्धि, और दार्शनिक की दृष्टि ही के समान कवि की कल्पना है, जो कि हमारे बीच प्रचलित लोकोक्ति, 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' के रूप में व्यक्त है। अभिव्यंजक शक्ति, कवि-कल्पना के ही प्रकाशन में है। कवि की अभिव्यंजना किसी भी वस्तु के सौन्दर्य और रहस्य का उद्घाटन ही नहीं करती, वरन् हमें उस प्रकाशन के द्वारा एक सौन्दर्य को देखने वाली दृष्टि प्रदान करती है, अतः हमारी अपनी अभिव्यंजना प्रणाली में भी कवि की अभिव्यंजक शक्ति का प्रभाव पड़ता है। आदर्श के विषय में यही बात मुख्य है कि कवि केवल एक यथातथ्य चित्र ही उपस्थित नहीं करता वरन् वह जीवन की व्याख्या कर मनुष्य को सदादर्शों द्वारा सत्य पथ पर ले जाने वाला होता है, क्योंकि उसमें हमारे भावों पर अधिकार करने की शक्ति होती है, वह उन्हें जिस दिशा में चाहे प्रेरित कर सकता है। अतः ऐसे शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति के लिए यह एक सैद्धान्तिक आवश्यकता है कि वह आदर्श को लेकर चले तभी संसार का कल्याण हो सकता है।

कविता के विभागों में प्रो॰ दास ने आत्माभिव्यंजक और बाह्यार्थ निरूपिणी या विषय प्रधान कविता नामक दो विभाग बनाए हैं जिन पर अधिकांश कविता हुई है। गीत आदि जिनमें कवि का आत्मविश्लेषण प्रधान होता है, भावात्मक कविता है और प्रबन्ध काव्य खण्ड काव्य, नाटक आदि में विषय प्रधान कविता रहती है। ये विभाग ठीक हैं, पर व्यावहारिक दृष्टि से ही। तत्त्वतः देखने से हमें कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही सभी स्थानों में व्याप्त मिलता है। पर वह ऐसा अप्रत्यक्ष होता है जो सब की आँखों में समा सकता है। महाकाव्य या खण्ड काव्य अथवा नाटक के पात्रों की जिह्वा से बोलने वाला कवि का ही आत्मा है जहाँ प्रत्येक पात्र के रूप से कवि अपनी भावना को ही व्यक्त

वाला अपने सामने विभाव, अनुभाव आदि प्रत्यक्ष देखकर, उनके मिथ्यारूप की सत्य कल्पना करता और पाठक विभाव, अनुभाव आदि का स्वरूप केवल अपनी कल्पना के बल पर ही खड़ा कर लेता है। एक म कल्पना एक प्रत्यक्ष दृश्य को सत्य मानती है, और दूसरी में हम स्मृति और कल्पना क सहारे वर्णित वस्तु का साक्षात्कार करते हैं अतः दोनों में अनुभूति की तीव्रता का अन्तर हो सकता है, कोटि का नहीं। का य और कला-कृतियों की सफलता इसी बात में जाँची जा सकती है कि ये वास्तविक रूप को ग्रहण कराने में समर्थ हों।

भाव पक्ष और कला-पक्ष के सम्बन्ध के विषय म यह कहा जा सकता है कि ये दानों अलग अलग पक्ष नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तु का देखने के लिये दो दृष्टिकोण हैं जहाँ पूर्ण सफलता ह वहाँ दानों ही समय हैं, ऐसा आचाय श्यामसुन्दर दास ने 'काव्य' के विचार और महापात्र विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक का य' के सिद्धांत द्वारा ही सिद्ध किया है। भारतीय पद्धति के विचार से कविता का स्वरूप आँकने पर डॉ० श्याम सुन्दरदास मम्मट के काव्य प्रकाश में दी हुई कविता की परिभाषा 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' को सबसे व्यापक परिभाषा मानते हैं क्योंकि 'वाक्य रसात्मक का य' और 'रमणीयाथ प्रतिपादक शब्द का य' दोनों परिभाषाओं में उत्तम का य का ही लक्षण है। चित्रका य की कोई भी परिभाषा अपने में समेट नहीं पाती, पर मम्मट की परिभाषा के अन्तगत यह भी आ जाता है। उनके विचार से यद्यपि ध्वनि, उत्तम का य पर चित्रका य अधम ही सही, काव्य है अवश्य, और इस प्रकार प्राचीन परम्परा से माने जानेवाले चित्रकाव्य का भी काव्यत्व से निष्कासन नहीं होता। फिर इसके साथ साथ शब्द अथ का महत्व देकर, वाचक, लक्षक, व्यंजक शब्द उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ तथा अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ भी काव्य-विवेचन के अन्तर्गत आ जाती हैं। इसलिये उनका दृष्टिकोण सबसे व्यापक है। यद्यपि हम पहले देख चुके हैं कि यह मत सवमान्य नहीं है।[१]

जैसा कि इस प्रसग के प्रारम्भ म कहा जा चुका है कि छन्द शास्त्र, काव्य का अनिवाय अग न भी हो, पर हिन्दी कविता का अनिवाय अंग है, कविता के अन्तर्गत हम काइ न कोई छन्द अवश्य पाते हैं। आचाय श्यामसुन्दरदास का विचार है कि कविता का आधार शब्द है, और स्वर, सगीत का आधार है, इसलिये यह छन्द आदि

१ देखिये 'काव्यप्रभाकर' का का य निणय प्रसग।

सगीत शास्त्र के अन्तर्गत विराम है । यह ठीक है पर छन्द का एक रूप जो स्वर से सम्बन्ध न रखकर गति से सम्बन्ध रखता है वह कविता का अनिवार्य अंग है । कविता में सगीत और चित्र दोनों का सामजस्य है इसलिए सगीत के नाम पर हम छन्दों को कविता से अलग नहीं कर सकते, जैसे चित्रकला के नाम पर शब्द-चित्रों को । कविता चित्रकार को चित्रों का रूप देती है, प्रेरणा देती है, ऐसे ही वह सगीत के बोल देती है जिसमें सगीतज्ञ अपने कण्ठ का स्वर भरता है । इसलिये कविता में वह प्रधान न हो पर है उसका आवश्यक अंग।

कवि कल्पना, अभिव्यंजक शक्ति, आदर्श आदि पर जो विचार व्यक्त किये गए हैं उनका आशय यही है कि कवि-कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है। वैज्ञानिक की बुद्धि, और दार्शनिक की दृष्टि ही के समान कवि की कल्पना है, जो कि हमारे बीच प्रचलित लोकोक्ति 'जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि,' के रूप में व्यक्त है। अभिव्यंजक शक्ति, कवि-कल्पना का ही प्रकाशन में है । कवि की अभिव्यंजना किसी भी वस्तु के सौन्दर्य और रहस्य का उद्घाटन ही नहीं करती, वरन् हमें स्वयं अभ्यास के द्वारा एक सौन्दर्य को परखने वाली दृष्टि प्रदान करती है, अत हमारी अपनी अभिव्यंजना प्रणाली में भी कवि की अभिव्यंजक शक्ति का प्रभाव पड़ता है । आदर्श के विषय में यही बात मुख्य है कि कवि केवल एक यथातथ्य चित्र ही उपस्थित नहीं करता वरन् वह जीवन की व्याख्या कर मनुष्य को सदादर्शों द्वारा सत्य पथ पर ले जाने वाला होता है, क्योंकि उसमें हमारे भावों पर अधिकार करने की शक्ति होती है, वह उन्हें जिस दिशा में चाहे प्रेरित कर सकता है । अत ऐसे शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति के लिये यह एक सैद्धान्तिक आवश्यकता है कि वह आदर्श को लेकर चले तभी ससार का कल्याण हो सकता है।

कविता के विभागों में — दास ने आत्माभिव्यंजक और बाह्यदृश्य निरूपिणी या विषय प्रधान कविता नामक दो विभाग बनाये हैं जिन पर अधिकांश कविता हुई है। गीत आदि जिनमें कवि का आत्मविश्लेषण प्रधान होता है, भावात्मक कविता है और प्रबन्ध काव्य खण्ड काव्य, नाटक आदि में विषय प्रधान कविता रहती है। ये विभाग ठीक हैं, पर व्यावहारिक दृष्टि से ही । (तत्वत देखने से हमें कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही सभी स्थानों में व्याप्त मिलता है) पर यह एक अवश्य होता है जो सब की आँखों में समा सकता है । महाकाव्य या खंड काव्य अथवा नाटक के पात्रों की जिह्वा से बोलने वाली कवि की ही आत्मा है जहाँ प्रत्येक पात्र के रूप में कवि अपनी भावना को ही व्यक्त

करता है । परन्तु प्रक्रिया के विचार से तथा व्यवहार की सुगमता के लिए दो विभाग मान लेना ठीक है अवश्य ।

गद्यकाव्य के अन्तगत आचार्य श्यामसुन्दरदास ने, दृश्य काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्धों को रक्खा है । गद्य काव्य को लेकर इतना विस्तृत विवेचन इसके पूर्व नहीं हुआ था । नाटकों का विवेचन तो पश्चिमी दृष्टिकोण और संस्कृत के नाट्यशास्त्र दोनों ही को लेकर किया गया । संस्कृत म नाट्यशास्त्र का बहुत ही विस्तृत विवरण मिलता है और उसके भीतर लगभग सभी आधुनिक एवं प्राचीन रूपक (Drama) विशेषत नाटकों (plays) की समस्याओं पर प्रकाश मिलता है । अत डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने अर्थ प्रकृति और सन्धि आदि को लेकर कथावस्तु का विवेचन और रूपक के दस भेदों को उपस्थित किया है और अठारह उपरूपकों का भी परिचय दिया है किन्तु इसके साथ साथ ही उन्होंने उद्देश्य, चरित्र चित्रण, संकलनत्रय आदि पर पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार भी विवेचन उपस्थित किया है। इन सब बातों के साथ साथ व अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह वही है जिसके आधार पर संस्कृत काव्य के विषय में प्रचलित लोकोक्ति है "काव्येषु नाटकं रम्यम्" डॉ श्यामसुन्दर दास ने लिखा है "अन्त म हम इतना ही कहना यथेष्ट समझते हैं कि नाटक लिखना सहज नहीं है और इसके लिये बहुत कुछ विद्या, बुद्धि, ज्ञान, रचना कौशल की आवश्यकता होती है ।"[१]

गद्य काव्य म नाटकों का स्थान दृश्य भाग के अन्तगत है और अन्य भाग के अन्तगत उपन्यास, आख्यायिका और निबन्ध हैं । भारतीय साहित्य में इन तीनों का अधिक विकास प्राचीन काल में नहीं हुआ है अत इनके विवेचन की वैसी विस्तृत पद्धति भी नहीं मिलती जैसे कि काव्य अथवा नाटक की। अत इनका विवेचन विशेष रूप स पश्चिमीय विवेचन-पद्धति के अनुसार ही है । उपन्यास के विषय में उन्होंने कहा है कि "पाश्चात्य साहित्य में अन्य काव्य के इस अंग की इतनी अधिक उन्नति हुई और पश्चिम की प्रणाली पर भारतीय भाषाओं में भी इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि अब यह काव्य-साहित्य म स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व दृढ़ कर चुका है अपनी एक अलग कोटि भी बना चुका है । इस कोटि में साधारणतः कल्पना प्रसूत वह सम्पूर्ण कथा साहित्य आजाता है जो गद्य के रूप से व्यक्त किया गया

---

१ 'साहित्यालोचन' ६ठी आवृत्ति, पृ० ७० ।

है"[1] प्राचीन भारतीय साहित्य में कथा, पुराण, वार्ता, आख्यायिका आदि रही हैं, उनमें अभिप्राय का विवेचन काव्य के भीतर उदाहृत नहीं हुआ है। पर पाश्चात्य साहित्य में इसका वर्गीकरण हो चुका है। उसके अनुसार उपन्यासों की कोटियां घटनाप्रधान, सामाजिक, अन्तरंग जीवन के उपन्यास तथा देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास के रूप में 'साहित्यालोचन' में विवेचित हुए हैं। उपन्यास के तत्वों में कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य आदि हैं जिनका उपयुक्त विवरण दिया गया है। उपन्यास की सफलता, गति, वास्तविकता के विषय में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा गद्य एवं जन साधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा होने के कारण, पद्यमय काव्य से अधिक जीवन के समीप और यथातथ्य पूर्ण होती है। कवि की सी उड़ान, उपन्यासकार नहीं भर सकता। वह जीवन की बातों को स्पष्ट करने के लिये जीवन की घटनाओं का ही सहारा लेता है, जब कि कवि अनेक अनुभूतियों, व्यापारों, चेष्टाओं के स्पष्टीकरण के लिये उनकी तुलना अलौकिक और काल्पनिक वस्तुओं से भी कर सकता है। इस प्रकार उपन्यास में जीवन की सबसे अधिक यथातथ्य एवं पूर्ण व्याख्या हो सकती।

कहानी (Short Story) के लिए श्यामसुन्दरदास ने छोटी कहानी, गल्प एवं आख्यायिका शब्दों का प्रयोग किया है। संस्कृत के गद्य साहित्य के अन्तर्गत कथा और आख्यायिका आती हैं। कथा को हम उपन्यास कह सकते हैं पर आख्यायिका का अपना निश्चित स्वरूप है और पारम्परिक रूप से हम कहानी के स्थान में उसका प्रयोग नहीं कर सकते हैं। साहित्य दर्पणकार ने 'आख्यायिका' की निम्नलिखित परिभाषा की है —

आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥

—साहित्यदर्पण।

अतः आख्यायिका में पूरा आख्यान रहता है, आवश्यक नहीं है कि वह छोटी ही हो। इस दृष्टि से 'कहानी' शब्द ही इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त है और प्रचलित भी। इसमें 'छोटी' विशेषण के जोड़े बिना ही काम चल सकता है। कहानी-साहित्य का विकास नवीन है और छोटी होने के कारण इसमें उपन्यास की भांति घटना और चरित्र प्रमुख स्थान नहीं पाते, वरन् लेखक की शैली के अंग, पद पड़ जाते हैं। जितनी अधिक

---

1 'साहित्यालोचन', छठी आवृत्ति पृ० १७१।

करता है। परन्तु अनिपा क विचार से तथा व्यवहार की सुगमता क लिए दो विभाग मान लेना ठीक है अवश्य।

गद्यकाव्य के अन्तर्गत आचार्य श्यामसुन्दरदास ने, दृश्य काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्धों को रक्खा है। गद्य काव्य को लेकर इतना विस्तृत विवेचन इसके पूर्व नहीं हुआ था। नाटकों का विवेचन तो पश्चिमी दृष्टिकोण और संस्कृत के नाट्यशास्त्र दोनों ही को लेकर किया गया। संस्कृत में नाट्यशास्त्र का बहुत ही विस्तृत विवरण मिलता है और उसके भीतर लगभग सभी आधुनिक एवं प्राचीन रूपक (Drama) विशेषत नाटकों (Plays) की समस्याओं पर प्रकाश मिलता है। अतः डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने अर्थ प्रकृति और सन्धि आदि को लेकर कथावस्तु का विवेचन और रूपक के दस भेदों को उपस्थित किया है और अठारह उपरूपकों का भी परिचय दिया है किन्तु इसके साथ साथ ही उन्होंने उद्देश्य, चरित्र चित्रण, सकलनत्रय आदि पर पाश्चात्य विचारधारा क अनुसार भी विवेचन उपस्थित किया है। इन सब बातों के साथ साथ वे अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह वही है जिसके आधार पर संस्कृत काव्य के विषय म प्रचलित लोकोक्ति है "काव्येषु नाटकं रम्यम्" डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है "अन्त में हम इतना ही कहना यथेष्ट समझते हैं कि नाटक लिखना सहज नहीं है और इसके लिये बहुत कुछ विद्या, बुद्धि, ज्ञान, रचना कौशल की आवश्यकता होती है।"[१]

गद्य का व्य में नाटकों का स्थान दृश्य भाग के अन्तर्गत है और अन्य भाग के अन्तर्गत उपन्यास, आख्यायिका और निबन्ध हैं। भारतीय साहित्य में इन तीनों का अधिक विकास प्राचीन काल में नहीं हुआ है अत इनके विवेचन की वैसी विस्तृत पद्धति भी नहीं मिलती जैसे कि काव्य अथवा नाटक की। अतः इनका विवेचन विशेष रूप से पश्चिमीय विवेचन पद्धति के अनुसार ही है। उपन्यास के विषय में उन्होंने कहा है कि "पाश्चात्य साहित्य में अन्य काव्य क इस अंग की इतनी अधिक उन्नति हुई और पश्चिम की प्रणाली पर भारतीय भाषाओं में भी इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि अब यह काव्य-साहित्य म स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व दृढ़ कर चुका है अपनी एक अलग कोटि भी बना चुका है। इस कोटि में साधारणत कल्पना प्रसूत वह सम्पूर्ण कथा साहित्य आजाता है जो गद्य के रूप से व्यक्त किया गया

---

१ 'साहित्यालोचन' ६ठी आवृत्ति, पृ० ७० ।

है'[1] प्राचीन भारतीय साहित्य म कथा, पुराण, वार्ता, आख्यायिका आदि रही हैं, उनमें अधिकांश का विवेचन काव्य के भीतर उदाहृत नहीं हुआ है। पर पाश्चात्य साहित्य म इसका वर्गीकरण हो चुका है। उसके अनुसार उपन्यासों की कोटियाँ घटनाप्रधान, सामाजिक, अन्तरग जीवन के उपन्यास तथा देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास के रूप में 'साहित्यालोचन' म विवेचित हुइ हैं। उपन्यास के तत्त्वों म कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य आदि हैं जिनका उपयुक्त विवरण दिया गया है। उपन्यास की सत्यता, नीति, वास्तविकता के विषय म यह कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा गद्य एवं जन साधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा होने के कारण, पद्यमय काव्य से अधिक जीवन के समीप और यथातथ्य पूर्ण होती है। कवि की सी उड़ान, उपन्यासकार नहीं भर सकता। वह जीवन की बातों को स्पष्ट करने के लिये जीवन की घटनाओं का ही सहारा लेता है, जब कि कवि अनेक, अनुभूतियों, व्यापारों, चेष्टाओं क स्पष्टीकरण के लिये उनकी तुलना अलौकिक और काल्पनिक वस्तुओं से भी कर सकता है। इस प्रकार उपन्यास म जीवन की सबसे अधिक यथातथ्य एवं पूर्ण व्याख्या हो सकती।

कहानी (Short Story) के लिए आचार्य श्यामसुन्दरदास ने छोटी कहानी, गल्प एव आख्यायिका शब्दों का प्रयोग किया है। संस्कृत म गद्य साहित्य के अन्तर्गत कथा और आख्यायिका आती हैं। कथा को हम उपन्यास कह सकते हैं पर आख्यायिका का अपना निश्चित स्वरूप है और पारिभाषिक रूप से हम कहानी के स्थान में उसका प्रयोग नहीं कर सकते हैं। साहित्य दर्पणकार ने 'आख्यायिका' की निम्नलिखित परिभाषा की है —

आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्त पद्य क्वचित्क्वचित्॥

—साहित्यदर्पण।

अत आख्यायिका में पूरा आख्यान रहता है, आवश्यक नहीं है कि वह छोटी ही हो। इस दृष्टि से 'कहानी' शब्द ही इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त है और प्रचलित भी। उसमें 'छोटी' विशेषण क जोड़े बिना ही काम चल सकता है। कहानी-साहित्य का विकास नवीन है और छोटी होने के कारण इसम उपन्यास की भाँति घटना और चरित्र प्रमुख स्थान नहीं पाते, वरन लेखक की शैली क आगे, पीछे पड़ जाते हैं। जितनी अधिक

---

१ 'साहित्यालोचन', छठी आवृत्ति पृ० १७२।

शैलियाँ कहानी के लिए प्रयुक्त हो सकती हैं उतनी उपन्यास के लिए नहीं। इस दृष्टि से कहानी में रोचकता और नवीनता का अधिक स्थान एवं क्षेत्र रहता है, शैली लेखक की सूझ और अनुभूति पर निर्भर करती है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने उपन्यास और कहानी में विभेद दिखाते हुए कहा है कि उपन्यासों में घटनाओं का अनिर्दिष्ट क्रम और कथा का स्वच्छन्द विकास किया जा सकता है किन्तु छोटी कहानी या आख्यायिका में उसकी सुविधा नहीं। कहानी को एक ही निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ना पड़ता है।[1] दूसरे, कहानी लेखक अप्रत्यक्ष नहीं वरन् प्रत्यक्ष होता है। वह उपन्यासकार की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाकर नहीं रखता, वरन् वह सर्वत्र व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से यह गीति काव्य से साम्य रखती है और दोनों ही सर्वश्रेष्ठ काव्य के अन्तर्गत हैं। तीसरे, कहानी एक उद्देश्य को लेकर चलती है, परन्तु वह उद्देश्य, कहानी के पूर्ण होने तक कला पूर्ण शैली के आवरण में ढका रहता है। कहानी में उपदेश का अवसर नहीं, पर भाव पूर्ण निरूपण, एवं आदर्श निष्कर्ष से जो उपदेश मिलता है उससे बड़ी समाज सेवा होती है। रूसी कहानी तो प्रचार का सबल साधन रही है। चौथे कहानी की अभिव्यक्ति संक्षिप्त प्रणाली पर सारगर्भित शब्दों में रहती है।[2] एक एक बात और एक एक शब्द महत्व का होता है। कथोपकथन की सजीवता के कारण इसमें नाटकीय तत्व का अधिक समावेश रहता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने इसे एक स्वच्छन्द कलाकृति मानते हुए भी यह स्पष्ट कह दिया है कि कहानी के सिद्धांत काव्य के अन्य सिद्धांतों से अलग नहीं हैं। "प्रकृति के रहस्यों का गम्भीर निरीक्षण, सांसारिक अनुभव की प्रचुरता तथा नवीन उद्भावना की शक्ति जिस प्रकार अन्य साहित्यिक रचनाओं के लिये आवश्यक है उसी प्रकार आख्यायिकाओं के लिये भी है।"[3] जीवन के रहस्यों की विविधता को कहानीकार बातचीत, वर्णन, आत्मविश्लेषण, पत्र, दिनचर्या आदि अनेक रूपों से प्रकट कर सकता है, जहाँ पर एक रहस्य का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है वहाँ कहानी सफलता पा जाती है।

गद्य साहित्य के अन्तर्गत ही निबन्ध भी आते हैं। आचार्य श्यामसुन्दर दास का विचार है कि जो निबन्ध, साहित्य या काव्य की कोटि में आते हैं वे व्यक्तित्व प्रधान

---

१ 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २२० ।

२ 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २२ ।

३ 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २२८ ।

और सरस होने चाहिये। भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रतिपादन करने वाले गवेषणा-पूर्ण, चिन्तनप्रधान, विश्लेषण को लेकर लिखे गये निबन्ध, काव्यान्तर्गत निबन्धों की श्रेणी में नहीं आ सकते हैं। निबन्धों का अधिकांश विकास पश्चिमीय साहित्यों में हुआ है। हिन्दी में भी निबन्ध वर्तमान काल की ही देन है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही इनका प्रादुर्भाव समझना चाहिये। उनके समकालीन प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि के निबंधों में चिन्तापूर्ण साहित्यकता की प्रचुर मात्रा मिलती है और आजकल साहित्यालोचना को भी गद्य काव्य के अन्तर्गत ही रखा जाता है।[1] परन्तु जिनमें भी विषय प्रतिपादन वैज्ञानिक रीति से हुआ हो उसे साहित्यिक या काव्यगत रचना मानना ठीक नहीं है। साहित्यिक इतिवृत्त निबन्धों में शैली, एवं विषय प्रतिपादन की प्रगति के विचार से एक प्रकार का साम्य रहता है, आचार्य श्यामसुन्दर दास ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है —दोनों ही एक निश्चित विषय या लक्ष्य लेकर लिखे जाते हैं और उसके पूर्ण हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं। दोनों ही अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। जिस प्रकार किसी उपन्यास का एक परिच्छेद या प्रकरण आख्यायिका नहीं कहा जा सकता वरन् आख्यायिका कहलाने के लिये उसमें आख्यायिका-शैली की विशेषतायें तथा उसकी कलात्मक पूर्णता आवश्यक है उसी प्रकार किसी दार्शनिक या साहित्यिक ग्रन्थ का एक अध्याय निबंध के नाम से अभिहित नहीं हो सकता। निबंध की कोटि तक पहुँचने के लिये उसमें वह सब सामग्री सन्निहित की जानी चाहिये जिससे उसका व्यक्तित्व प्रकट हो सके।"[2]

इस प्रकार हम निबंध के सम्बन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि विषय का वर्णन रोचक, साहित्यिक, कवित्वमय शैली पर हुआ हो तो निबन्ध साहित्यिक कोटि में आता है, यदि वह विवेचनात्मक, वैज्ञानिक पद्धति पर हो तो निबन्ध गद्य-काव्य की सीमा से बाहर हो जाता है किन्तु यह विचार शुक्लजी के विचार से भिन्न है।

रस और शैली

रस और शैली के विवेचन में आचार्य श्यामसुन्दरदास ने यथार्थ में काव्य के दो प्रमुख पक्षों पर विचार किया है। शुद्ध काव्य का विवेचन इन दो प्रसंगों में पृथक् रीति से किया जा सकता है। रस, काव्य के आन्तरिक और अानुभूतिक पक्ष की सफलता स्पष्ट

---

१ साहित्यालोचन' पृष्ठ २४१।

२ साहित्यालोचन पृष्ठ २३१।

करता है और शैली उस आन्तरिक भाव या अनुभूति के अभिव्यक्ति के पक्ष को। यहाँ पर एक बात विचारणीय यह है कि कहाँ तक ये दोनों पक्ष एक दूसरे के आश्रित हैं और कहाँ तक स्वतन्त्र। रस और शैली एक दूसरे को पुष्ट करते हुए भी अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। यदि भावानुभूति तीव्र है तो उसके लिए उपयुक्त शैली भी मिल जाती है। इसलिए एक दृष्टिकोण से हम शैली को अनुभूति के आश्रित कह सकते हैं, परन्तु नहीं, शैली यथार्थत अनुभूति के आश्रित नहीं है। अनुभूति सबके पास होती है पर शैली सबके पास नहीं होती, इसलिए अनुभूति का सफल प्रकाशन सभी नहीं कर सकते। बहुधा हम यह भी अनुभव करते हैं कि अनुभूति का प्रकाशन उस प्रकार का नहीं हो पाया जैसा कि हम चाहते हैं, कारण, अभिव्यक्ति का कौशल हमारे पास नहीं है। इसके विपरीत बहुधा हम यह भी देखते हैं कि जो अभिव्यक्ति के कौशल को प्राप्त किये होते हैं, वह अनुभूति के न होते हुए भी काव्य रचना करते रहते हैं। केवल साहित्य सृजन की प्रेरणा में अनुभूति का अभाव हो सकता है, सभी साहित्यिक अनुभूति के वशीभूत होकर ही नहीं लिखते हैं और हम ऐसे कवि और साहित्यिक भी मिलते हैं जिनकी रचना साहित्यिक होते हुए भी अनुभूतिहीन है।

साहित्य के भीतर मनुष्य की मूल मनोवृत्तियों का विश्लेषण भाव-पक्ष के अन्तर्गत है और अभिव्यक्ति सम्बन्धी कुशलता का विश्लेषण शैली के भीतर है। इसलिए यह दोनों पक्ष काव्य के विवेचन के लिए पूर्ण हैं। डाक्टर श्यामसुन्दर दास के विचार से इन पक्षों के अपने युग से होते हैं, किसी युग में कला-पक्ष की प्रधानता होती है और किसी युग में भावपक्ष की। काव्य के क्षेत्र में यह परिवर्तन रात दिन की भाँति बराबर आया करता है। भावपक्ष में सहायक, मनुष्य की सात्विक वृत्ति होती है। शुद्ध सात्विक वृत्ति का व्यक्ति दूसरे के भावों के भीतर प्रवेश कर सकता है और इस प्रकार के उदात्त भावनावाले व्यक्ति भाव-पक्ष में सफलता दिखलाते हैं, परन्तु कला-पक्ष के भीतर, मनुष्य की कल्पना, अनुभव तथा शब्दभंडार आता है। इन पर जिसका जितना ही अधिक अधिकार होता है, अभिव्यक्ति में वह उतना ही सफल होता है।

काव्य के तीन तत्व आचार्य ने माने हैं, बुद्धितत्व, कल्पना तत्व और रागात्मक तत्व। बुद्धितत्व की आवश्यकता तो जिस प्रकार जीवन में है उसी प्रकार काव्य में भी है। प्रबन्ध और कथा काव्य में मुक्तक की अपेक्षा बुद्धितत्व की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इन तीनों तत्वों का विवेचन रस और शैली दो पक्षों के विवेचन के साथ साथ भी

इस कारण से आवश्यक हुआ कि बुद्धितत्त्व का समावेश पूर्वरीति से शैली के अन्तर्गत नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यह पश्चिमीय दृष्टिकोण भी हमारे सामने उपस्थित करता है। कल्पना की आवश्यकता हमें काव्य में बहुत अधिक पड़ता है। काव्य में कल्पना, स्मृति के रूप में भी उपस्थित होती है और नई परिस्थिति के चित्रण में भी इसकी आवश्यकता होती है। यह बुद्धितत्त्व को भी सहायता पहुँचाती है और संस्कार और वासनाओं के उकसाने में भावतत्त्व को भी योग देती है। रस का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र के रस सिद्धांत के अनुसार है जिसका प्रारम्भ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से ही पूर्वरीति से माना जाता है। भरत मुनि के अनुसार तो कोई भी काव्य रस से हीन नहीं होना चाहिये। 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'। अतः रस का विश्लेषण और स्पष्टीकरण प्रमुखतः भरत के अनुसार ही किया गया है। रस के सिद्धांत का विवेचन प्रस्तुत निबन्ध की भूमिका में किया जा चुका है। यहाँ पर उन विशेषताओं का ही बतलाना आवश्यक है जिन्हें आचार्य ने इस प्रसंग में समाविष्ट किया है। विभावों के सम्बन्ध में कहते हुए उन्होंने संचारी और स्थायी भावों के भेद को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि —

"संचारी और स्थायी भावों में इतना भेद है कि संचारी भाव के लिये स्वल्प विभाव ही पर्याप्त होते हैं, परन्तु स्थायी भाव के उदय के लिए अल्पसामग्री से काम नहीं चलता उसके लिये विभावों का बड़ा चढ़ा होना आवश्यक है।"[१] यह बात स्वतंत्र संचारी भाव के लिए तो हम मान सकते हैं, पर जो संचारी भाव, स्थायी भाव के जाग्रत हो जाने पर आते हैं उनका अन्तर इससे स्पष्ट नहीं होता। यहाँ तो हम यही कहेंगे कि उस प्रबल भाव को सहायता देने के लिए अन्य अचिरस्थायी भाव ही संचारी हैं।

अनुभाव के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है —कायिक, मानसिक और सात्विक। मानसिक अनुभाव की परिभाषा उन्होंने यह की है —"स्थायीभाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं।"

परन्तु स्थायी भाव के कारण उत्पन्न अन्य भाव संचारी भाव भी हैं, इसलिए मानसिक अनुभाव, अनुभावों का एक प्रकार नहीं हो सकते। कायिक और सात्विक की परिभाषायें करते हुए उन्होंने लिखा है "आंतरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षण कायिक अनुभाव कहलाते हैं। यही अनुभाव जब मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा

---

१ साहित्यालोचन, पृ० २६६।

से उत्पन्न होते हैं तब सात्विक कहलाते हैं ।"[१] इस प्रकार से सात्विक और कायिक अनुभावों म प्रकार का अन्तर नहीं, कवल तीव्रता का ही अन्तर है। जैसे स्थायी भाव जो मानकर अन्य सभी भावों को सचारी के अन्तगत माना गया है, इसी प्रकार स आठ सात्विकभावों के अतिरिक्त अन्य अनुभावों को कायिक कह लेते हैं। रस सिद्धांत के विकास को दिखाने के पश्चात् आचार्य श्यामसुन्दर दास ने अनेक आचार्यों का मत रसानुभूति क विषय में बताते हुये लिखा है कि भाव के अनुभव और रस क आस्वादन में भेद है। भावानुभूति, प्रकृति एव परिस्थिति के अनुसार सुख-दु खमय हो सकती है। पर रसानुभूति आनन्दमय ही मानी गयी है। यह रस जिसकी अनुभूति किसी को होती है कवल वतमान में ही है, अभिनय के भीतर नायक की भावानुभूति भूतकाल की वस्तु थी और अभिनता उसका केवल अनुकरण ही करता है। इसलिए रस की यथाथ अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक के हृदय में होती है। रस का आस्वाद केवल आनन्दमय ही है जब कि भावानुभूतियाँ सुख दुखमयी होती हैं इसी सिद्धांत का समर्थन करते हुए अन्त में आचाय श्यामसुन्दर दास ने स्पष्ट कहा है:—

"इस प्रकार रसों की सख्या नौ मानी गयी है। इससे यह न समझना चाहिये कि रस के वस्तुतः भेद होते हैं। रस तो सदा भेद रहित और एकरस है। यह जो भेद माने जाते हैं वह केवल स्थायी भावों के भदों के आधार पर किये गए हैं जिससे रस प्रक्रिया ज्ञान में सुगमता हो।"[२]

रस सवथा आनन्दमय होने पर भी स्थायी भावों के भेद के अनुसार उसके आस्वादन में आनन्दानुभूति की भि नता रहती अवश्य है, पर तत्वतः वह आनन्दमयी ही है यद्यपि अनेक रसों का आनन्द भि न भिन्न है जैसा शुक्ल जी का मत है।

शैली

शैली के सम्बन्ध में आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का यही मत है कि कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और भावन । स अलग शैली है। यह अभि यक्ति का चमत्कार है। उन्होंने रचना चमत्कार को शैली कहा है। कालिदास के रघुवंश क सबसे प्रारम्भिक श्लोक का उद्धृत करते हुए वे कहते हैं —

"वाक् और अर्थ की भाँति सयुक्त जगत क माता पिता पार्वती और परमेश्वर की

---

१ साहित्यालोचन, पृ० २६७।

२ साहित्यालोचन ,, २६७।

वदना इसलिए करता हूँ कि जिससे वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति हो। यहाँ वाक् और अर्थ से यही प्रयोजन है जो कलापक्ष और भावपक्ष अथवा भाव और शैली से है। इस लिए रचना-चमत्कार को शैली का नाम दिया जाता है।''[१]

आगे चलकर उन्होंने एक विद्वान् के मत का, कि शैली विचारों का परिधान है, खंडन किया है, क्योंकि परिधान शरीर से अलग और निज का अस्तित्व रखने वाली वस्तु है, पर शैली नहीं। शैली भाव का परिधान नहीं भाव की आकृति, भाव का स्वरूप है और इस दृष्टि से हमें यह भी देखना है कि शैली को रचना-चमत्कार हम कहाँ तक कह सकते हैं। रचना चमत्कार कहने में प्रत्येक भाव प्रकाशन के साथ चमत्कार आवश्यक होगा, पर ऐसी भी रचना होती है जिसमें चमत्कार नहीं, सीधे और स्वाभाविक ढंग से ही भाव प्रकाशित होता है, अतः शैली को हम अभिव्यक्ति का ढंग या स्वरूप मात्र ही कहें तो अधिक अच्छा है क्योंकि हम कभी कभी यह भी कह सकते हैं कि अमुक की शैली चमत्कारपूर्ण है, अमुक की शैली बड़ी सरल, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। अतः अलंकारों का वर्णन, शैली का आवश्यक और अनिवार्य अंग नहीं हाँ शैली का एक रूप अवश्य ऐसा हो सकता जिसे हम 'आलंकारिक शैली' कह सकते हैं। अलंकारों का स्थान इस प्रकार शैली, एवं कल्पनातत्व के अन्तर्गत आता है।

अन्त में डा० श्यामसुन्दर दास स्वयं भी इसी निष्कर्ष पर आते हैं और कहते हैं— "अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हममें नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान ही रहती है और साथ साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी इसमें रहती है। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।''[२]

शैली के अन्तर्गत अर्थ-गौरव और प्रभावशीलता दो गुण बड़े आवश्यक हैं। अतः इसका विकास प्रौढ़ लेखकों में देखने को मिलता है जिनकी शैली शब्दबहुला न होकर भावगाम्भीर्य को लिये हुए होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली में शब्दों का और उनके प्रयोग का महत्व होता है। शब्द का महत्व उनकी शक्ति, गुण और वृत्ति के विचार से होता है। शब्द की शक्तियाँ, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तथा प्रसाद-ओज-माधुर्य गुण एवं उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियाँ यथार्थ में शब्द को अपने आप नहीं मिल जातीं, वरन्

---

१ साहित्यालोचन, पृष्ठ २८७।

२ साहित्यालोचन ,, २८८।

वाक्यों पे सम्बन्ध से मिलती हैं, अतः शब्दों का वाक्य रचना में महत्व होते हुए भी शैली अर्थात् भाव प्रकाशन की प्रक्रिया के लिए वाक्य का ही महत्व है। वाक्य का भाव या विचार से भी सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति के ढंग से भी। वाक्यों में शब्दों का यह संगठन आवश्यक है जो हमारे मन्तव्य को ठीक प्रकार से पूरा करे, जो वस्तु जिस रूप में हमारी कल्पना या अनुभूति या बुद्धि के भीतर आई है उसको उसी प्रकार व्यक्त करे। इनसे वाक्य जिस तत्व से सम्बन्धित रहता है, उसी प्रकार से शैली के भेद भी प्रभावात्मक, कल्पनात्मक या भावात्मक हो जाते हैं। वाक्य, अभिधा, लक्षणा या व्यंजना प्रधान हो सकता है। काव्य के लिए व्यंजना का ही महत्व अधिक है और इस प्रकार व्यंजनात्मक वाक्य उत्कृष्ट शैली के लक्षण हैं। ध्वनि, उत्तम काव्य है। शैली शब्दों के प्रयोग के अनुसार अलंकारों के प्रयोग के अनुसार, तथा वृत्तों के प्रयोग के अनुसार विविध भेदों में विभाजित हो सकती है। शैलियाँ व्यक्ति विशेष के साथ बदलती भी रहती हैं। शैली के वर्गीकरण का अधिक प्रयत्न साहित्यालोचन में नहीं है केवल संस्कृत रीति के अनुसार ही गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी, तीन भेदों का उल्लेख है जो प्रदेशों में प्रयुक्त भाषा एवं ढंग के अनुसार किए गये हैं। शैली को प्रौढ़ बनाने में मुहावरे, और क्रियायें अधिक ध्यान देने की वस्तु हैं, क्योंकि हमारे कार्य और अनुभूति का यथार्थ चित्रण उन्हीं के द्वारा होता है और संज्ञा, एवं विशेषण शब्दों का स्थान इनके बाद का है। खेद का विषय है कि आधुनिक हिन्दी के कवियों ने मुहावरों और क्रिया पदों की बहुत बड़ी अवहेलना की है। इसी कारण उन्हें दुरूहता और सीमितप्रसिद्धि का अभिशाप मिला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी समस्याओं पर सैद्धान्तिक ढंग से विचार किया है। उनका विवेचन जैसा कि उनका स्वयं ही कथन है मौलिक और शास्त्र का विकास देनेवाला नहीं है फिर भी उनका प्रतिपादन विद्वत्तापूर्ण है और उनका निर्णय आधाररूप में ग्रहण किया जा सकता है। साहित्यालोचन जैसी पुस्तक यथार्थ में मौलिक विचारकों के लिए नींव का काम देती है। ऐसी पुस्तक जिसमें शास्त्रीय विवेचन इतना प्रामाणिक हो हिन्दी में कम है। यद्यपि इस आदर्श पर लिखी अनेक पुस्तकें आई हैं पर वे अधिकांश पुनरावृत्ति ही हैं। अतः उनका विचार छोड़ दिया गया है।

आचार्य श्यामसुन्दर दास के समान ही सुधांशु शास्त्री ने साहित्य समीक्षात्मक पुस्तक लिखी है जिसका विद्यार्थियों के लिए ही उपयोग है और साहित्यालोचन के समान

भी वह स्पष्ट और पूर्ण नहीं है। नवीनता की दृष्टि से भी उसमें कोई विशेषता नहीं है अतः हम उससे अधिक स्वच्छन्द और सामयिक विचार उपस्थित करने वाले लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' जी के ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे।

लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'

'सुधांशु' जी ने काव्य की समस्याओं पर कुछ व्यापक और अति अधात दृष्टिकोण से विचार किया है। इस सम्बन्ध में आपके दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, प्रथम 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' और द्वितीय 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त'। आपकी अनेक धारणायें और मान्यतायें चाहे पूर्णतः सत्य न हों पर यह मानना पड़ेगा कि आपकी प्रणाली नवीन और विचार स्वच्छन्द रीति से प्रकट हुए हैं। अनेक अंग्रेजी और संस्कृत के विद्वानों के निष्कर्ष से आपने हिन्दी कविता की जाँच की है।

'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद'

इस पुस्तक में साहित्यिक सिद्धान्तों और विवादों को लेकर मान आठ निबन्ध से लिखे गये हैं जिनमें थोड़ा बहुत प्रसंग अभिव्यञ्जनावाद का आता है, पर जैसा पुस्तक का नाम है, इसमें अभिव्यञ्जनावाद सिद्धान्त का भली भाँति विश्लेषण नहीं है और न सर्वत्र उसका प्रसंग ही। सबसे प्रथम अध्याय में सुधांशु जी ने संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का परिचय दिया है। इसमें रस, अलंकार रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का संक्षिप्त विवरण है। इस प्रसंग में इनके दो एक निरीक्षण विचारणीय हैं। अलंकारों के प्रसंग में आपने लिखा है —

'भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने, काव्यवस्तु की प्रकृति पर विचार न कर एक प्रधान विषय की अवहेलना की है। उनकी सारी प्रतिभा काव्यवस्तु के विधान में ही खर्च हुई है। केवल स्वभावोक्ति और भाविका से यह आभास मिलता है कि वे इस समस्या से परिचित तो थे, पर उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान देना किसी कारण उचित नहीं माना।'[1]

इस काव्य वस्तु की प्रकृति से तात्पर्य यदि सांसारिक ज्ञान से है तो काव्य कारण में काव्यशास्त्र के विद्वानों ने बराबर इसकी चर्चा की है और इसको आवश्यक माना है। और यदि इसका अर्थ स्वाभाविक वर्णन के ढंगों का विश्लेषण है तो यह भी कवि-शिक्षा में बराबर मिलता है। अतः सुधांशु जी का यह कथन अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता

१ 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद पृष्ठ १०।

है। हाँ, इस स्वाभाविक अनुभव या काव्य वस्तु के ज्ञान का विशेष विवरण इस कारण नहीं कि उसके द्वारा ही प्रत्येक कवि अपने अनुभव के अनुसार अपनी व्यक्तिगत विशेषता प्रकट कर सकता है। शास्त्र के अन्तर्गत इसकी इतनी आवश्यकता भी नहीं है। इसी प्रकार अलंकारों की संख्या और परिभाषा के प्रसंग में आपने लिखा है "अलंकारों की संख्या और प्रत्येक की परिभाषा के विषय में आरम्भ से ही बड़ा मतभेद रहा है। ज्यों ज्यों साहित्यशास्त्र पर विचार होता गया, त्यों त्यों अलंकारों की संख्या और जटिलता भी बढ़ती गयी। जो अलंकार, काव्य की शोभा के लिए साधन रूप से प्रयुक्त होते थे वे ही परम्परा चल पड़ने के कारण काव्य के साध्य बन गये।"[1]

इस विषय में यही कहा जा सकता है कि यह बात हिन्दी काव्यशास्त्र के लिए तो सत्य है पर संस्कृत के लिए उतनी सत्य नहीं। साहित्यशास्त्र के विकास के साथ साथ अलंकारों की संख्या और जटिलता अवश्य बढ़ गयी, पर अलंकार, साधन से साध्य नहीं हुए, वरन् सत्य तो यह है कि जब साहित्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त का प्रचार हुआ तब यथार्थ में जो अलंकार साध्य थे वे ध्वनि या रस के प्रकाशन के साधन बन गये। 'अभिव्यंजना और कला' के प्रसंग में सुधांशु जी ने प्रकृत सत्य और काव्यगत सत्य का अन्तर बताते हुए कहा है कि काव्य विधान के लिए हम निरलंकृत अवस्था में सत्य को बाहर नहीं निकालते। इस कथन से यह प्रकट होता है कि सत्य के प्रकाशन करते समय कवि उसे अलंकृत रूप में ही रखना चाहता है, पर बात ऐसी नहीं है, जिसे सुधांशु जी ने प्रकृत सत्य की संज्ञा दी है वह बौद्धिक सत्य है और वह पूर्ण नहीं है, उसकी पूर्णता कल्पनागत और अनुभूतिगत पक्षों के उद्घाटन द्वारा होती है और कवि सत्य के इन्हीं पक्षों के प्रकाशन द्वारा उसका पूर्ण स्वरूप हमारे सामने व्यक्त करता है। अतः वह अलंकृत सत्य नहीं वरन् अधिक पूर्ण सत्य होता है।

काव्यानुभूति का अन्य अनुभूतियों से विशिष्ट बताते हुए सुधांशु जी ने लिखा है कि काव्यानुभूति में प्रेषणीयता का होना अनिवार्य है। अपनी अनुभूतियों को दूसरे हृदय तक पहुँचाने में हम असमर्थ रहे तो वह काव्यानुभूति न होकर सामान्य अनुभूति ही रह जायगी।[2] इस कथन पर यदि सूक्ष्मता के साथ विचार किया जाय तो पता लगता है कि प्रेषणीयता का गुण अनुभूति में नहीं, वरन् प्रकाशन में होता है। अनुभूति तो बहुतों की एक सी होगी। पर उस अनुभूति का प्रकाशन सबका एक नहीं हो सकता है अतः अन्तर

---

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृ० ११।

२ ,, ,, ,, ,, २७।

अभिव्यंजना का है। काव्यात्मक अभिव्यंजना और सामान्य वर्णन में यही अन्तर होता है कि प्रथम का प्रभाव सभी हृदयों पर पड़ता है पर, दूसरे का प्रभाव सब पर नहीं पड़ता। पर यह भ्रम इस कारण हुआ कि सुधांशु जी सहजानुभूति और अभिव्यंजना को एक मानते हैं। उनका कथन है "सहजानुभूति और अभिव्यंजना में अन्तर नहीं है। सहजानुभूति होते ही अभिव्यंजना प्रस्तुत हो जाती है। यह दूसरी बात है कि उसे वर्णों से अलग रक्खा जाय।"[१] किन्तु यह बात भी समझ में नहीं आती। अनुभूति का प्रकाशन अभिव्यंजना होता है, जब तक वह प्रकाशित नहीं तब तक वह अभिव्यंजना नहीं हो सकती। बहुत सी अनुभूति वर्णों से या अन्य प्रकाशन प्रणाली से अलग रहती है, उस अवस्था तक, जब तक कि उसका प्रकाशन नहीं हो जाता उसे अभिव्यंजना की दशा नहीं प्राप्त होती, वह अनुभूति ही कहलाती है। अतः अनुभूति और अभिव्यंजना के बीच अन्तर मानना आवश्यक ही है। सभी सहजानुभूति भी अभिव्यंजना नहीं हो पाती, अतः दोनों को एक कहना ठीक नहीं।

काव्यानुभूति और रसानुभूति का भेद 'सुधांशु' जी ने ठीक बतलाया है। उनका विचार है कि काव्यानुभूति की स्थिति कलाकार में विशेष रूप से मानी जाती है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में। पाठक या श्रोता ही रस मग्नता की अवस्था में होता है। वह अवस्था ऐसी होती है जब मनुष्य स्वयं गतिहीन हो सकता है, पर काव्यानुभूति में प्रकाशन का काम भी चलता है अतः वह कवि से ही सम्बन्धित है, फिर भी यह भेद समझाने भर का ही है, तत्वतः नहीं। तत्वतः दोनों अनुभूतियाँ आनन्ददायिनी हैं और भेद का स्थान दोनों के बीच नहीं है।

अलंकार भावप्रकाशन के भिन्न भिन्न साँचे हैं। अतः इसी दृष्टि से उन पर विचार किया गया है। इस दृष्टि से उनका मुख्य कार्य भावोत्तेजन में योग देना है और वर्ण्य वस्तु से वे पृथक् हैं। वे वर्णन के ढंग मात्र हैं भाव नहीं हैं और न वस्तु ही। अतः अनेक अलंकार जो वस्तु से पृथक् नहीं हैं, यथार्थतः अलंकार की कोटि में नहीं आते सुधांशु जी ने उनकी एक लम्बी संख्या गिनाई है। उनके विचारानुसार असम, अधिक, अनुमान असम्भव, उल्लास, उदाहरण, उदात्त, काव्यार्थापत्ति काव्यलिंग, निश्चय, प्रत्यनीक, प्रतिषेध, परिसंख्या, पर्याय प्रहर्षण, भ्रांति, भाविक, मुद्रा, युक्ति जरा, लोकोक्ति, वीप्सा, विरोध, विपादन विकल्प, विशेषोक्ति, विचित्र, विधि, व्याघात, सम, समाधि, सहोक्ति, समुच्चय,

---

१ काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० ३८।
२ „ „ „ , ३९।

सामान्य, सूक्ष्म, स्वभावोक्ति, स्मरण, सन्देह हेतु आदि अनेक अलंकार, वस्तु या भाव से पृथक् सत्ता रखने में असमर्थ हैं।[1] प्रायः इनमें वस्तु अथवा भाव अपने प्रकृत रूप में ही आकर्षक है। अतः अलंकारत्व की कोई आवश्यकता नहीं और ये अलंकार इस दृष्टि से अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं करते। अलंकारों की इतनी अधिक संख्या-वृद्धि का कारण भी यही है कि उसमें वस्तु और भाव-वर्णन भी सम्मिलित कर लिया गया है।

अलंकारों के मूल में वर्णन का चमत्कारपूर्ण ढंग अन्तर्निहित है और इस ढंग को ही अलंकार कहते हैं। जहाँ पर उस ढंग का अभाव है, वहाँ पर वर्णन का प्रभाव चाहे जैसा हो अलंकार नहीं मान सकते। सुधांशुजी का इस विषय में निम्नलिखित कथन महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं —

जिस अलंकार विधान में कल्पना की सहायता नहीं रहती उसमें अलंकार मानने या मनाने का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। भाव की महत्ता स्वतंत्र रहने में ही है। कभी कभी उसे अपनी स्थिति को तीव्र रूप में प्रकट करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है, वहीं उसमें अलंकारत्व मिलता है। स्मरण, भ्रम, सन्देह, विषाद, तिरस्कार आदि हृदय की वृत्तियाँ हैं। इनमें अलंकार मानना इनके प्रकृत रूप का निरादर करना है।''[2] सचमुच जैसा भाव हो वैसा ही वर्णन, उस वर्णन में कोई कल्पना का चमत्कार न रहने पर अलंकार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। इसी कारण कुछ विद्वानों ने स्मरण[3], भ्रम, सन्देह आदि की परिभाषाएँ ऐसी की हैं कि उनमें कल्पना का चमत्कार आ जाता है। तब उनमें अलंकारत्व अवश्य है, अन्यथा नहीं। अलंकार का कार्य वर्णन के प्रभाव को तीव्र करना है, अतः जहाँ वर्णन किसी भी प्रकार से ढंग की विशेषता रखता है वहीं अलंकार है।

सुधांशु जी प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत का जुटाना ही अलंकार का मुख्य तत्व मानते हैं। प्रस्तुत के साथ ऐसे अप्रस्तुत को उपस्थित करना जो हमारे भाव या कल्पना का आधार हो, अलंकार के लिए आवश्यक होता है। मुख्य अलंकार इसी को लेकर चलते हैं। सादृश्य या साधर्म्य का आधार ग्रहण करके ही प्रायः अप्रस्तुत का आयोजन किया जाता है। इस दृष्टि से शुद्ध अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप आदि ही हैं। आधुनिक

---

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृ० ८६।

२ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' ,, ८६।

३ दृष्टिए मिश्रबन्धु का 'साहित्य पारिजात' भ्रम, सन्देह आदि की परिभाषा, तथा दूलह का 'कविकुलकंठाभरण'।

भाव अभिव्यंजना में उपमा दो विशेष रूपों में प्रयुक्त हो रही है, एक तो मूर्त की सूक्ष्मतापमा के रूप में जिसमें स्थूल वस्तु का सादृश्य किसी सूक्ष्म और रूपहीन वस्तु से दिया जाता है और दूसरा सूक्ष्म की मूर्तोपमा के रूप में जिसमें रूपहीन सूक्ष्म पदार्थ या भाव आदि का सादृश्य साकार और स्थूल वस्तुओं से दिया जाता है। ये दोनों ही अभिव्यंजना के प्रभाव शाली ढंग हैं जिन्हें आधुनिक कवियों ने अपनाया है।

सुधांशु जी ने प्रतीक और उपमान दोनों का संक्षेप में भेद बताया है। प्रतीक में सादृश्य न रहते हुए, परम्परा और रूढ़ि के बल पर हमारे विशेष प्रकार के भावोद्बोधन की शक्ति रहती है, पर उपमान सादृश्य के आधार पर ही टिकते हैं। और उनके लिए परम्परा का बल रहना आवश्यक नहीं वे नित्य नवीन रूप में आ सकते हैं। कभी कभी कुछ उपमान प्रतीक रूप में भी आ जाते हैं पर उनका महत्व देश, काल के अनुसार बदलता रहता है। भावाभिव्यंजना में दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार 'काव्य में अभिव्यंजना वाद' पुस्तक में अभिव्यंजना के कुछ आधारों और साधनों पर ही विचार हुआ है, उसका पूर्ण विवेचन नहीं है।

'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त'

लेखक ने इस पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जीवन के तत्वों और काव्य के तत्वों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य की प्रेरणा, प्रकृति और प्रवृत्तियाँ जीवन द्वारा ही निर्दिष्ट हुआ करती हैं। लेखक ने दस अध्यायों में अपने अध्ययन को स्पष्ट किया है। छः अध्यायों में सम्बन्ध निरूपण का प्रयत्न है। सातवें में लय और छंद का वर्णन है और आठवें नवें और दसवें अध्यायों में उनकी स्वाभाविक काव्य प्रवृत्तियों और कवियों के विश्लेषण द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न है। काव्य पर बड़ी मार्मिकता और सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है। प्रथम अध्याय, भाव विन्यास और जीवन पर है इसमें लेखक ने जीवन के मूल दो भावों, सुख दुःख को माना है। इन्हीं भावों से राग और द्वेष वृत्तियों की उत्पत्ति होती है और जो धीरे धीरे आश्रय और आलम्बन की विशेषता के अनुसार अनेक भावों का रूप ग्रहण करती है। जीवन में जो ये दो तत्व हैं वही, साहित्यशास्त्र में भी रसपद्धति इन्हीं दो तत्वों पर निर्भर करती है। श्री सुधांशु जी ने लिखा है कि विशिष्ट के प्रति राग, सम्मान हो जाता है, समान के प्रति, प्रीति और हीन के प्रति करुणा और इसी प्रकार द्वेष भी विशिष्ट के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० ६०।

और हीन के प्रति दर्प का रूप ग्रहण करता है।[1] काव्य में जीवन के अनेक भावों का दिग्दर्शन तभी सम्भव है जब कि उसको काफी दूर तक गतिशील दिखाया जाय। जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक रूप के बिना मनुष्य के हृदय में भावों का आन्दोलन नहीं होता। भाव की सफलता काव्य में तभी होती है जब वह सामान्य जीवन का स्पर्श करता हुआ चलता है।[2]

सुधांशु जी ने जहाँ, अपने इस विचार द्वारा कवि को सामान्य जीवन से स्पर्श करते हुए भाव विन्यास उपस्थित करने की आवश्यकता बताई है, वहीं उन्होंने इसको भी स्पष्ट कर दिया है कि कवि का विशिष्ट कार्य क्या है। जन साधारण मनुष्य के बाह्य जगत् का ज्ञान रखते हैं उसके सौंदर्य का उपभोग भी करते हैं, पर कवि का काम साधारण जनों के उसी अनुभव और ज्ञान की नींव पर मनुष्य और जगत् की अन्तःप्रकृति के सौन्दर्य को सामने रखना है। कवि रूप-सौन्दर्य के साथ गुण सौन्दर्य का भी चित्रण करता है।[3] अतः कवि के दोनों कर्म जीवन से ही प्रेरणा पाते हैं। रस-वर्णन में अनुभवों का जो निरूपण होता है वह भी एक प्रकार से मनुष्य के कर्मविधान के अन्तर्गत है। कर्म में धर्म का बड़ा हाथ रहता है और धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण में पूर्व और पश्चिम की धारणाओं में अन्तर है इसी कारण कर्म में, और अन्त में जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भी अन्तर हो जाता है। इच्छापूर्वक कर्म नियोजन ही जीवन है। भाव और विचार से जीवन की सत्ता पृथक् नहीं है।[4] अतः भावों की सच्चाई और सत्यनिष्ठा के साथ कर्म करने वाला व्यक्ति सच्चा जीवन बिता सकता है, जबकि प्रतिभावान व्यक्ति भी इनका उपभोग न करने पर सच्चे जीवन का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः कवि को प्रतिभा-सम्पन्न होने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी भावों की सच्चाई के साथ, सच्चे और उच्च जीवन के परिचय की। प्रेमचन्द में उतनी प्रतिभा न थी जितना सच्चे जीवन का अनुभव। यही भावों की सच्चाई काव्य में यथार्थ प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। जीवन सुख दुखमय है। अतः काव्य में भी यथार्थ में किसी एक भाव का ही चित्रण कर प्रभाव नहीं डाला जा सकता है। श्री सुधांशु जी का कथन है कि—

जीवन के साथ विषाद का सम्बन्ध उतना गहरा है जितना आनन्द का। काव्य का आनन्द जीवन का स्वार्थ है परन्तु यह स्वार्थ, परमार्थ की परिधि के भीतर रहता आया

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ६।
२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ८, ६।
३ ,, ,, ,, ,, ,, ,, १०।
४ ,, ,, ,, ,, ,, ,, १२।

है। स्थायी आनन्द वृत्ति जब जगत् और जीवन के किसी आधार को पाकर जाग्रत् होती है तब प्रफुल्लता होती है और विषाद वृत्ति में मुँभलाहट"[1] अतः दोनों भावों का वर्णन आवश्यक है। इस प्रकार हमारे काव्यगत भावों का जीवन की यथार्थता से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

भावों का जीवन से सम्बन्ध है और भावों का काव्य से भी। मानव जीवन एक सामाजिक जीवन है। अब यदि काव्य का जीवन से सम्बन्ध है तो उसका समाज से भी सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस विचार को स्पष्ट करते हुए लेखक ने प्रतिपादित किया है कि काव्य की उपयोगिता और आनन्द दो समाज के साथ है। इसके साथ ही साथ हमारे जितने भी भाव हैं वे सब समाज पर ही अवलम्बित है। क्षमा, क्रोध, उत्साह, करुणा, प्रेम आदि भाव मनुष्य में स्वाभाविक होते हुए भी उनकी सत्ता समाज में ही प्रकट होती है और समाज में ही उनका पोषण होता है।[2] अतः काव्य का जीवन से पूर्ण सम्बन्ध है। काव्य प्रकृति का जीवन के वातावरण से भी सम्बन्ध है क्योंकि किसी भी व्यक्ति या समाज के गुणों या अवगुणों अथवा उसके प्रति भावों के प्रकाशन के लिए साधन और उपकरण के रूप में आसपास का वातावरण भी महत्व रखता है। किसी को भला, बुरा महात्मा या दुरात्मा कह देने से ही काम नहीं चलता। उसे सिद्ध करने के लिए पूरी परिस्थिति का चित्रण आवश्यक है अतः काव्य की प्रकृति का विस्तार जीवन के यथार्थ वातावरण में ही होना सम्भव है।

परन्तु इसके साथ ही साथ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि जीवन का काव्य से अनिवार्य सम्बन्ध है फिर भी सब का सब जीवन काव्य में नहीं उतर सकता। काव्य के विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार, आवश्यक चरित्र के विकास का ध्यान रखकर जुटाई गई परिस्थितियों के अनुकूल, कवि बहुत कुछ जीवन की बातें छोड़ देगा और बहुत कुछ उससे चुन लेगा। यह चुनाव, हमारे विशेष भावों के सहारे प्रतिभा और कल्पना किया करती हैं। पर यह चुनाव होगा मानव जीवन से ही, उसके बाहर नहीं।

इसके पश्चात् लेखक ने इस बात पर विचार किया है कि आत्मभाव का काव्य-विधान के अन्तर्गत क्या स्थान है? जीवन का काव्य से सम्बन्ध है और आत्मभाव तो कवि का सबसे अधिक परिचित जीवन का अंश है। अतः वह तो काव्य में रहेगा ही और उसका

---

१ जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ४०।

२ ,, ,, ,, २२।

होना लेखक के इस सिद्धान्त को और भी स्पष्ट करता है कि काव्य का जीवन से अनवरत और अनिवार्य सम्बन्ध है। लेखक का विश्वास है कि सृष्टि में ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है, वही काव्य में कवि की रहती है।[1] वह व्याप्त तो है पग पग में पर वह भी लक्षित नहीं होता। यह बात सत्य है पर बहुत कुछ द्रष्टा पर निर्भर करती है, जो यथार्थ द्रष्टा हैं वे कवि को भी इसी प्रकार ढूँढ़ लेते हैं जैसे तत्त्वदर्शी सृष्टि के बीच ईश्वर को। इसी प्रसंग में लेखक ने काव्य के उद्देश्य की ओर भी संकेत किया है। वह कहता है कि कवि अथवा कलाकारों से हम ज्ञान प्राप्त नहीं करते हैं, वरन् उनसे तो हम शक्ति ग्रहण किया करते हैं, प्रेरणा प्राप्त करते हैं। हमारे हृदय के अन्तर्गत छिपे हुए शक्ति के अर्द्ध विकसित अंकुरों को प्रस्फुटित कर देना सच्चे कलाकार का काम है।[2] काव्य से हम शक्ति प्राप्त कर आत्मविकास कर सकते हैं। केवल ज्ञान सूचना मात्र है।

" इस प्रकार लेखक की दृष्टि से काव्य का स्थान ज्ञान से ऊँचा है। सम्भव है कि इस निष्कर्ष से सभी सहमत न हों, क्योंकि प्रत्येक काव्य में उस शक्ति को विकास देने की सामर्थ्य नहीं मिलती जो ज्ञान से ऊँची कही जा सके। अतः या तो अभी तक के काव्य को बदला जावे या काव्य की इस परिभाषा को, पर इतना तो सत्य है ही कि काव्य में य गुण होने से वह उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण हो जाता है। आत्मभाव और काव्य विधान का एक और सम्बन्ध दिखाते हुए सुधांशु जी ने लिखा है कि "कलाकार वस्तुतः उन दृश्यों का चित्रण नहीं करता, प्रत्युत अपने हृदय की उन वृत्तियों का विश्लेषण करता है जो उन दृश्यों के योग से उद्भूत होती हैं"[1] अतः दृश्यों के चित्रण में भी कवि की आत्मभावना प्रधान है। दृश्य तो सभी के देखे हैं, पर कवि की विशेष दृष्टि से, उसके उन दृश्यों के प्रति विशेष भाव से जहाँ पर हम दृश्यों का दर्शन करते हैं वहीं पर कवि का भाव भी समझते हैं। अतः काव्य में आत्मभाव की उपस्थिति ही वर्णन या चित्रण में एक नवीनता और ताज़गी भर देती है। तीसरी बात इस प्रसंग में यह है कि हम सूचना या नवीन अनुभव को तुरन्त व्यक्त नहीं कर सकते, भाव के रूप में पकने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है, बुद्धिग्राह्य विषय को भाव रूप बनाने में कुछ समय लगता है।[3] बस इसी बीच में काव्य के अन्तर्गत आत्मभाव का समावेश होता है। इस सम्बन्ध में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि यह समय ऐसा ही होता है जैसा अचार उठने का

---

१ जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ४४।

२ ,, ,, ,, , ,, ४५।

जिससे अधिक समय पर वह भाव फिर विलीन हो जाता है और जिसके पहले उसका सुन्दर रूप नहीं बन पड़ता।[1] नवीन सूचना या अनुभव, भावगत काव्यात्मक रूप ग्रहण करने पर परिस्थिति, अवसर और समय के अनुकूल सिर उठाते हैं और वही उनके प्रकाशन का उपयुक्त समय होता है। ये तीनों बातें जिससे कि काव्य-विधान में आत्मभाव की सत्ता प्रकट होती है, यह सिद्ध करती है कि काव्य-जीवन से आन्तरिक रूप में भी सम्बधित वस्तु है, केवल बाह्य रूप में ही नहीं।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने काव्य के रस का सम्बन्ध मन के ओज के साथ दिखाया है। सुधांशु जी की धारणा है कि मनुष्य को काव्यगत आनन्द, मन के ओज के अनुसार ही मिला करता है। इसीलिए मन की ओजपूर्ण अवस्था में काव्य का आनन्द अधिक और हीन अवस्था में कम मिलता है। काव्य का पाठक यह समझता है कि आनन्द उसे काव्य से मिल रहा है, पर मिलता उसे अपने ही मन के ओज से है।[2] हाँ, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मन के ओज को जाग्रत करने की क्षमता काव्य में अवश्य होनी चाहिए। लेखक के अपने विश्लेषण के अतिरिक्त इसे हम इस रूप में समझ सकते हैं कि जैसे, अग्नि, ईंधन के अनुसार ही प्रज्वलित होती है। प्रबल अग्नि की प्राथमिक आवश्यकता है, पर ज्वाला को प्रज्वलित रखने के लिए ईंधन की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य की अग्नि के लिए मन के ओज का ईंधन आवश्यक है। इसको और ठीक रूप देकर हम कह सकते हैं कि काव्य की दीपशिखा के लिए मन के ओज का मधुर स्नेह वाञ्छनीय है। अतः आनन्द मन के ओज के कारण है। काव्य में आनन्द भरा नहीं रहता। काव्य हमारे अन्तर्गत आनन्द को जाग्रत करता है। यदि काव्य में आनन्द हो तो एक ही काव्य को पढ़कर सदा आनंद प्राप्त कर लिया जा सके पर ऐसी बात नहीं है। एक या दो बार के पश्चात् उस काव्यखण्ड में मन के ओज की उकसान की वह क्षमता नहीं रहती। मन के साथ काव्य के रस को सम्बन्धित करके लेखक ने अपने इस सिद्धान्त को कि 'जीवन और काव्य का सम्बन्ध है' पुष्ट किया है।

इस सम्बन्ध में यह भी सत्य है कि जिसके पास मन का ओज अधिक होगा, उसको काव्य का आनन्द अधिक मिल सकेगा। मन के ओज को संचित करने के लिए शान्ति,

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ ६८।

२ ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ७१।

विश्राम और शक्ति की आवश्यकता है। बिना विश्राम के मन का ओज व्यय होता रहता है, और बिना शक्ति या परिश्रम के उसका अर्जन नहीं होता। परिश्रम की आवश्यकता एक रसता को दूर करने के लिए भी है। सौंदर्य क्षण क्षण नवीन होता है अतः इस नवीनता को ग्रहण करने के लिए एक सा विलासी जीवन समर्थ नहीं होता है और न इसी प्रकार अत्यधिक परिश्रमशील जीवन ही। अतः दोनों का ही ध्यान रखना आवश्यक है। नवीनता लाने के लिए काव्य में वैचित्र्य या चमत्कार की आवश्यकता पड़ती है। जगत के सत्य को कुछ विचित्र रूप में व्यक्त करके भी नवीनता या चमत्कार उपस्थित किया जाता है। पर काव्यगत इस चमत्कार का महत्त्व तभी तक रहता है जब तक कि यह पाठक या श्रोता के हृदय में सत्य की प्रतीति उत्पन्न कर सकता है। अतः इस विषय में लेखक का निरीक्षण बड़ा सुन्दर है। वह कहता है —"काव्य और चमत्कार दोनों में अंतर है और यह अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य को एक प्रतीति के रूप में लेकर हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते हैं, किन्तु वैचित्र्य या चमत्कार के समय हम अपना मौन भंग कर 'वाह वाह' कह उठते हैं।"[1]

यहाँ पर इतना मानना चाहिए कि चमत्कार और 'वाह वाह' के साथ भी जब काव्य का प्रभाव रहता है तब तन्मयता भंग नहीं होती पर केवल 'वाह वाह' में तो अवश्य ऐसी क्षमता नहीं रहती। उसका उद्देश्य तो आश्चर्ययुक्त करना ही है।

सुधांशु जी का इस विषय में रसवादी दृष्टिकोण ही है क्योंकि वे काव्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं मानते वरन् मनोरंजन को वे काव्य का साधन मात्र मानते हैं।[2] उनके विचार से काव्य का अन्तिम उद्देश्य जगत् के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापित करना है। इस दिशा में मनोरंजन का अपना महत्व है। वह काव्य के पाठक को एक आकर्षण उपस्थित करता है और उस भाव भूमि पर पहुँचा देता है जहाँ से तादात्म्य सम्भव है। अतः काव्य में महत्त्व होते हुए भी उसे उद्देश्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

---

१ यह निष्कर्ष यथार्थ में उस सिद्धांत से सम्बन्ध रखता है जिसमें कि अभिनवगुप्त के आधार पर विद्वानों ने माना है कि रसास्वादन हमारे भीतर उपस्थित वासनाओं को उकसाने पर होता है।

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ ७१, तुलना कीजिए :—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥
—मैथिली शरण गुप्त।

'काव्य का अर्थबोध' नामक प्रसंग में 'सुधांशु' जी ने काव्य में बुद्धि की अग्राह्यता और हेत्वाभास के महत्त्व पर विचार किया है।[१] बुद्धि की अग्राह्यता होने पर भी हमें काव्य के कुछ स्थल रमणीय लगते हैं। तर्क या विचार की दृष्टि से जिसमें कोई तत्त्व नहीं होता, उनमें काव्यगत प्रभाव है। इसी प्रसंग में उन्होंने प्राचीन साहित्याचार्यों के व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ से वाच्यार्थ को अधिक सरस माना है। इसमें वह यह प्रतिपादित करते हैं कि व्यंग्यार्थ से या लक्ष्यार्थ से जो अर्थ ग्रहण होता है वह उतना रमणीय नहीं होता, जितना वाच्यार्थ। यह बात सत्य है पर इसमें प्राचीन आचार्यों का मत खंडित नहीं होता, जो कहते हैं कि व्यंजना में अधिक रमणीयता होती है, अभिधा में कम। यहाँ पर उनका तात्पर्य है वह वाच्यार्थ जिसमें कोई व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ न हो। व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ का तात्पर्य वह वाच्यार्थ नहीं जो व्यंजना को स्पष्ट करके प्राप्त होता है, वरन् वह व्यंग्य अर्थ है जो अभिधा के साथ साथ ही संकेत रूप में विद्यमान रहता है। स्पष्ट करने या खोलकर रख देने पर तो वह वाच्यार्थ से अधिक मूल्यवान नहीं रह जायगा। अतः लक्षणा और व्यंजना में अधिक रस होता है। वह वाच्यार्थ अधिक आनन्ददायी है जिसमें लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ छिपा हुआ है। हेत्वाभास की रमणीयता तो स्वयं सिद्ध है ही। हेतूत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य ही यही है। बुद्धि द्वारा हेतु चाहे अग्राह्य हो पर इस काल्पनिक अहेतु में हेतु का सम्बन्ध काव्योक्ति को रमणीय अवश्य बना देता है। जायसी में हमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस प्रसंग में सुधांशु जी की यह धारणा भी सत्य है कि कला में कल्पना चाहे भले ही हो पर स्पष्टता अवश्य होनी चाहिये।

काव्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार करते हुए सुधांशु जी ने यह सिद्ध किया है कि काव्य की प्रधान प्रेरणा, आत्मसुख या आत्मविस्तार है। काव्य के जो अन्य अनेक हेतु संस्कृत कवियों ने माने हैं[२]। उन सबके मूल में भी प्रधान रूप से यही आत्मसुख की ही भावना विद्यमान है। उनका कथन है कि यश, कीर्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की सुखलिप्सा छिपी हुई है।[३] यशार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशंसा है। अपनी प्रशंसा यश और कीर्ति आदि में आत्मसंतोष की भावना है। इसी प्रकार द्रव्यप्राप्ति के अन्तर्गत

---

१ 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० ८२, ८३।

२ "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"
—मम्मट, काव्यप्रकाश।

३ 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ १२८।

भी आत्मसुख और आत्मविस्तार की भावना छिपी हुई है, क्योंकि धन की प्राप्ति आत्मसुख के एक साधन के रूप में ही अभिवांछनीय है। आत्मविस्तार की भावना के भीतर आत्म सुख ही रहता है। क्योंकि काव्य में आत्मविस्तार की भावना प्रमुख है। "काव्य में मनुष्य अपने आत्मविस्तार के द्वारा समस्त मानवता को एक सामान्य कोटि के भीतर लाता है। साधारणीकरण का यही काव्यगत तात्पर्य है।[1] इस आत्मविस्तार की भावना की ही सिद्धि में कवि सम्पूर्ण प्रकृति, विश्व और प्राणियों में तादात्म्य ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में लेखक की धारणा बड़ी स्पष्ट है। उसका कथन है —"काव्य जीवन प्रकृति का अन्तदर्शन है उसकी अनुभूति है। यह अनुभूति कोई भावुकताजन्य स्फूर्ति नहीं, न कोई आध्यात्मिक कल्पना है बल्कि अखण्ड मानव जीवन के यथित्व की अनुभूति है।"[2] अत काव्य की इस धारणा के अनुसार आत्मविस्तार की भावना कवि की प्रमुख भावना है। पर उसके भीतर भी इस आत्मविस्तार के रूप में काव्य प्रेरणा के भीतर भी, प्रधान कारण आत्मसुख है। इस को गोस्वामी जी ने 'स्वान्तःसुखाय' कह कर व्यक्त किया है। पर यहाँ भी एक प्रश्न उठ सकता है कि काव्य के भीतर परान्तःसुख और जनहित की भावना जो रहती है, उसका क्या रहस्य है? सुधांशु जी के विचार से यह जनहित भावना, करुणा, दया सहानुभूति आदि की भावना भी स्वान्तःसुखाय का ही रूप है। दूसरों के दुःख को देखकर हमारे भीतर जो संवेदना जाग्रत होती है उसको दूर करने के लिए ही, उस संवेदना के कष्ट से मुक्ति पाने के लिए ही, हम दूसरों पर करुणा, दया या उपकार आदि करते हैं। अतः जनहित में भी आत्मपरितोष ही है। इस आत्मसुख का आत्मविस्तार के साथ लगाव है, जबकि अन्य स्वार्थों के साथ जो जनहित विरोधी हैं, आत्म विस्तार का नहीं, वरन आत्मसंकोच का सम्बन्ध है। अत काव्य की मुख्य प्रेरणा आत्मविस्तार के साथ आत्मसुख की भावना है।

'लय और छन्द' के प्रसंग में सुधांशु जी ने आजकल की मुक्तछंद या छंदमुक्ति की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है और इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि छन्द चाहे जितने नवीन हों या नए रूप धरकर आवें, कविता से लय का बलिदान नहीं किया जा सकता। अनेक छन्द, जीवन के स्वाभाविक उल्लास और विषाद की गति और स्पन्दनों के साथ चलते हैं। हमारी यथार्थ भावनायें भी जिन स्वाभाविक छन्दों में अपना प्रभाव-पूर्ण

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृष्ठ ६८।

२ " " " " पृष्ठ १३।

प्रकाशन प्राप्त करती हैं, कवि का काम उन्हीं स्वाभाविक छन्दों का ढूँढना है, छंदों को विलांजलि देना नहीं। स्वच्छन्दता और मुक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ तक तो प्रत्येक प्रकार के प्रकाशन में कहीं व्याकरण का, कहीं गति का, कहीं एक और कहीं दूसरा बन्धन तो रहता ही है पर वही अभ्यास या अनुभूति-द्वारा सुविधाजनक हो जाता है। कवि की प्रतिमा का भी निर्णय उपयुक्त छन्द के चुनाव और उसके स्वाभाविक निर्वाह में हो जाता है। छन्द में प्रकाशन की स्वाभाविक शक्ति होती है, उसके लिये पिंगल का ज्ञान या छन्द के लक्षण ज्ञान की आवश्यकता नहीं। छन्द के विषय का सहज ज्ञान ही प्रयोग में लाकर स्वच्छन्दता का परिचय दिया जा सकता है। छन्द का सम्बन्ध जीवन की मनोवृत्तियों से है और उन्हीं का स्वाभाविक ज्ञान कवि को होता है। हाँ, छन्द का उपयोग पांडित्य प्रदर्शन के लिए करना और छन्द-निर्वाह के लिए भावों की हत्या करना, हानिप्रद है। छन्द जीवन की स्वाभाविक गति से सम्बन्ध रखता है। उसकी कृत्रिमता बनाने से बनती है, अन्यथा नहीं। सुधांशु जी का इस विषय में निम्नांकित निष्कर्ष वर्तमान काव्य के हेतु बड़ा ही स्वास्थ्यकर है —

'महाकाव्य में भिन्न भिन्न प्रकार के छन्दों के व्यवहार की जो परिपाटी है वह कवि के पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं, प्रत्युत जीवन-व्यापी भिन्न भिन्न भाव-विचार की अभिव्यक्ति को अनुकूल मार्ग देने के लिए। लय और छन्द के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय, तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है और कवि को अनुरूप कीर्ति प्राप्त होती है।'[1]

इस प्रकार जितने भी काव्य के उपकरण हैं सभी का जीवन से सीधा सम्बन्ध है। ग्रामगीत जीवन के स्वाभाविक गान हैं जो बिना प्रयास कंठों से निस्सरित हुए हैं। उनके अन्तर्गत काव्य के विद्यमान् तत्व यह सिद्ध करते हैं कि काव्य जीवन का ही प्रकाशन है और कुछ नहीं। ग्रामगीत सम्भवत जातीय आशुकवित्व है जो भाव की उमग म बहा है।[2] ग्रामगीत हृदय की वाणी है, जीवन के उल्लास और वेदना की मधुर धारा है। इस जीवन के स्वाभाविक उद्गारों में ही भारतीय जीवन का यथार्थ दर्शन होता है। कलागीतों में उस जीवन के कुछ संस्कृत, शिष्ट और रूढ़ रूप ही देखने को मिलते हैं। पर उन की प्रवृत्तियाँ भी यह सिद्ध करती हैं कि काव्य जीवन को छोड़कर सफल नहीं।

कलागीत की प्रवृत्तियों पर विचार कुछ अधिक विस्तार के साथ है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर सबसे पहली प्रवृत्ति जो कलागीतों में अभिव्यक्त है वह है युद्ध और प्रेम।

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० १७३।

२ ,, ,, पृ० १७५।

यह एक साथ भी है और युद्ध और प्रेम दो अलग अलग प्रवृत्तियों के रूप में भी है। वीर गाथा युग के बाद युद्ध की प्रवृत्ति की परिस्थिति अधिक अनुकूल न रह गयी। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रकाशन हम रीतिकाल में भी यत्र तत्र मिलता है जिसमें प्रेम की प्रवृत्ति का विकास हुआ। भक्तिकाल में इस प्रवृत्ति को अलौकिक आलम्बन प्राप्त हुए और निर्गुण और सगुणवाद के रूप में कलागीतों को अपने पूरे प्रकाशन का अवसर मिला। रीतिकाल में फिर लौकिक आलम्बन साथ चले और नायिका भेद प्रमुख अंग रहा। इसके अन्तर्गत स्त्री, प्रमुख रूप से गीतों का आधार बनी। यद्यपि सगुण भक्ति धारा के साथ साथ सामंजस्य और उसकी परम्परा के कारण कृष्ण का भी नाम है, पर सामान्यतः कृष्ण और राधा को लेकर भी नायक नायिकाओं का ही वर्णन रहा। नायिका का विशेष रूप में। स्त्री को पुरुष ने अनेक भावनाओं के रूप में देखा अतः उसी का विशेष वर्णन है। इस विषय को स्पष्ट करते हुये सुधांशु जी ने लिखा है कि —

"एक स्त्री शब्द ही ऐसा है जो अपनी मूल अर्थ स्थिति में है, अन्यथा इसके जितने भी काव्योपयुक्त पर्याय या समानार्थक शब्द हैं सब पुरुष की भिन्न भिन्न भावनाओं के द्योतक हैं। पुरुष की सौन्दर्य लिप्सा ने स्त्री को सुन्दरी, रमण प्रवृत्ति ने रमणी, कामना ने कामिनी, प्रेम ने प्रिया, प्रेमिका या प्रणयिनी, विलास ने विलासिनी बनाया। इन *शृंगारिक रूपों के अतिरिक्त, गम्भीर काव्यों में उसकी गम्भीर प्रकृति का विधान भी धर्म* सहधर्मिणी, जाया, महिला, देवी, गृहिणी आर्या आदि के रूप में किया गया है, लेकिन शृंगारिक कवियों का स्त्री के इन रूपों को देखने की क्षमता न थी।"[१] स्त्री को पुरुष अनेक भावनाओं से देखता है, पर रीति काल में उसे प्रायः विलास और प्रणय भावनाओं से ही देखा गया। अतः यही अभिव्यक्ति हमें देखने को मिलती है।

प्रकृति का रूप अनेक कलागीतों में उद्दीपन के रूप में ही रहा। वर्तमान काल में भी यद्यपि आलम्बन के रूप में प्रकृति को ग्रहण किया गया है पर भली-भाँति नहीं, क्योंकि इसी के साथ छायावादी अस्पष्ट शैली ने उसको और भी विचित्र रूप दे दिया। अतः प्रकृति का आत्मविभोर कर देने वाला रूप हम प्राप्त नहीं हो सकता। छायावाद की प्रवृत्ति भी कलागीतों के सम्बन्ध में बड़ी महत्व की है। विषय की दृष्टि से तो प्रायः प्रकृति और प्रिय ही छायावाद के क्षेत्र में विचरण करते हैं, पर शैली की सूक्ष्मता मनोवैज्ञानिकता, भावुकतार्थ आदि विशेषता अस्पष्टता और वर्णन की विशृंखलता के साथ भी प्रिय लगी। छायावाद की प्रकृति पर विचार करते हुये सुधांशु जी ने लिखा है:—

---

१ 'जीवन तत्व और काव्य के सिद्धांत' पृ २२१।

"छायावाद की काव्यवस्तु अज्ञेय और अव्यक्त की झाँकी लेने के अतिरिक्त जीवन के किसी दूसरे क्षेत्र में प्रसारित नहीं हो सकी। वस्तु विन्यास की विशृङ्खलता रमणीय-कल्पना, चित्रविचित्र लाक्षणिक वैचित्र्य ही उनका साध्य रहा। विभाग पक्ष का आभास ऐसी कविताओं में अस्पष्ट ही बना रहा।"[१]

आधुनिक कालीन कलागीतों की राष्ट्रीयतामूलक प्रवृत्ति भी है जिसका कोई भी रूप प्राचीन काव्य में नहीं मिलता। राजभक्ति, देशभक्ति, स्वतन्त्रता, क्रांति, विप्लव आदि की भावनाओं ने इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अपना विकास पाया है। अतः इसका भी अपना और प्रमुख महत्व है।

इसके अतिरिक्त छायावादी शैली पर आध्यात्मिक संकेतों को लेकर रहस्यवादी प्रवृत्ति भी कलागीत का एक अंग बनकर आई है, पर इसका एक रूप हमें भक्ति युग में देखने को मिल जाता है। आज कल का रहस्यवाद बहुत कुछ उसका ऋणी है। रहस्यवादी प्रवृत्ति, काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण तो है पर युग व्यापी भावनाओं से आजकल उसका सम्बन्ध टूट सा रहा है। अब प्रगतिशीलता का नाम देकर आजकल व्यापक भावनाओं और जीवन को काव्य का विषय बनाकर कलागीतों की सृष्टि हो रही है। इसमें मुख्य धारा, मानवता के प्रति, दलितों, पीड़ितों और कृषकों के प्रति विशेष रूप से सहानुभूति की है। काव्य का आदर्श, प्रसिद्ध पुरुष, राजा, धनिक या महापुरुष न होकर जनसाधारण हो रहा है। पर इस प्रवृत्ति का कलात्मक रूप अभी विशेष निखर नहीं पाया। प्रगतिवाद आदर्श से यथार्थ को विशेष महत्त्व देता है। अतः ऐसी दशा में यह प्रवृत्ति तो इसी निष्कर्ष पर हमें प्रतिष्ठित कर ही देती है कि काव्य का जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध है।

इस प्रकार सुधांशु जी ने इस पुस्तक में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रतिपादन की प्रणाली विशेष तर्कसंगत नहीं, पर उनके दृष्टिकोण को ढूँढ निकालना कठिन भी नहीं। पुस्तक के निबन्ध एक दूसरे से स्वतन्त्र लगते हैं। एक का दूसरे से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। प्रत्येक निबन्ध अपनी नवीन भूमिका लेकर उठता है और समाप्ति के साथ दूसरे के प्रारम्भ का सूत्र नहीं देता। पीछे की क्रमबद्धता नहीं। पर यह सिद्धान्त सभी निबन्धों में व्याप्त है कि काव्य के सिद्धान्त जीवन के तत्वों पर आश्रित हैं।

इधर पिछले दस वर्षों के भीतर काव्यशास्त्र-संबंधी कुछ अधिक महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। 'साहित्यालोचन' के बाद विद्यार्थियों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी पुस्तक बाबू गुलाब

---

१ 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पृ० २३६।

रांच की सिद्धान्त और अध्ययन" रही है। इसके अन्तर्गत काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं से सबधित अनेक विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं। ये विचार प्रौढ़ एव प्रामाणिक हैं, पर मौलिकता केवल इनके प्रतिपादन में देखी जा सकती हैं। पुस्तक का दूसरा भाग "काव्य के रूप" नाम से प्रकाशित हुआ जिसके अन्तर्गत काव्यों के भेदों का विश्लेषण है।

आचार्य रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' और 'काव्यदर्पण' नामक ग्रथों में भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का बड़ा विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। यह विचारपूर्ण ग्रथ है और इसमें काव्य की सूक्ष्म समस्याओं और उनसे संबंधित प्रश्नों का सोदाहरण विस्तारपूर्ण विवेचन और समाधान किया गया है। रामदहिन जी ने अनेक संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के मतों की निर्भीकता से समीक्षा की है। साथ ही साथ अनेक पाश्चात्य काव्य सबधी वादों पर भी प्रकाश डाला है। काव्यशास्त्र संबंधी विस्तृत सूचना के साथ साथ इन ग्रथों में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी खड़ी बोली कविता से विभिन्न अलकारों, भावों, रसों, शब्द शक्तियों आदि के सुन्दर उदाहरण इनमें दिये गये हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्यशास्त्र' भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। यह भी दो भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम में काव्य और उससे सबधित प्रसंगों की चर्चा है और द्वितीय भाग में विभिन्न काव्य सिद्धान्तों का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक विश्लेषण है। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह एक अत्यंत व्यापक, सूचनाप्रद और प्रामाणिक ग्रथ है। इसमें अनेक संस्कृत काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश और उनकी तुलना में कुछ पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों को भी देखने का प्रयत्न किया गया है। यह विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है। कठिन और जटिल विषयों को आचार्य उपाध्याय ने बड़ी सुगम शैली में स्पष्ट किया है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'वाङ्मय विमर्श' भी विद्यार्थियों की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इसका एक खंड काव्यशास्त्र से और दूसरा खंड इतिहास से सबधित है। इसमें इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही मतों का अलग अलग किन्तु संक्षिप्त विवरण दिया है। काव्यशास्त्र-संबंधी लगभग सभी विषयों पर इसमें सारभूत सामग्री प्राप्त होती है।

डा० नगेन्द्र ने काव्यशास्त्र से सबधित कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य स्वयं किया है और कराया भी है। उनके लेखों तथा भूमिकाओं में भारतीय काव्यसिद्धान्तों और पाश्चात्य काव्यसिद्धान्तों को समन्वित कर कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं। नगेन्द्र जी

मुख्यत रस सिद्धान्त मानने वाले हैं। यह रसवाद पाश्चात्य सौन्दयशास्त्र सबंधी ग्रन्थों में किस रूप म मिलता है इसका भी सकेत कहीं कहीं किया गया है। सस्कृत के आचार्यो वामन, कुन्तक, आनदवधन आदि क ग्र थों का हिन्दी में अनुवाद कराकर तथा उनकी भूमिकाओं में इन सिद्धान्तों का परिचय देने और आधुनिक दृष्टि से इनका महत्व स्पष्ट करने का इनका प्रयत्न स्लाघनीय है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' 'भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा', अरस्तू का काव्य सिद्धांत' तथा 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति' आदि ग्रन्थों में आये तथा निबधों में प्रस्तुत इनके विचार महत्वपूण हैं।

भगीरथ मिश्र द्वारा लिखित 'काव्यशास्त्र' नामक ग्रथ भी काव्य क स्वरूप तथा भेदों, अगों और उसके सिद्धान्तो की प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत करने वाला ग्रथ हैं। प्रत्येक प्रसग में लेखक ने अपने मौलिक विचारों-द्वारा पूवन्ती सिद्धान्त को आग बढ़ाने का माग स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। काव्य क तत्व, काव्य सृजन की प्रक्रिया, काव्यालोचन के मानदड तथाकाव्य के प्रेरक सामाजिक तत्व आदि प्रसगों में लेखक की नवीन विचारधारा देखी जा सकती है।

इधर केवल आलोचना को लेकर लिखे गये ऐतिहासिक दृष्टिकोण से डा० भगवत स्वरूप मिश्र का 'हिन्दी आलोचना उदभव और विकास' महत्वपूण ग्रथ है। 'आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त' डा० एस० पी० खत्री लिखित एव 'पाश्चात्य समालोचना के सिद्धान्त' श्री लीलाधर गुप्त लिखित, पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों और सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाले महत्वपूण ग्रथ हैं।

आचाय सीताराम चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत 'अभिनव नाट्यशास्त्र' तथा समीक्षा शास्त्र' वृहत्काय ग्रथ नाटक और साहित्य के विविध विषयों पर चतुर्वेदी जी की व्यापक एव अधीन सूचना के परिचायक हैं। पर इनमें सदर्भ ग्रंथों की प्रामाणिकता का अभाव है।

डा० गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' तथा डा० रामलाल सिंह के 'समीक्षादशन' ग्रथ भी उल्लेखनीय हैं। अलकारों के इतिहास को लेकर लिखा गया डा० ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ का ग्रथ 'हिन्दी काव्य में अलंकार' अलंकार का इतिहास सा प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी में इधर काव्यशास्त्र से सबंधित विषयों पर विस्तृत सामग्री प्रस्तुत की जारही है।

५

कवियों की स्वच्छन्द रचनाओं में प्राप्त काव्यादर्शों का अध्ययन

१ पूर्वकालीन कवियों का काव्यादर्श

वर्तमान काल में आलोचना के ग्रन्थों में ही काव्य सम्बन्धी विचारों को देखने का हमारा अभ्यास पड़ गया है, किन्तु कभी कभी कवि की कविता में ही उसका काव्यगत आदर्श एवं विचार छिपा मिल जाता है। हिन्दी साहित्य में कविता से अलग आलोचना आधुनिक काल की देन है। इस प्रकार के केवल आलोचना-सम्बन्धी लेख हम पुराने साहित्य में अलग नहीं मिलते हैं, किन्तु जहाँ तहाँ बड़े बड़े कवियों के काव्यग्रन्थों में ही ऐसे कथन देखने को मिल जाते हैं जो उनके काव्य-सम्बन्धी आदर्शों को प्रकट करते हैं। छोटे बड़े सभी लेखकों की कविता से ऐसे वाक्य छाँटना बड़ा कठिन काम है और फिर सभी में कोई नवीनता भी मिलने की सम्भावना नहीं। परन्तु, बड़े बड़े कवियों की कविता से उनका काव्य सम्बन्धी तथा कलापरक आदर्श खोजना काव्य के स्वभाव की परख के लिए आवश्यक है। उसका महत्व हिन्दी काव्यादर्शों के विकास के अध्ययन में तो और भी अधिक है। जैसा कि कहा जा चुका है इसके लिए कवियों की रचनायें भी वैसे ही महत्व की हैं जितनी उन पर की गयी आलोचनायें।

हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्य में कविता का आदर्श या तो धार्मिकता से भरा हुआ है या वीर पुरुषों और राजा महाराजाओं की प्रशंसा से और उसका कला सम्बन्धी आदर्श संस्कृत काव्य या संस्कृत काव्यशास्त्र है। वीरगाथा युग की कविता राजाओं की वीरता की प्रशंसा तथा उनके शृंगारिक क्रियाकलाप से भरी है और उसकी वर्णन-पद्धति पर रामायण महाभारत एवं संस्कृत के काव्यशास्त्र तथा कवि शिक्षा के ग्रन्थों का प्रभाव है। महाकवि

चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' ऐसा ही ग्रंथ है तथा अन्य 'रासो' ग्रंथ भी इसी पथ के अनुसरण करने वाले हैं। चन्द 'पृथ्वीराज रासो' के प्रथम समय (३१ वें छन्द) में लिखते हैं:—

"उक्ति ध विसालस्य। राजनीति नव रस।
षट्भाषा पुराण च। कुरान कथित मया॥"

इस उद्देश्य से स्पष्ट है कि 'पृथ्वीराज रासो' में सभी प्रकार के ज्ञान व व्यवहार की चर्चा है जैसाकि महाभारत म ह। उसम धर्म, राजनीति के वर्णन का ध्येय तथा नवों रसों से उन्हें युक्त करना है। 'पृथ्वीराज रासो' है भी वर्णन प्रधान। कला-सम्बन्धी वर्णन का समन्वय उसमें कम है। मनमाना वर्णन अधिक है, किन्तु फिर भी 'पृथ्वीराज रासो' ऐसे ग्रंथ की उत्पत्ति, विशाल प्रतिभा और व्यापक कल्पना द्वारा ही हो सकती है।

चन्द बरदाई के पूर्व भी सिद्ध और जैन कवियों में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी कोई विशेष विचार नहीं मिलते, पर हम कह सकते हैं कि सिद्धों का उद्देश्य तो सरल बोलचाल की भाषा में रहस्यवाद, तंत्र, हठयोग अथवा खंडन-मंडन के उपदेश देना था। काव्य-सम्बन्धी कोई अन्य आदर्श उनके पास नहीं था, पर पुरानी हिन्दी के कुछ अन्य कवियों का निश्चय रूप से काव्य-सम्बन्धी आदर्श वही था जो चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' में है। अथवा इससे भी अधिक वे साधारण जनता की बातों जैसे गरीबी, आदि का वर्णन भी करते थे, पर बहुत से कवि[1] वही संस्कृत-कवियों के काव्य और काव्यशास्त्र का ही आदर्श रखते थे और रामायण महाभारत आदि ग्रंथ ही उनके आदर्श थे। इस आदर्श पर चन्द के पूर्व भी बड़े उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे गये हैं, जैसे:—स्वयंभू कवि के रामायण हरिवंशपुराण तथा पुष्पदन्त के महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ आदि। इनमें स्वयंभूदेव ने तो तुलसीदास की भाँति ही अपनी दीनता और काव्य-विद्या से अनभिज्ञता प्रदर्शित की है, यद्यपि उनकी रचना में काव्य के उत्कृष्ट गुण प्राप्त होते हैं। अपने आत्मपरिचय में वे लिखते हैं —

"बुहयण सयंभु पइँ विण्णवइ। महु सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ।
वायरणु कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति सुत्त वक्खाणियउ।
णा णिसुणिउँ पंच महायकव्वु। णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु।
णउ बुज्झिउँ पिंगल पत्थारु। णउ भामह, दंडियऽलंकारु।"

---

१ देखिए पुष्पदन्त, अब्दुर्रहमान आदि की रचनायें—हिन्दी काव्यधारा,
—राहुल सांकृत्यायन।

अर्थात स्वयम्भू बुधजनों के प्रति विनती करता है कि मेरे समान अन्य कुकवि नहीं है। मैं कुछ व्याकरण नहीं जानता, न वृत्ति सूत्र का वर्णन कर सकता हूँ, न पाँच महाकाव्य सुने हैं, न भरत का शास्त्र जानता हूँ और न छन्दों के लक्षण। न पिंगल का विस्तार जानता हूँ और न भामह दण्डी के अलंकार ही।"[1] इसके साथ साथ एक बात और इनकी रचनाओं में प्राप्त होती है और वह है बोलचाल या लोकभाषा में काव्य-रचना की प्रेरणा। यही बात आगे चलकर हम विद्यापति, कबीर, तुलसी आदि में भी मिलती है। स्वयंभू ने भी इसका परिचय अपनी रामायण के वर्णन में दिया है :—

> अक्खर वास जलोह मणोहर। सुअलंकारछंद मच्छोहर।
> दीह समास पवाहा बंकिय। सक्कय पायय पुलिणालंकिय।
> देसी भासा उभय तडुज्जल। कवि-दुक्कर घण सद सिलायल।
> अत्थ बहल कल्लोला णिट्ठिय। आसा सय सम-ऊह परिट्ठिय।
> रामकहा सरि एह सोहंती। —— .. इत्यादि
>
> (रामायण, हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ २६ ।)

अर्थात अक्षर जिसमें मनोहर जलौघ (जल-समूह) हैं, सुन्दर अलंकार और छंद मछलियाँ हैं। दीर्घ समास टेढ़ा जल प्रवाह है। संस्कृत प्राकृत के पुलिन अंकित हैं। देशी भाषा के दोनों उज्जवल तट हैं। कवियों के लिए कठिन जिसमें घने शब्दों के शिलातल हैं। अनेक अर्थों वाली कल्लोलें हैं, और सैकड़ों आशाओं के समान तरंगें उठती हैं। इस प्रकार रामकथा की सरिता शोभित हो रही है।"

उपर्युक्त बातों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यादर्श इस युग में लगभग संस्कृत महाकाव्य का सा है पर लोकभाषा को महत्व देना ही एक नवीन बात है।

विद्यापति की रचना का आदर्श भी प्रेम, शृङ्गार और भक्ति का चित्रण करना था किन्तु इनमें शब्दों के प्रयोग की कला और कौशल तथा माधुर्य बड़ी उच्चकोटि का है। इनका उद्देश्य साहित्यिक था और कविता को ये ईश्वरदत्त प्रतिभा के रूप में मानते थे जैसा कि इनके यौवन को कथाओं के साथ साथ उच्छृंखलता और आग फूँकती स्त्री का वर्णन स्पष्ट करता है। कविता का प्रधान उद्देश्य हृष्ट-मदित और मनोरंजन था। कीर्तिलता के प्रथम पल्लव में उन्होंने लिखा है —

---

१ रामायण स्वयम्भूदेव (१।३) हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ २३।

बालचन्द विज्जावइ भाषा। दुहुँ नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ। ई णिच्चय णाअर मन मोहइ।

विद्यापति के विचार से नागर या रसिकों का मनोरंजन कविता का चरम उद्देश्य है। भाषा-विषयक उनका विचार 'कीर्तिलता' में व्यक्त हुआ है। यद्यपि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में भी रचनायें की हैं पर सबसे अधिक मधुरता वे प्रचलित लोक भाषा में मानते हैं।[1] इस प्रकार उनका काव्यादर्श स्वाभाविक भाषा में रस और अलंकार-पूर्ण वर्णन में प्रकट होता है।

कबीर के पास कविता के विषय में अधिक कहने को नहीं हो सकता, क्योंकि कवि उनकी दृष्टि में कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं था,[2] और न विद्वान् ही, इन सभी को वे मरा हुआ कहते हैं क्योंकि इन्होंने अमर आत्मा को नहीं पहचाना। फिर भी उनकी साखी, सबदी और रमैनी कविता हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं प्रथम यह कि कबीर कविता को एक सीमित अर्थ में ही लेते थे और द्वितीय उनके समय कविता केवल मनोरंजनार्थ ही होती थी। इसलिए इन्होंने ऐसे कवि के व्यक्तित्व से अपने को अलग रक्खा है, केवल उक्ति-विशेष या अलंकार वर्णन कबीर की दृष्टि से कविता हो सकता है, पर उसमें कोई सार नहीं रहता। उनके कथन यदि कविता हैं तो उस कविता को वे जीवन से, सत्य से और कल्याण से सम्बन्धित समझते हैं। जीवन के विषय में जो उनका दृष्टिकोण था वह उनकी रचना से स्पष्ट है। वह रचना चाहे जैसी हो, पर जैसा जीवन वे समझते थे उनकी रचना उससे सदा ही सम्बन्धित थी। उनकी कविता जीवन के कल्याण के लिए या सत्य के उद्घाटन के लिए है। वह उपदेश और स्वानुभूति प्रधान है।

---

१ सक्कय वाणी बुहयन भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा।

— कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी लगती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती अर्थात् सरस नहीं है देशी भाषा सब को मीठी लगती है, इसी से मैं अवहट्ठ में रचना करता हूँ।

२ 'कवि कवीनै कविता मुए।
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।

—(कबीर की साखी)

अर्थात स्वयम्भू सुजनों के प्रति विनती करता है कि मेरे समान अन्य कुकवि नहीं है। मैं कुछ व्याकरण नहीं जानता, न वृत्ति सूत्र का वर्णन कर सकता हूँ, न पाँच महाकाव्य सुने हैं, न भरत का शास्त्र जानता हूँ और न छन्दों के लक्षण। न पिंगल का विस्तार जानता हूँ और न भामह दण्डी के अलङ्कार ही।"[1] इसके साथ साथ एक बात और इनकी रचनाओं में प्राप्त होती है और वह है बोलचाल या लोकभाषा में काव्य-रचना की प्रेरणा। यही बात आगे चलकर हम विद्यापति, कबीर, तुलसी आदि में भी मिलती है। स्वयंभू ने भी इसका परिचय अपनी रामायण के वर्णन में दिया है —

> अक्खर वास-जलोह मणोहर। सुयलङ्कारछन्द मच्छोहर।
> दीह समास पवाहा वंकिय। सक्कय पायय पुलिणालंकिय।
> देसी भासा उभय-तडुज्जल। कवि-दुक्कर घण सद्द सिलायल।
> अत्थ बहल कल्लोला णिट्ठिय। आसा सय सम ऊह परिट्ठिय।
> रामकहा सरि एह सोहन्ती। —— .. इत्यादि
>
> (रामायण, हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ २६।)

अर्थात अक्षर जिसमें मनोहर जलौघ (जल समूह) हैं, सुन्दर अलंकार और छन्द मछलियाँ हैं। दीर्घ समास टेढ़ा जल प्रवाह है। संस्कृत-प्राकृत के पुलिन अंकित हैं। देशी भाषा के दोनों उज्ज्वल तट हैं। कवियों के लिए कठिन विषम घने शब्दों के शिलातल हैं। अनेक अर्थों वाली कल्लोलें हैं, और सैकड़ों आशाओं के समान तरंगें उठती हैं। इस प्रकार रामकथा की सरिता शोभित हो रही है।"

उपर्युक्त बातों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यादर्श इस युग में लगभग संस्कृत महाकाव्य का सा है पर लोकभाषा को महत्त्व देना ही एक नवीन बात है।

विद्यापति की रचना का आदर्श भी प्रेम, शृङ्गार और भक्ति का चित्रण करना था किन्तु इनमें शब्दों के प्रयोग की कला और कौशल तथा माधुर्य बड़ी उच्चकोटि का है। इनका उद्देश्य साहित्यिक था और कविता को ये ईश्वरदत्त प्रतिभा के रूप में मानते थे जैसा कि इनके जीवन की कथाओं के साथ साथ अवहट्ठ भाषा और आम पुँकती स्त्री का वर्णन स्पष्ट करता है। कविता का प्रधान उद्देश्य इष्ट-भक्ति और मनोरंजन था। कीर्तिलता के प्रथम पल्लव में उन्होंने लिखा है —

---

१ रामायण स्वयम्भूदेव (१।३) हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ २३।

बालचन्द विज्जावइ भापा । दुहुँ नहि लागइ दुज्जन आसा ।
ओ परमेसर हर सोहइ । ई निच्चय नायर मन मोहई ।

विद्यापति के विचार से नागर या रसिकों का मनोरंजन कविता का चरम उद्देश्य है। भापा-विषयक उनका विचार 'कीर्तिना' म व्यक्त हुआ है। यद्यपि उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि म भी रचनायें की हैं पर सबसे अधिक मधुरता वे प्रचलित लोक भाषा में मानते हैं।[1] इस प्रकार उनका काव्यादर्श स्वाभाविक भाषा में रस और अलंकार-पूर्ण वर्णन में प्रकट होता है।

कबीर के पास कविता के विषय में अधिक कहने को नहीं हो सकता, क्योंकि कवि उनकी दृष्टि में कोई सम्मान्य व्यक्ति नही था,[2] और न विद्वान् ही, इन सभी को वे मरा हुआ कहते हैं क्योंकि इन्होंने अमर आत्मा को नहीं पहचाना। फिर भी उनकी साखी, सबदी और रमैनी कविता हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं प्रथम यह कि कबीर कविता को एक सीमित अर्थ में ही लेते थे और द्वितीय उनके समय कविता केवल मनोरंजनार्थ ही होती थी। इसीलिए उन्होंने ऐसे कवि के व्यक्तित्व से अपने को अलग रक्खा है, केवल उक्ति-विशेष या अलंकार वर्णन कबीर की दृष्टि से कविता हो सकता है, पर उसमें कोई सार नहीं रहता। उनके कथन यदि कविता हैं तो उस कविता को वे जीवन से, सत्य से और कल्याण से सम्बन्धित समझते हैं। जीवन के विषय में जो उनका दृष्टिकोण था वह उनकी रचना से स्पष्ट है। वह रचना चाहे जैसी हो, पर जैसा जीवन वे समझते थे उनकी रचना उससे सीधे ढंग से सम्बन्धित थी। उनकी कविता जीवन के कल्याण के लिए या सत्य के उद्घाटन के लिए है। वह उपदेश और स्वानुभूति प्रधान है।

---

१ सक्कय वांणी बुहयन भावइ पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा।
— कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी लगती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती, अर्थात् सरस नहीं है देशी भाषा सब को मीठी लगती है, इसी से मैं अवहट्ट में रचना करता हूँ।

२ 'कवि कवीन कविता मुए।'
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
—(कबीर की साखी)

कबीर हमारे सामने एक साधक और उपदेशक के रूप में आते हैं और दोनों ही रूपों में उनकी स्पष्टवादिता और सच्ची लगन के कारण हमें कविता मिलती है। सहज भावनाओं को स्वाभाविक ढंग से प्रकट करना ही उनका उद्देश्य था। अत भाषा के सम्बन्ध में उनका विचार भी स्पष्ट है। जनसाधारण के हेतु ही उन्होंने अपने कथन कहे हैं अत जन साधारण की ही भाषा खरे रूप में उनकी काव्य भाषा है। संस्कृत-गर्भित या स्वयं संस्कृत भाषा की, अपेक्षा बोलचाल की भाषा व अधिक पसन्द करते, जैसा कि उनके कथन — 'ससकिरत कूपजल कबीरा, भाषा बहता नीर'' से भलीभाँति प्रकट है। इस स्वाभाविक भाषा द्वारा सहज अनुभूति के प्रकाशन म अनेक सहज और स्वाभाविक भाव तथा रस आ जाते हैं, किन्तु कबीर का काव्यादर्श अपनी ही अनुभूति का प्रकाशन था, बन्धन में बँधकर कवि कहाने के लिए लिखी गयी रचना द्वारा कल्पित अनुभूति नहीं, यह बात उनकी रचनाओं में स्पष्ट है।

जायसी का काव्यविषयक आदर्श अधिक व्यापक और साहित्यिक है। उनकी कविता म कला-पक्ष भी मौजूद है। कबीर की भाँति जायसी कवि-यश की आकांक्षा से रहित न थे, वरन् उनकी रचना में वह यश की भूख बराबर विद्यमान मिलती है, वे पद्मावत के अन्त म कहते हैं —

"जोरी लाइ रकत के लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन जल भेई।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यहु रहै जगत महँ चीन्हा।

—पद्मावत।

जगत् में अपना नाम, यश अथवा चिह्न रखने के लिए अपनी रचना को उन्हें रक्त की लेइ से जोड़ना पड़ा, इससे जायसी का यह विश्वास टपकता है कि वे किसी काव्य-रचना के स्थायी होने के लिए साधना और अनुभूति आवश्यक समझते थ। बिना कष्ट सहे हुए किसी का यश संसार में नहीं रहता। इसके आगे भी वे कहते हैं —

"कहँ सुरूप पदमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
कहि न जगत जस बेंचा, कहि न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल॥"

— पद्मावत

इससे स्पष्ट है कि कितनी नम्र भावना अपने नायक को अमर रखने के साथ साथ स्वयं अमर रहने की है। इस अमरता के लिए जिस बात की आवश्यकता है, उसका

ऊपर निर्देश हो चुका है। अब उत्तम कविता के अमरत्व के मूल में क्या कारण विद्यमान रहता है, इसको भी जायसी ने अनजाने व्यक्त किया है। अनजाने इस कारण से कि उन्होंने स्पष्ट रूप से शास्त्रीय पद्धति के अनुसार यह नहीं कहा कि उत्तम कविता के लिए अमुक गुण होना चाहिए, पर उनकी उत्तम कविता की कसौटी का संकेत उससे मिल जाता है। कवि का स्थान जायसी की दृष्टि में बहुत ऊँचा था और उसके पीछे वे अन्य सभी समृद्धियों को भी त्याग सकते थे। इतना स्वाभिमान उनमें था। अतः कुछ अपना परिचय देते हुए ही वे उत्तम कविता के अन्तर्गत विमोहकत्व'—मोह लेने वाला तत्वकाव्य उत्कृष्टता का प्रधान कारण बताते हुए कहते हैं—

'एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेहि कवि सुनी।'

इसी 'विमोहकत्व' में ही कवि की सफलता और कवि का जादू है, यह जायसी मानते हैं। अपनी कविता में विमोहकत्व लाने के लिए कवि को स्वयं अपने विषय में विमोह जाना तन्मय होजाना आवश्यक है। जायसी के वर्णन से ही यह स्पष्ट है कि जो कुछ भी वह वर्णन करते हैं उसमें घुल मिल जाना उनका स्वभाव है। जहाँ कहीं उन्हें सौन्दर्य या गुण मिलता है वे उसमें ही लीन हो जाते हैं और उसी अवस्था में उसका वर्णन उनके काव्य में जादू का असर भर देता है। इस तन्मयता के साथ उनकी व्यापक दृष्टि भी रहती है।

फिर कविता के प्रभाव के लिए कवि और कविता का ही गुण सम्पन्न होना पर्याप्त नहीं, सुनने वाले या पाठक के भीतर भी कुछ गुणों का समावेश होना चाहिए। जायसी ने काव्य-रसिक की उपमा चींटे और भौंरे से दी है। वे कहते हैं कि चींटे के लिए कहीं भी गुड़ रक्खा हो वह सूँघ कर उसको प्राप्त कर लेता। इसी प्रकार भँवरे के लिए कहीं भी वन में 'कमल' खिला हो वह जाकर उसका रस लेगा। पर फूल के पास रहने वाले काँटे और कमल के पास ही बसने वाले मेंढक उस रस से अनभिज्ञ हैं, भौंरे जिसके खोजी हैं। यही 'अरसिकों' का हाल है। जायसी ने स्पष्ट कह दिया है:—

"आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाइ कहै।
कवि बियास रस कँवला पूरी। दूरि सो नियर नियर सो दूरी।
नियरे दूर, फूल सँग काँटा। दूरि सो नियरे जस गुड़ चाँटा।
भँवर आइ बन खंड सन, लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावइ, भलहि जो आछै पास॥"

(पद्मावत)

जायसी को दृष्टि म श्रष्ठ कवि व्यास के रूप में होता है और उसम रस एसा ही रहता है जैसा कि कमल में मकरन्द-श्री। प्रतिभा, और अनुभूति से सम्पन्न कवि की कविता, रसिक भ्रमरों के लिए कमल श्री क समान ही आकर्षण रखती है।

स्वानुभूति और त मयता के साथ ही साथ कवि का रहस्य दर्शन की दृष्टि प्राप्त होती है, जो न केवल पाठक क लिए गहरी रुचि और आनन्द का सम्पादन करती है, वरन् कवि का भी अनवरत और चिरन्तन उत्साह से भरती रहती है। यह साधना प्रसूत दृष्टि, प्रकृति के रहस्यवादियों की विशेषता है। जायसी के सिंहल के उपवन का वर्णन, समुद्र का वर्णन, षट्ऋतु का वर्णन आदि इसी दृष्टि को छिपाये हैं। ऐसा नहीं जान पड़ता कि जायसी ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से सीखा है कि यह वर्णन करना चाहिए यह नहीं, वरन यह उनकी अनुभूति, रुचि, सौन्दर्य प्रेम और रहस्य दृष्टि है जो उनके वर्णन के अग अंग में रस और चमत्कार भर देती है। इसमें जायसी की शक्त कल्पना व्यक्त होती है।

इसके अतिरिक्त जायसी के भीतर हमें एक करुणा और वेदना भी मिलती है जो उनके चित्रण और वर्णन को इतना हृदयस्पर्शी बना देती है। कुछ लोगों का विश्वास है कि 'अभाव' कविता की एक प्रबल प्रेरणा देता है। यही वेदनापूर्ण गीतों के मूल में भी रहता है और आदर्श चित्रण का भी कारण होता है। कवि जिस रूप, जिस शील को चाहता है उसका विश्व में अभाव ही उसकी अनुभूति का एक स्रोत बहाता है। अभाव जन्य आदर्श सम्बन्धी सकेत के अनेक स्थान पद्मावत म हैं। आगे लिखित पक्ति देखिये —

"जेहि पाई यह छाँह अनूपा। फिर नहिं आइ सहै यह धूपा।"

जिस वह अलौकिक आदर्श, अलौकिक सौन्दर्य देखने को मिल गया वह इस ससार क सताप में जहाँ पर अभाव, दुख, कुरूपता, भरे पड़े हैं, कुछ भी रुचि न रक्खेगा। इसे हम उनका अध्यात्मवाद भी मान सकते हैं और यही आदर्श चित्रण उनके काव्य की प्रेरणा भी है। जायसी का सम्पूर्ण प्रकृति का तथा मानव-माया का वर्णन ऐसे ही सकेतों से भरा हुआ है। जायसी प्रबन्ध काव्य में भी व्यक्तिगत करुणा एवं वेदना को उकसाते चलते हैं।

भाषा जायसी की स्वाभाविक और बोलचाल की है। उनका कविता का उद्गार भी स्वाभाविक और सहज उद्भूत है। जायसी के विश्वास क अनुसार यही कविता के मूल उपकरण ठहरते हैं। शुद्ध और सरल कल्पना, विमाहकत्व, रहस्य दृष्टि और स्वाभाविक

एवं सहज अनुभूति का स्वाभाविक योजना न ही भाषा में प्रकाशन से ही जायसी को दृष्टि से काव्य के वस्तु हैं। आधुनिक कवियों का उद्देश्य कलात्मक होता है, अनुभूत्यात्मक नहीं। यह कवि बनने के लिये कवियों की शैली सीखते हैं जब कि जायसी, कबीर एवं कवि बिना इच्छा तथा प्रयत्न के कवि हैं, क्योंकि उनमें कवि की शैली से अधिक कवि की अनुभूति और कवि की दृष्टि विद्यमान है जिसको हम कवि की सहज प्रतिभा कह सकते हैं। काव्य-सम्बन्धी यही भाव अन्य प्रेमाख्यान लिखने वाले कवियों के भी रहे हैं।

सूर का काव्यादर्श

सूर के काव्यादर्श विषयक विचार कहीं भी नहीं मिलते किन्तु उनका काव्य का उद्देश्य धार्मिक भावना लिये हुए आनन्दात्मक था। यह आनन्दात्मक उद्देश्य बहुत कुछ प्रचार और प्रतिपादन की भी भावना लिये हुए था। उन्होंने भक्ति के आवेश में गाया है, वे भ्रमरगीत के पदों में भक्ति भावना होते हुए भी निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान के विपक्ष में सगुण ब्रह्म और भक्ति के प्रचार की भावना भी थी। फिर भी हम उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि सामान्यरूप से कविता का वे इस प्रकार का उद्देश्य मानते थे। जहाँ तक कविता का कला-पक्ष है, वे संस्कृत काव्यशास्त्र से प्रभावित थे। संस्कृत की शब्दावली के साथ साथ अलंकारों और रसों का सन्निवेश उनकी कविता में बहुत अधिक है और अलंकार तो अपनी काव्य कल्पना दिग्दर्शन के अर्थ ही अनेक, एक के ऊपर लदे से रक्खे गये हैं। शृंगार का वर्णन सूर के सारी प्रसंगों में भली भाँति मिलता है। सूर के काव्यशास्त्र विषयक आदर्श पर 'सूरसाहित्य' की भूमिका में लिखा है :—

"सूर के काव्य-विषयक कृष्ण भक्ति का इन साहित्यिक धाराओं और इनके अतिरिक्त युग की सामान्य प्रवृत्ति, विलासप्रियता अथवा शृंगारप्रियता, ने भी प्रभावित किया। यही कारण है कि सूर साहित्य के भाव पक्ष में इन भक्ति और शृङ्गार के वर्णन होते हैं और कला पक्ष में रीति, रस और अलंकार निरूपण के। इस सत्य को भुला कर सूर साहित्य पर अनैतिकता का दोष लगाया जाता है और उसमें ऐसे ऐसे पदों को स्थान प्राप्त करते देख कर आश्चर्य होता है जो कूट-निरूपण और अलंकारों के प्रदर्शन के लिए लिखे गए।"[1]

इससे स्पष्ट है सूर के काव्य का उद्देश्य कला पक्ष से शून्य नहीं था और कला पक्ष की भी उन्होंने अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा था वरन् उसका पूरा सम्मान किया था।

---

१ देखिये रामरतन भटनागर की सूर साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ११०।

सूर के कूट पदों में उस युग की साधारण आलंकारिक प्रवृत्ति ही खेलती हुई दिखलाई पड़ती है। उनके अधिकांश वर्णन का आधार भागवत पुराण था। भावाभिव्यक्ति का आधार उनकी स्वाभाविक प्रतिभा कवि-परम्परा है।

सूर का कलात्मक पक्ष तो अलंकारिक ज्ञान प्रदान था, किन्तु उनकी यथार्थ वृत्ति, भाव में तन्मयता थी। सूर ने अपनी भक्ति के वर्णन में वात्सल्य रस का जो प्रबल स्रोत बहाया है उसमें सभी मग्न हो जाते हैं। वात्सल्य को रसत्व की कोटि में लाने वाली सूर की ही प्रतिभा है। हिन्दी काव्य 'वात्सल्य' भाव का रस के रूप में प्रतिष्ठित करना सूर का ही कार्य था। इसके संयोग पक्ष का वर्णन अधिक पूर्ण है। अभिव्यक्ति कौशल की दृष्टि से सूर की रचनाएं साहित्यिक हैं। वे साधारणजनों और विद्वानों सभी के लिए हैं। अनुभूति के साथ साथ कला को समान स्थान देना सूर की दृष्टि में दोनों के समान महत्व को स्पष्ट करता है।

तुलसी का 'काव्यादर्श'

सूर और कृष्णभक्त कवियों का आदर्श लगभग एक ही था। इन्होंने कविता के द्वारा सामाजिक जीवन का आदर्श अंकित करने की चेष्टा नहीं की, किन्तु तुलसी की कविता का आदर्श लोक-जीवन का कल्याण था और 'स्वान्तःसुखाय' का उद्देश्य रखते हुए भी उनकी कविता 'परान्तःसुखाय' भी उतनी ही थी। कविता विषयक उनका आदर्श 'राम चरित मानस' में कई स्थलों पर व्यक्त हुआ है। तुलसीदासजी काव्य को बहुत ही उच्च और पवित्र वस्तु समझते थे। धार्मिक पवित्रता कविता का प्राण है और कविता का केवल परमात्मा के गुणगान एवं चरित्र चित्रण में ही प्रयोग करना चाहिए यह उनका विश्वास था। कविता, वाणी, शारदा या सरस्वती तुलसी के विचार से देवी है। अपने भक्त या उपासक की भक्ति या उपासना से सन्तुष्ट होकर वह उसके पास आती है, इसलिए पूजा के लिए भगवान का गुण-गान ही ठीक है, मनुष्य का गुणगान उस शक्ति का दुरुपयोग है। वे कहते है :—

> "भगत हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
> रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाय न कोटि उपाये।"[१]

इसलिए वाणी का आह्वान केवल भगवान के चरित्र या गुण गान के निमित्त ही करना ठीक है। जन साधारण के गुणगान से काव्य की देवी असन्तुष्ट होती है। उनका कथन है :—

१ बालकांड, दोहा १०, चौपाई ३ ४।

"कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुण नाना। सिर धुनि गिरा लगत पछताना।"[1]

अतएव परमात्मा का गुणगान ही कविता का सुष्ठु उपयोग है। कविता-सम्बन्धी अन्य विवेक और उपकरणों के न होने पर भी यह हरि गीत गाने का उद्देश्य तुलसी को सन्तोष देने वाला है। उन्होंने रामचरितमानस के बालकांड में कहा है —

'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥"

अन्तिम चरण से यह भी स्पष्ट है कि कविता विवेक पर वे जोर नहीं दे रहे हैं और यह बात वह सपथ पूर्वक, कागद में लिखकर, कहते हैं और यह भी कि वे कविता-विवेक के न होते हुए 'सत्य कहने' के उद्देश्य से लिख रहे हैं, कविता करने के उद्देश्य से नहीं। 'जानकी मंगल' में उन्होंने और भी स्पष्ट किया है —

"कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
सिय रघुबीर विवाह यथा मति गावौं।"

ऐसा कह कर और सर्वोत्कृष्ट काव्य लिखकर उन्होंने न जाने कितने कविता-रीति के उपासक और पंडितों की रचनाओं पर धूल डाल दी है। तुलसी का स्पन्दन राम की भक्ति का स्पन्दन था जिनके वर्णन के लिए ही वे वाणी का आवाहन करते थे और वाणी उन पर कितना प्रसन्न थी इसके कहने की आवश्यकता नहीं। अपनी इस कलात्मक उद्देश्य हीनता और भक्ति की व्यापकता का निर्देश उन्होंने निम्नलिखित दोहे में कर दिया है —

"भनिति मोर सब गुण रहित, बिस्व विदित गुण एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिनके विमल विवेक॥"

तुलसीदास अपने को कवित विवेक से हीन कहते हैं और अपनी भणिति को गुण रहित मानते हैं। परन्तु 'कवित विवेक' और 'कविता के गुण' क्या हैं, यह भी उन्होंने बतला दिया है। 'बालकांड' रामचरितमानस, में उन्होंने लिखा है —

"आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कविता दोष गुन विविध प्रकारा।"[2]

---

१ बालकांड दोहा १०। ५,६।

२ रामचरित मानस बालकांड दोहा, ८, ६।

शब्द, अर्थ, अलकार, छन्द, प्रबन्ध भाव, रस, दोष, गुण के अनेक भेदों का ज्ञान कवित विवेक है। इसका उपाय न होने पर भी उनकी कविता इस काव्य विवेक से भरपूर है। इन सब को जानते हुए भी उन्होंने इन्हें साधन माना है और इनमे से लगभग सभी अपनी उचित मात्रा में उनके काव्य में उपस्थित हैं फिर भी उनका अकेला निर्दिष्ट कविता विवेक का प्रदर्शन न था। वह कविता का उपयोग रामचरित्र के पवित्र चित्रण में ही करना चाहते थे। यही उनके जीवन का ध्येय था। कवित विवेक गौण वस्तु है उससे कविता उत्पन्न नहीं होती। तुलसी का विचार है कि परिष्कृत हृदय में सरस्वती की कृपा से कविता के मुक्ताफल उत्पन्न होते हैं और सज्जन उनका आदर करते हैं। वे कहते हैं।

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ बर बारि बिचारू। होइ कवित मुकुतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥"[1]

हृदय के भीतर बुद्धि और बुद्धि के भीतर विचार, वाणी की कृपा से कविता का रूप धारण करता है पर उसकी शोभा रामचरित्र के सुन्दर तागे से पुहे जाने पर ही है, बिना इसके वह हृदय पर धारण करने वाले हार के रूप को नहीं पा सकता। इस पवित्र भावना के कारण तुलसी का काव्य आदर्शात्मक है। आदर्श चरित्र चित्रण द्वारा उन्होंने विश्व की मानवता का जीवन-पथ प्रदर्शन किया है। वे एक पूर्ण और आदर्श विश्व स्थापित करना चाहते थे, और उसमें वे सफल हैं। आदर्शात्मक चित्रण वर्तमान युग के यथार्थ-वादी लेखकों के द्वारा प्रशंसनीय नहीं है, पर यथार्थता यह है कि उच्च काव्य सदा एक आदर्श विश्व की स्थापना करता है, आन्तरिक पवित्रता और शान्ति तुलसी के काव्य का उद्देश्य है। इस विषय में अंग्रेजी के समालोचक कवि 'हेनरी न्यूबोल्ट' के विचार द्रष्टव्य हैं:—

'मनुष्य ने वैज्ञानिक खोजों के बौद्धिक चमत्कार के रूप में विजय पाई है और बड़ी ललक के साथ उनके औद्योगिक उपयोगों का आनन्द उठाया है, किन्तु अपने दुख के नगर में, अपने जीवन के घर में स्मृति और आशा के अन्तस्तल में, आकुलता की ध्वनि निरन्तर होती रही है। वह कभी नहीं भूल सका कि दूसरा पथ हार का नहीं, जीत का है। कल्पनामय कला का है। यह विश्व के पुनर्निमाण में वस्तुओं के सुखद क्रमक्रम में और उन्हें अपनी हार्दिक रुचि के अनुसार फिर रचने में, सन्तोष और आनन्द को ढूँढ़ना कभी

---

1 रामचरित मानस बालकाण्ड ११।

नहीं भूला। यहीं, मेरे विश्वास में, सामञ्जस्य का बिन्दु है, यहीं वह सामान्य तत्व है जिसको कविता प्रदान करती है, सब के लिए, केवल कवि के लिए ही नहीं वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी। यही महान काव्य की कसौटी है कि वह आदर्श जगत् दर्शन की सार्वजनिक इच्छा को स्पर्श करती है''[1]

इसी प्रकार की आदर्श जगत् की व्यवस्था करना तुलसी का उद्देश्य रहा है। एक आदर्श समाज और एक आदर्श राजा का अवतरित करना तुलसी की कामना है। कौन रामराज्य में नहीं रहना चाहता, यही रामराज्य, आदर्श जगत् था जिसके स्वप्न ने ही तुलसी को काव्य प्रेरणा प्रदान की थी।

तुलसीदास कवित्व की दैवी प्रतिभा पर विश्वास करते हैं और कहते हैं कि यदि देवता प्रसन्न हों तो कवि जो कुछ कहे वह सत्य होता है, सत्य होने का अर्थ है विश्वासनीय और प्रभाव पूर्ण होना है, जैसा कि कहा है —

"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जो हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होइ जो कहहुँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥"

इसलिये कवि के लिये सच्ची लगन और साधना आवश्यक है। भाव और भाषा के विषय में तुलसी का विचार है कि ये दो अलग अलग नहीं हैं। भाव वैसे आकारहीन है, भाषा के रूप या वाणी के रूप में वे आकार ग्रहण करते हैं।

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

यह भिन्नता कहने की है। इस कथन से ही एक और संकेत मिलता है। वह यह है कि जिस शब्दावली में भाव का कोई आकार मौजूद न हो वह वाणी या कविता नहीं है। भाव का होना, अर्थ की उपस्थिति ही वाणी को वाणी बनाती है, भाषा को भाषा बनाता है और कविता को कविता।

---

1 "He (man) has triumphed in intellectual splendour of the discoveries of Science and reaped rather greedily their practical results, but always in his inner chamber of memory and hope the murmur of his unrest has been ceaseless. He has never forgotten that other way not of subjection but Supremacy the way of imagination art .... Here in my belief is the point of reconciliation, here is the common element which poetry holds for us all not only for the poets but for every man. This is the criterion of great poetry that it touches the universal longing for a perfect world."

"A New Study of English Poetry by Henry Newbolt, P 14

भाषा के सम्बन्ध में तुलसी का एक और विचार है जो कि कबीर विद्यापति आदि के विचारों से मेल खाता है। उसमें उन्होंने भाषा विशेष को गौरव न देकर भाव को गौरव दिया है और भाषा अर्थात लोकभाषा की कविता को ही स्वाभाविक माना है दोहावली में जैसा कि उन्होंने कहा है —

> का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
> काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥

जब देश भाषा से ही आन्तरिक भाव का प्रकाशन और प्रभाव निश्चय हो सकता है तब फिर संस्कृत आदि भाषाओं में कविता करना केवल पाण्डित्य प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, और ऐसा प्रयत्न जन-साधारण के लाभ का नहीं है।

अब उत्तम काव्य की परख पर तुलसी का विचार देखना चाहिये। तुलसी का उत्तम काव्य का मापदंड है सभी का कल्याण, सभी का हित, जैसा गंगा के जल का स्वभाव है। इस बात को उन्होंने इन शब्दों में कह दिया है —

> "जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।
> कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"[1]

अब दो बातें देखने की है—एक यह है कि बुद्धिमान् लोग उसका आदर करते हैं और दूसरी बात यह है कि वह सबके हित की है। कीर्ति, यश, ऐश्वर्य और कविता तीनों की उपयोगिता इसी बात में है कि वह गंगा के समान सबका हित करनेवाली हो। हित करनेवाली कविता वही हो सकती है जो हमारे यथार्थ जीवन के तत्व धारण करती हो, जो जीवन का आदर्श हमारे सामने रख सके। तुलसी का अपना काव्य ऐसा ही है। फिर कविता की शोभा कवि या रचयिता के पास उतनी नहीं होती जितनी सहृदय, विद्वान और बुद्धिमान व्यक्तियों के पास जाकर। मणि, रत्न आदि भी अपनी उत्पत्ति भूमि में उतनी शोभा नहीं पाते जितनी राजमुकुट में या रमणी के शरीर पर। यह कविता की सार्थकता है जिसे तुलसीदास ने नीचे की पंक्तियों में व्यक्त किया है—

> "मणि माणिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
> नृप किरीट तरुनी तन पाइ। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
> वैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।"[2]

---

१ रामचरित मानस, बालकांड १३। ८, ९।
२ " " " १० क। १, २, ३।

इस प्रकार काव्य की सार्थकता विद्वानों के बीच उसके शोभा पाने में है। अब विद्वानों के बीच शोभा पाने के लिए उसमें क्या गुण होने चाहिए, यह प्रश्न है। तुलसी के मत से ऐसा कवित्त सरल होना चाहिए और निर्मल कीर्ति का वर्णन करनेवाला होना चाहिए किन्तु ऐसी कविता के लिए कवि की बुद्धि का निर्मल होना बड़ा आवश्यक है। तुलसी की पंक्तियाँ देखिए—

"सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति बल अति थोर।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में दो बातें स्पष्ट होती हैं एक तो यह कि उत्तम कविता जिसका आदर सज्जन और विद्वान करते हैं वह ऐसी सुन्दर एवं सरल होनी चाहिए कि उसकी प्रशंसा विरोधी तक करने लगें। अतः तुलसी अच्छी कविता कठिन नहीं वरन् सरल, सर्वजन सुगम होना ही उपयोगी मानते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी कविता बिना निर्मल बुद्धि के नहीं होती है, अतः कविता के लिए निर्मल बुद्धि की आवश्यकता है। तुलसी अपने लिए कहते हैं कि मुझ में मति बल थोड़ा है, अतः तर्क के अनुसार वे उत्तम कवि नहीं हो सकते हैं। इसी निर्मल बुद्धि के न होने से ही वे अपने को कवि भी नहीं मानते, परन्तु उन्हें निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है और उसके बाद वे अपने को कवि कहने का साहस करते हैं। वह निर्मल बुद्धि शंभु के प्रसाद से मिलती है।

"सीय राम मय सब जग जानी करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।"

शंकर के प्रसाद से तुलसी को रामचरित लिखने की निर्मल बुद्धि प्राप्त हुई क्योंकि शंकर रामचरित के सर्वप्रथम लेखक हैं। ऐसे ही और भी किसी की आराधना से निर्मल बुद्धि कवि को प्राप्त हो सकती है, जिसे तुलसी ने शंभु कृपा और राम की भक्ति से ही प्राप्त किया था। तुलसी इसके लिए सभी की वन्दना करते हैं क्योंकि राम सभी में व्याप्त हैं—

"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।"

अणु अणु राम की व्याप्ति के कारण वन्दनीय है। इस सब का अन्तिम निष्कर्ष तुलसी के विचार से कि उत्तम काव्य की प्रेरणा भक्ति है।

भक्ति कालीन ये काव्य सम्बन्धी आदर्श रीतिकाल में आकर बहुत कुछ बदल गये थे। उस समय काव्य सम्बन्धी क्या आदर्श थे? काव्य शास्त्र के कौन सिद्धान्त बरते जाते

---

१ रामचरित मानस बालकांड १४ क। १ ।

थ, इन सब बातों पर विचार दूसरे अध्याय म काव्यशास्त्र के इतिहास के अन्तगत किया जा चुका है। हिन्दी के रीतिकाल में रीति ग्रन्थों की भरमार थी, लखभग सभी काव्यशास्त्र के अगों का सहारा लेकर ही काव्य रचना म अपनी लेखनी चलाते थे। कविता नियमों और रूढ़ि से ग्रस्त थी। काव्य सम्बन्धी आदर्शों पर स्वच्छन्दता और उदारतापूर्वक विचार न किया जाता था। संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थ ही आधार हो रहे थे। अधिकांश लोगों का प्रयत्न एकसा ही था। अन्तर केवल उदाहरण देने में, या अलकार[1] रस, भावभेद के क्रम या सख्या में था। गुण और अलकारों पर ही विशेष जोर दिया जाता था। हाँ, भाषा सम्बन्धी परिष्कार इस युग म खूब हुआ। हिन्दी भाषा का मधुरतम स्वरूप इस काल में निखरा था, विशेषतया व्रजभाषा का। पहले की भाँति भक्ति भावना अब काव्य की प्रेरणा न थी। यद्यपि भावना के रूप म अब भी उसकी व्याप्ति थी। बिहारी ने भी सत सई के प्रारम्भ में लिखा है।—

> "मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
> जा तन की झाई परे स्याम हरित द्युति होय।"

१—अलंकारों के विकास अध्ययन डा० रामशंकर रसाल ने अपने ग्रन्थ अलंकार पीयूष और 'Evolution of Hindi Poetics' में किया है।

और देव ने भी

> "जो मैं ऐसो जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
> ऐरे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो।
> भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे मो बांधि,
> राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो॥"

देव ने यद्यपि रीति परम्परा पर कई ग्रन्थ लिखे जिन पर विचार होचुका है पर स्वच्छद रूप से भी देव की कविता का ऊँचा आदर्श था। जैसा कि उनके निम्नलिखित छंद से पता चलता है —

> जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ की छाँहीं।
> मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोह जवाहिर ता अति चाहीं।
> बानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस आरद सारद के गुन गाहीं।
> सील ससी सविता छविता कविताहि रचै कवि ताहि सराहीं॥ २४॥"

(प्रेमचन्द्रिका से।)

इससे स्पष्ट है कि देव उच्च प्रेम, रसाद्रता, यौन और रूप का वर्णन कवि की कविता का आदर्श मानते थे और कवि का आदर्श संसार के विषय विकारों से मुक्त पुरुष के रूप में था। यह देव का स्वच्छ विचार कवि और काव्य के आदर्श पर है।

काव्यशास्त्र का आधार लेकर जो ग्रंथ लिखे गये हैं उनके अतिरिक्त काव्यादर्श सम्बन्धी परिवर्तन की छाप अन्य प्रसिद्ध कवियों की उक्तियों द्वारा भी व्यक्त है। अब 'सरल कवित कीरति विमल मुनि आदरहिं सुजान' का आदर्श न था अब तो कलात्मक उद्देश्ययुक्त अर्थसोजियों को चुनौती देनेवाले, कवित्त का प्रचलन हो हुआ। सेनापति ने कवित्त-रत्नाकर के प्रारम्भ के छन्दों में कहा ही है —

'मूढ़न को अगम सुगम एक ता को, जाकी तीछन विमल बुद्धि है अथाह की।
कोई है अभंग कोइ पद है सभंग सोधि देखे सब अंग सम सुधा परवाह की।
ज्ञान के निधान छन्द कोष सावधान, जाकी रसिक सुजान सब करत हैं गाह की।
सेवक सियापति को सेनापति कवि सोइ जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की॥'

इससे स्पष्ट होता है कि सेनापति का कवि का आदर्श तुलसी के आदर्श से भिन्न है। केशव की भाँति सेनापति भी अर्थ की विलक्षणता को कविता का मुख्य तत्व मानते हैं। वे, सर्वजन-सुलभ नहीं, वरन् तीक्ष्ण बुद्धि और काव्याभ्यासी पुरुषों की ही समझ में आने वाली कविता को ही कविता कहते हैं। इसी कारण वे श्लेषयुक्त कविता करना ही गौरव की वस्तु समझते हैं।

सेनापति काव्यशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार काव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं:—

"दोषसों मलीन गुनहीन कविताई है तो कीने अरबीन परवीन कोइ सुनि है।
बिनु ही सिखाये सब सीखि हैं सुमति जो पै सरस अनूप रसरूप या मैं धुनि है।
दूषन को करिबो कवित्त बिन भूषन को जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है।
राम, अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ कवित्त रचतु याते पद चुनि चुनि है॥ ३॥
—(कवित्त रत्नाकर)

सेनापति के लिखे छन्द से प्रकट है कि दोष-रहित, गुण युक्त, रस, ध्वनि, अलंकार से सम्पन्न कविता को वे उत्तम कविता मानते हैं। इन्हीं विचारों के द्योतक अनेक कवित्त हैं। एक और छन्द देखिए —

'राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन को बुध कवि के जो उपकण्ठहि बसति है।
जो पै पद मन को हरख उपजावत है तजै को कुनर से जो छंद सरसति है।

अच्छुर है विषद करत ऊर्ध्व आयुस में जावे जगती की जड़ताऊ विनसति है।
मानो छुबि ताकी उद्वत सविता की, सेनापति कवि ताकी कविताई विलसति है ॥ ४ ॥

उपर्युक्त कथनों से सेनापति के काव्य का आदर्श इस प्रकार प्रकट होता है। कविता दोषों से रहित होनी चाहिए। छन्द और पिंगल के नियमों का पालन करने वाली होनी चाहिए, सेनापति शुद्ध छन्द की कविता म बड़ी आवश्यकता समझते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विचार से कविता गुण और अलकारों से भी युक्त हो, साथ ही साथ रस और ध्वनि का भी उसमें समावेश हो। कविता की सफलता इस बात में है कि उसका एक एक चरण हर्ष और प्रसन्नता को उपजाने वाला हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति का उद्देश्य सस्कृत काव्यशास्त्र का सा है। उनका ध्येय मनोरजन ही अधिक है, लोक-कल्याण उतना नहीं।

इस प्रकार भक्ति की स्वाभाविक प्रेरणा, काव्य कला की गूढ़ प्रेरणा में परिणत हुई और चमत्कार, उक्ति विशेष पर बल कविता के लिए रीति काल में आवश्यक समझा जाने लगा। रीति परम्परा से स्वच्छन्द कवि भी चमत्कार और गूढ़ार्थ पर ज़ोर देने लगे। 'सरस कवित्त' की प्रवृत्ति उठ गई। हाँ, रीति काल के स्वच्छन्द प्रगीतों में रचना करने वाले कवियों में प्रेमानुभूति का आदर्श, काव्य का आवश्यक अग था। घनानन्द, अन्य अनेक गुणों के साथ प्रेमानुभूति या प्रेम की पीर का अनुभव अपनी कविता के समझने में आवश्यक मानते हैं —

> 'नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन और सुन्दरतानि के भेद को जानै।
> जोग वियोग की रीति मैं कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै।
> चाह के रग में भीज्यो हियो बिछुरे मिले प्रीतम साति न मानै।
> भाषा प्रवीन सुछद सदा रहै सो घन जी के कवित्त बखानै ॥"

ये भाषा काव्य विवेक, सौंदर्य-परख, प्रेम, स्वानुभूति, ये काव्य का मर्म समझने वाले के लक्षण बताते हैं। अतः कवि और उसकी कविता में भी इन गुणों का होना आवश्यक है।

सेनापति जहाँ पर अलंकार, गुण, ध्वनि, श्लेष, दोष हीनता आदि पर अधिक जोर देते हैं वहाँ घनानन्द प्रेम की पीर, अर्थात् स्वानुभूति या कविता के अन्तरग पर। बिना इसके काव्य का आनन्द, विशेषकर इस प्रकार का जैसा वे लिखते हैं, नहीं उठाया जा सकता। सेनापति के लिए तीक्ष्ण बुद्धि एव बौद्धिक प्रयत्न आवश्यक है, पर घनानन्द के

विचार से प्रेम की अनुभूति। दूसरे छन्द में भी इसी प्रकार का काव्य सम्बन्धी आदर्श व्यक्त है —

"प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै यहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सब के मन लालच दौरे पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखे रहे ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी॥"

घनानन्द के काव्य का आदर्श तत्कालीन जग की कविताई से विलक्षण है। इसमें विद्वत्ता और बुद्धि की उतनी उपेक्षा नहीं जितनी प्रेम की पीर की, जिसके बिना 'बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।' उसे न समझने वाले बावले से आश्चर्य-चकित होते हैं। यह घनानन्द-द्वारा व्यंजित काव्यादर्श रीतिकालीन अन्य कवियों के आदर्श से भिन्न है। उसके पहले अनुभूति पर ज़ोर देने का काव्यगत आदर्श रह चुका है। जायसी, कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्त कवि भावानुभूति को ही प्रधान मानते थे। अन्तर केवल इतना था कि वहाँ पर ईश्वर प्रेम या राम के प्रेम की अनुभूति मुख्य थी और यहाँ लौकिक प्रेम को भी कवि अपने भीतर ले लेता है।[१] घनानन्द में अनुभूति की तीव्रता और कलात्मक पटुता दोनों का समावेश है। किन्तु कविता का उद्देश्य इस युग में अधिकांश मनोरंजन ही रहा।

जीवन की प्रगति के साथ कविता का सम्बन्ध टूट गया। सामाजिक आचार-व्यवहार की ओर से कवि की दृष्टि उदासीन थी। लोक-कल्याण की ओर कवि की लेखनी न चलती थी। धीरे धीरे रीति प्रवृत्ति के और सघन होने पर कला की बारीकी, शब्दों की खिलवाड़ ही कविता में रह गयी जिसके साथ साथ उसकी ताज़गी तिरोहित हो गयी विषय वही रूढ़िग्रस्त थे। कवि की दृष्टि, संकीर्ण सी लगती थी। मानव जीवन के अन्तस् को स्पर्श करने वाले कवि नहीं रह गये थे और न नवीन आदर्शों का सामने रखनेवाले ही।

---

१ इन अनेक बातों को लेता हुआ ठाकुर कवि का काव्य सम्बन्धी आदर्श नीचे की पंक्तियों में व्यक्त है —

मोतिन की सी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरि नाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै॥
'ठाकुर' सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥

कवि की कविता विनाश की सामग्रियों में से एक थी। ये सब बातें धीरे धीरे कविता को जीवन से दूर खींचती जाती थीं और एसी कविता के प्रति एक सामान्य अरुचि एवं जन साधारण की अवहेलना जग रही थी। राजनीतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ धीरे धीरे काव्यगत उद्देश्यों पर भी प्रभाव पड़ा। परिस्थितियाँ न भी बदलतीं तब भी उनके एकरस होने के कारण परिवर्तन आवश्यक था, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि परिवर्तन का स्वरूप कैसा होता। इस परिवर्तन के सीमास्तम्भ, 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र' हैं, जिनके साथ ही आधुनिक काल का प्रारम्भ माना जाता है।

आधुनिक काल के काव्यादर्शों के परिवर्तन का प्रारम्भ

रीति काल में कवि का पद बड़े ही गौरव और सम्मान का पद था। समाज में उसकी प्रतिष्ठा थी। उसके अन्तर्गत दैवी प्रतिभा का बीज माना जाता था। कवि किसी गुरु के साथ शिक्षा पाता था, काव्य शास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने पर कवि कविता के योग्य समझा जाता था। किन्तु इस आधुनिक काल के प्रारम्भ होते ही आदर्श एवं विचार बदल गये। सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। अंग्रेज़ी साहित्य का सम्पर्क और नये ढंग की शिक्षा के द्वारा नए विचारों से युक्त व्यक्तियों का दल खड़ा हुआ और इसके साथ काव्यगत आदर्शों के परिवर्तन में पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन सबसे प्रभावशाली हुआ। इनके द्वारा जहाँ पर समालोचना का प्रारम्भ हुआ वहाँ उन्हें कविता के नवीन विचारों के प्रचार और प्रसार का साधन भी बनाया गया। अभी तक सब विचार पद्य में ही रक्खे जाते थे। अब गद्य का भी विकास हुआ और उसके आ जाने से पद्य के विषय सीमित हुए। इस समय काव्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक और कुछ-कुछ राजनीतिक सुधारों को लिए हुए था। काव्य की दो धारायें थीं। एक में तो रीतिकालीन काव्य के आदर्शों के अनुसार ब्रजभाषा में कविता हो रही थी, किन्तु यह धारा धीरे धीरे आगे चलकर क्षीण हो गयी। दूसरी धारा खड़ी बोली और नवीन विचारों को लेकर चली। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काव्य सम्बन्धी विचार उदार था। उन्होंने परम्परा से आई हुई विचार-पद्धति और काव्य धारा की उपेक्षा नहीं की, वरन् उसे भी अपनाये रहे और साथ ही साथ नवीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के कारण उपस्थित परिवर्तन को भी नए उत्साह और स्फूर्ति के साथ आवश्यक स्थान दिया।[1]

---

[1] देखिए लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' पृष्ठ १३१, १३२, १५५।

यद्यपि मूल रूप से हरिश्चन्द्र का विश्वास पूर्ववर्ती काव्यादर्शों पर ही था फिर भी उन्होंने सभी शैलियों में लिखा है। प्राचीन काव्य को भक्ति प्रधान, प्रेम और शृंगार-प्रधान तथा अलंकार प्रधान पद, सवैया, कवित्त, दोहे, कुण्डलियाँ सभी प्रकार की रचनायें की और नवीन भावना के, भारत की दीन दशा और जागृति के गान भी उन्होंने गाये।

बाबू ब्रजरत्नदास के कथनानुसार हरिश्चन्द्र नवरसों के अतिरिक्त वात्सल्य सख्य, दास्य और आनन्द चार और रसों को मानते थे जिसका उल्लेख ताराचरण तर्क-रत्न द्वारा काशीराज की इच्छानुसार लिखे गये संस्कृत ग्रंथ, 'शृंगार रत्नाकर' में है।[1] प्राचीन काव्य में उनकी रुचि गहरी थी, वरन् उनके हृदय का सम्पादन तो उसी से था। फिर भी वे लोक-प्रेरणा और नवीन जागृति की ओर से आँखें न मूँद सके। उनकी प्राचीन काव्य के प्रति अभिरुचि आगे के कथन से स्पष्ट होती है।

"यों ही शृंगार रस में भी वे अनेक सूक्ष्म भेद मानते थे जैसे ईर्ष्या भाव के दो भेद विरह के तीन शृंगार के पचधा, नायिका के पाँच और गर्विता के आठ, यों ही कितने ही सूक्ष्म भेद जिनको तर्क रत्न महाशय ने सोदाहरण इनके नाम अपने उक्त ग्रन्थ में मान कर उद्धृत किए हैं।"[2]

दूसरी धारा परिवर्तन और विकास को लेकर चली। इसके अन्तर्गत अनेक नवीन प्रवृत्तियाँ आई जो इस प्रारम्भिक परिवर्तन के समय उतनी नवीनता और जोश लेकर चलती न दिखाई पड़ीं, जितनी कि थोड़े समय बाद की प्रवृत्तियाँ। इस समय नवीनता के फलस्वरूप नीचे लिखी काव्य की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं —

'देश प्रेम, सामाजिक सुधार प्राचीन गौरव प्रकृति-वर्णन तथा नवीन हास्य-विनोद व्यंग्य आदि। इन वर्णनों में शैली की नवीनता भी दीखती है। अधिकतर इनमें खड़ी बोली और नवीन छन्दों का प्रयोग है।

हरिश्चन्द्र के समय में विशेषतया उस समाज में जिस पर हरिश्चन्द्र का प्रभाव स्पष्टतया पड़ता था यह विश्वास सुदृढ़ था कि गद्य की भाषा पद्य की भाषा से स्वाभाविक भिन्नता रखती है। गद्य की भाषा के लिए तो खड़ी बोली का उपयोग होता था पर

---

१ हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्य सख्य भक्त्यानन्दाख्यमधिक रसचतुष्टय मन्यते।"
—देखिए ब्रजरत्नदास कृत, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ २३५।

२ देखिए ब्रजरत्नदास कृत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ २८१।

समाज-सुधारक उद्देश्यों को छोड़कर आनन्ददायी काव्य के लिए प्राचीन प्रयुक्त भाषाओं विशेषतः ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया जाता था। उस समय हिन्दी की अनेक पत्रिकायें निकलीं जिनमें 'कविवचन सुधा' 'आनन्द कादम्बिनी' 'हिंदी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' जनता में विशेष प्रसिद्ध थीं जिन्होंने हिन्दी के प्रचार में बहुत अधिक काम किया। इनमें खड़ी बोली में कविता का स्वरूप धीरे धीरे दृढ़ता प्राप्त कर रहा था। काव्यशास्त्र-सम्बन्धी नियमों की ओर विशेष ध्यान न देकर स्वच्छन्दता पूर्वक कविता लिखी जा रही थी। कुछ कवि जैसे श्रीधर पाठक, प्रताप नारायण मिश्र, बद्रीनारायण 'प्रेमघन' आदि परम्परागत ढंग को छोड़कर अवसर-विशेष के लिए उपयुक्त नवीन ढंग से कवितायें भी लिखते थे जो उस समय के लिए बड़ी उपयुक्त होती थीं, किन्तु उनमें काव्यशास्त्र की दृष्टि से जिसका प्रभाव इसके पहले था कोई विशेष बात न थी। भारतेन्दु[1] के समान बहुतों का विश्वास यद्यपि यह था कि खड़ी बोली की कविता ब्रजभाषा की भाँति मधुर नहीं होती, किन्तु कुछ ऐसे थे जो उसमें धीरे धीरे मधुरिमा ला रहे थे। आगे चलकर पं० श्रीधर पाठक में खड़ी बोली की स्वच्छन्द प्रकृति का दर्शन होता है।

इस समय भाषा और भाव प्रकाशन के माध्यम का प्रश्न महत्व का न था, पर नये विषयों पर लिखने की एक सामान्य प्रवृत्ति सी चल पड़ी थी। इन नवीन विषयों के अन्तर्गत समाज-सुधार देश-प्रेम और पूर्वगौरव गान[2] भारतदुर्दशा[3] हिन्दी प्रचार[4] और

१ 'आप लोगों को ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रजभाषा ही है और दूसरी भाषाओं की कविता इतना चित्त नहीं पकड़ती।'' भारतेन्दु कृत 'हिन्दीभाषा' पृष्ठ ११ खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर।

२ 'इस भारत में वन पावन तू ही तपस्वियों का तप आश्रम था।
अग तत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था।
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बनवास की थी तब और प्रभाव पवित्र अनूपम था।
(श्रीधर पाठक)।

३ तबहि लख्यौं जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत।
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहु नाहीं।
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन भारन।
तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन॥ 'क्रन्दन॥ प्रताप नारायण मिश्र

४ निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल॥ भारतेन्दु

प्रकृति के वर्णन[1] थे। इनके अन्तर्गत कला का कोई प्रयत्न नहीं दीखता, केवल भावों का छन्दोबद्ध रूप में प्रकट करना ही प्रधान उद्देश्य था। हिन्दी साहित्य में लौकिक जीवन की दैनिक समस्याओं को लेकर इस रूप में कविता कभी नहीं लिखी गई थी। यह परिवर्तन नवीन संस्कृति एवं साहित्य के सम्पर्क के साथ-साथ दासता के भाव का अनुभव करने के कारण दिखलाई देता है। भाषा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी एक ही कवि ब्रज और खड़ी बोली दोनों भाषाओं का विषय के अनुसार प्रयोग करता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

इन कवियों में से अधिकांश तो दो-रंगी कवि थे जो ब्रजभाषा में तो शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता, कवित्त, सवैयों या गेय पदों में करते जाते थे और खड़ी बोली में नूतन विषय लेकर चलते थे। बात यह थी कि खड़ी बोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य प्रवाह के लिए कुछ नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण-सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रह कर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी पर गहराई के साथ नहीं।[2]

इस प्रकार इस काल में परिवर्तन और विकास यथार्थ में भाषा में है, पर उतना नहीं जितना विषय-निर्वाचन में।[3] यह विषय निर्वाचन बिलकुल स्वतन्त्र था। जैसा कि कहा

---

१ विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा।
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द नभ नील।
सुविशाल नभ वृक्ष पर आ रहा था चढ़ा॥

—सांध्य अटन, (श्रीधर पाठक)

२ देखिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का "हिन्दी साहित्य का इतिहास" पृ० ७२१।

३ भारतेन्दु युग भाषा और शैली की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस समय कवियों का ध्यान भाषा की ओर न होकर नवीन भावना की ओर अधिक था। अतः इस युग का वास्तविक महत्त्व नवीन चेतना की जागृति है।"

—डा० कमले नारायण शुक्ल कृत आधुनिक काव्यधारा पृष्ठ १०४

जा चुका है कि जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों को कविता का विषय बनाया गया। जहाँ कविता के विषय स्वतन्त्र थे वहीं उसके साथ भाषा के प्रयोग में भी स्वतन्त्रता थी। भाषा और भाव प्रकाशन सम्बन्धी प्राचीन नियमों का पालन तो होता न था, नवीन नियमों को बनाने वाले आचार्य नहीं हुए थे किंतु उसके बाद खड़ी बोली के साथ-साथ यह परिवर्तन के रूप में आया जिसे आधुनिक परिवर्तन का प्रथम चरण कह सकते हैं। प० रामचंद्र शुक्ल इस विषय म लिखते हैं—

'हरिश्चन्द्र के सहयोगियों म काव्यधारा क नये नये विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखलाई पड़ी पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन हुए। इस प्रकार स्वच्छन्दता का आभास सबसे पहले पं० श्रीधर ने दिया। उन्होंने प्रकृति को रूढ़िबद्ध रूपों तक ही सीमित न रखकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा।'[१]

प० श्रीधर पाठक में जिस प्रवृत्ति का प्रथम चरण देखने को मिलता है, प० रामचन्द्र शुक्ल ने उसको स्वच्छन्दतावाद का नाम दिया जिसके अन्तर्गत अपनी अनुभूति क अनुसार स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रकृति या मानव भावनाओं का वर्णन आता है। इसी को सम्भवत डा० श्रीकृष्ण लाल ने शब्दों के मित प्रयोग के कारण 'स्वच्छन्दवाद'[२] कहा है।

भारतेन्दु युग की एक विशेषता गद्य का विकास है। यद्यपि कविता में बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई देता पर एक बड़े परिवर्तन की नींव इस समय पड़ गई थी। जैसे पाश्चात्य प्रणाली पर शिक्षा का प्रचार बढ़ा वैसे ही साहित्य में नवीनता देखने की इच्छा भी जनता क हृदयों में प्रबल हो उठी। गद्य का शीघ्र विकास बहुत कुछ अंगरेजी साहित्य के सम्पर्क का ऋणी है और दूसरा परिणाम इस सम्पर्क का यह हुआ कि हमारी सांसारिक जीवन क प्रति अभिरुचि जाग्रत हुई। मनुष्य और मानसिक जीवन को समझने की जिज्ञासा प्रबल हो उठी। इन्हीं दो बातों ने प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति विद्रोह खड़ा करके नवीन दृष्टिकोण और नये आदर्शों का बीज बोया जिसका विकास देने में आगे के कवियों और लेखकों ने महत्वपूर्ण योग दिया।

इस विषय में बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में 'हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रन्थ का नीचे लिखा उद्धरण द्रष्टव्य है :—

"आधुनिक कवि जो स्वयं शिक्षित जनता के व्यक्ति थे, इस बात का अनुभव करने लगे कि उनके पूर्ववर्ती कवि यथार्थ से दूर हो गये थे। उन्होंने उनके संकुचित दृष्टिकोण का

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ ७२८।
२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल।

विरोध किया। कालिदास, भवभूति, वाल्मीकि और व्यास आदि के संस्कृत काव्यों के अनुशीलन से उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि मनुष्य केवल नायक ही नहीं है और न उसका समस्त जीवन नायिकाओं के हास-विलास तक सीमित है। मनुष्य, समाज का एक जीवित व्यक्ति है। वह अपने कर्तव्य-पालन में अपनी प्रियतमा पत्नी का परित्याग कर सकता है और निर्वासन की यातनाओं को सहर्ष सहन कर सकता है। अस्तु, आधुनिक कवि जिन्हें मानव-जीवन को समझना और उसकी भावपूर्ण व्यंजना करना अभीष्ट था, रीति कवियों के संकुचित दृष्टिकोण का विरोध और बहिष्कार करने लगे।"[1]

इस मानव-जीवन को समझने और उसको चित्रित करने के साथ ही इस युग में जो प्रधान प्रवृत्ति देखने को मिलती है, वह है[2] यथार्थवाद। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि यह यथार्थवादी प्रवृत्ति केवल अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क की ही देन नहीं है, वरन् यह उसके ठीक पहले संकुचित पथ पर चले जाने वाले साहित्य की प्रतिक्रिया-स्वरूप भी उत्पन्न हुई थी। यथार्थवाद मनुष्य के देव-दुर्लभ कार्यों में अविश्वास ही नहीं रखता, वरन मनुष्य की असफलताओं और दुर्बलताओं[3] से भी प्रेम करता है। अब कविता का आदर्शवादी स्वरूप नहीं रह गया था। अब तो धीरे धीरे आगे चलकर देवताओं और अवतारों के चरित्र भी मनुष्यों के समान चित्रित किये गए। प्रिय प्रवास, साकेत आदि इसके उदाहरण हैं।

इस यथार्थवाद का चित्रण भारतेन्दु काल में दो रूपों में देखने को मिलता है। १—जीवन के यथातथ्य चित्रण में और २—राष्ट्रीय दासता के वर्णन में। ये दोनों बातें उस समय की रचनाओं में मिलती हैं। हरिश्चन्द्र की प्रेम योगिनी, नील देवी, भारत दुर्दशा

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ ३१।

२ 'यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया किन्तु हरिश्चन्द्र का चलाया यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।"

'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' जयशंकर प्रसाद, पृ० १३८।

और भी देखिए 'आधुनिक काव्य धारा', डा० केसरीनारायण शुक्ल पृ० १५।

३ "दैवी शक्ति से तथा महत्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, सर्कीण संस्कारों के प्रति द्रुप होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को भी हरिश्चन्द्र की युग-वाणी में प्रकट होने का अवसर मिला।'

'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' का यथार्थवाद लेख, पृ० १३८।

नाटकों तथा प्रतापनारायण मिश्र,[1] श्रीधर पाठक,[2] प्रेमघन[3] और हरिश्चन्द्र[4] की कविताओं में ये व्याप्त हैं। हम देखते हैं कि धीरे धीरे राष्ट्रीय जागृति बढ़ती जाती है, देश-प्रेम की भावना बद्धमूल हो रही है और उसके साथ ही साथ समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन के आदर्श भी बदलते देख पड़ते हैं। अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन, राधाकृष्णदास आदि लगभग सभी कवियों की रचनाओं में ये बातें मिलती हैं। भारतेन्दु युग में स्वच्छन्द रीति से जीवन का यथार्थ चित्रण काव्य का नवीन आदर्श बन रहा था।

द्विवेदीकालीन काव्यादर्श

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में काव्य-परम्परा में परिवर्तन दील पड़ता है, पर काव्य शास्त्र की वही प्राचीन परम्परा ही चलती है। न कवियों की कविता में और न स्वतंत्र रूप से ही कवियों के काव्य सम्बन्धी व्यापक सैद्धांतिक विचार देखने को मिलते हैं। हिंदी भाषा के गौरव का मान अवश्य देखने को मिलता है। भारतेन्दु ने अपने 'हिन्दी लेक्चर' में मातृभाषा की उन्नति को सर्वोपरि स्थान दिया।[5] परिवर्तित विचार धारा के स्वच्छन्द और पुष्ट काव्य हमें बाद का ही मिले, जिस समय कि 'सरस्वती' पत्रिका का प्रारम्भ हो चुका था और पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के काव्यशासन-सम्बन्धी तथा कवि शिक्षा के लेखों

---

१ सब तजि गही स्वतंत्रता, नहिं चुप लातें खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाँव॥ २०॥
—प्रताप नारायण मिश्र, लोकोक्ति समह, पृष्ठ ३।

२ जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द, जय जयति जयति प्राचीन हिन्द।
हिन्द अनूपम अगम वन, प्रेम वेल रसपुञ्ज,
श्रीधर मन मधुकर फिरत, गुञ्जत नित नवकुञ्ज।
—हिमवंदना, पृष्ठ ४८।

३, अचरज होत तुमहु सम गोरे बाजत कारे, तासों कारे कारे सब्दहु पर हैं वारे।
कारे काम, राम जलधर जल बरसन वारे, कारे लागत ताहीं सों कारन को प्यारे।
यदे असोस देत तुमको मिलि हम सब कारे, सफल होहि मन के सब ही संकल्प तुम्हारे॥
—दादाभाई नौरोजी के काले कहे जाने पर प्रेमघन।

४ "हाय पचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत,
हाय चितौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी॥
—भारतेन्दु ग्रथावली खड २, पृष्ठ ८०४।

५. कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परम्परागत पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेन्दु काल में न हुआ।
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७७५।

द्वारा प्रभावित कवि खड़ी बोली में रचना प्रारम्भ कर चुके थे। परन्तु, उस समय भी काव्य-शास्त्र पर कवियों के लेख कम हैं। कविता में ही परिवर्तन देख पड़ता है। स्वच्छन्द विचार जो इधर उधर मिलते हैं उनमें व्यक्तिगत तथा समष्टिगत काव्यादर्शों का थोड़ा बहुत स्पष्टीकरण होता है। सरस्वती में, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'सुकविता पर बातचीत' नामक लेख में काव्य-सम्बन्धी कुछ बातों का विवरण है, जिससे काव्य-सम्बन्धी अधिक व्यापक सिद्धांत स्पष्ट न होकर साधारण परिवर्तित आदर्श ही स्पष्ट होता है। भाषा, छन्द और विषय-सम्बन्धी उदार विचार इस लेख में स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए अग्रलिखित उद्धरण दिया जाता है—

"सुकवि—अच्छा, उत्तम रसिक की सम्मति में उत्तम कविता की भाषा कौन सी होनी चाहिए?

रसिक—उड़िया बंगाली गुजराती, मारवाड़ी, बैसवारी, खड़ी पड़ी बैठी कोई भी हो परन्तु जो भाषा हो अपनी प्रथा के अनुसार स्वच्छन्द हो। शब्दों का सौन्दर्य जितना अधिक होगा, उतनी ही कविता रोचक होगी, परन्तु शब्द-सौन्दर्य के लिए अर्थ बिगड़ने न पावे।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भाषा के विषय में संकुचित विचार न था। भाषा में शब्दों का सौन्दर्य शब्दों के चुनाव पर निर्भर है पर यह शब्द का चुनाव व्यर्थ न हो, सार्थक हो। अर्थ-सौन्दर्य ही कविता की प्रमुख विशेषता है। इसी प्रकार—

"सुकवि—छन्द कौन सा हो?

रसिक—कोई भी। परन्तु जो हो उसका निर्वाह अच्छी तरह हो।"

यहाँ पर छन्द के सम्बन्ध में संभावना नहीं कि ब्रज भाषा का सवैया अथवा छप्पय या कोई एक विशेष छन्द हो, पर छंद की आवश्यकता अवश्य मानी गई है। अंत में विषय सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार है। रसिक कहता है—

"मतलब यह है कि ऐसा कोई विषय नहीं है जो काव्य का विषय न हो सके। यहाँ तक ऐसा कठिन विषय भी समर्थ कवि के हाथ पड़कर रोचक हो चुका है। श्री शंकराचार्य का 'विवेक चूड़ामणि' इस बात का उदाहरण है। परन्तु महाशय, काव्य और वस्तु है और विज्ञान और वस्तु है। काव्य सार वस्तु होती है। रस का आनन्द जो अनेक विषयों के आधार पर हो सकता है विज्ञान के विषय उसके लिए परित्याज्य नहीं हैं। पर इतना मैं और कहूँगा कि काव्य के गुणों के साथ उनका विवरण भी उपयोगी हो वा ज्ञान में सहायक हो।" (सरस्वती, भाग ७, सं० ६, पृष्ठ २६५, ६६)।

इसी प्रकार यत्र-तत्र साधारण विचार मिलते हैं जिससे काव्य-सम्बन्धी अधिक गम्भीर उद्देश्य व्यक्त नहीं होता है। सरस्वती भाग १०, सं० ७ पृष्ठ ३०४ म रामचरित उपाध्याय की 'कवि और काव्य' शीर्षक कविता म भी दो-एक पंक्तियाँ ही काम की हैं, और विचार नितांत साधारण हैं। कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

'स्तुति से, गुण से, रस से अलङ्कृता भी तथा प्रकृति से।
कविता हो या वनिता, दोनों सब को लुभाती हैं॥

नवरत्नों को नव रस कवि कहते हैं सभी सुकाम्यों में।
भूल रहे हैं वे जो पत्थर को रत्न कहते हैं॥"
—(सरस्वती भाग १०, सं० ७, पृष्ठ ३०४।

इसम सुन्दर काव्य का कुछ गौरव वर्णित हुआ है। कविता के नव रस, नवरत्नों से बढ़ कर हैं और कविता गुण एवं रस स युक्त होन पर भी अलङ्कृत होनी चाहिए। ये विचार प्राचीन हैं। इनमें कोई भी अनुभव की नवीनता और विशेषता नहीं मिलती।

कविता में केवल मनोरंजन ही नहीं, वरन् उचित उपदेश भी होना चाहिए। कवि की यथार्थ सामर्थ्य की अवहेलना इस बात से होती है कि जब हम उसे केवल मनोरंजन के लिए ही कविता की रचना करने वाला व्यक्ति समझते हैं। कविता सद्भावों को जीवित रखने वाली है और उसमें यह भी शक्ति है कि वह किसी मृत जाति को जीवित कर सकती है। कविता की और काव्य की इस प्रकार की शक्ति का संकेत श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की 'भारत भारती' की पंक्तियों में मिलता है। जैसे —

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

इसी प्रकार —

"सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना"[1]

सुकविता सद्भावों की सृष्टि भी करती है, अपनी शक्तिमयी शब्दावली के द्वारा उन्हें स्मरणीय बनाती है और जीवित भी रखता है। जीवित रखना इस प्रकार से नहीं जैसे कि जंगल के उपेक्षित ढाक के पेड़, वरन् कविता सद्भावों को इस प्रकार जीवित रखती है जिस प्रकार कि कोई अपने सुघर और होनहार बालक को जीवित रखता है। सभी उसे चाहते हैं और प्यार करते हैं। इसी प्रकार से सुकविता गत भाव हैं। अतः सद्भावों को जीवित, ललित और अमर बनाने के लिए कविता की परम आवश्यकता है, ऐसा गुप्त

१ भारत भारती, पृष्ठ १७१, १७२।

जी का विचार है। वे इस बात को भली भाँति समझते हैं कि साहित्य का किसी जाति के साथ क्या सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध का महत्व समझते हुये ही, कुवासनाओं को उद्दीप्त करने वाली कविता का वे विरोध करते है —

> भव हो कि जीवित जाति का साहित्य जीवन चित्र है।
> वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह जाति भी अपवित्र है॥
> जिस जाति का साहित्य था स्वर्गीय भावों से भरा।
> करने लगा अब बस विषय के विष विटप को वह हरा॥[१]

अतः यह स्पष्ट है कि काव्य के सम्बन्ध में गुप्त जी की भावना पूत है और वे काव्य का प्राचीन पवित्र आदर्श ही मानना चाहते हैं। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा इस आदर्श का अनुभव भी किया है। सभी काव्यों में सद्भाव और उच्चादर्श के साथ प्राचीन गौरव का गान है। गुप्त जी 'भक्ति' को काव्य की व्यापक प्रेरणा भी मानते हैं यद्यपि उसका प्रकाशन उन्होंने तुलसी की भाँति बहुत ही स्पष्ट शब्दों में नहीं किया फिर भी वह 'साकेत' में लिखित इन पंक्तियों से प्रकट होता है—

> राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
> कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है॥

यहाँ पर उद्देश्य और संकेत राम के साधारण चरित्र की ओर नहीं हैं। वे उस चरित्र की ओर हैं जो भक्त के हृदय में है, क्योंकि गुप्त जी राम के भक्त हैं, राम चाहे जो कुछ भी हों। वे कहते हैं —

> "राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
> विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
> तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे।
> तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।"
>
> —साकेत।

वे निरीश्वर हो सकते हैं, पर राम विहीन नहीं। अतः उनका काव्य सम्बन्धी आदर्श भी भक्त का आदर्श है। इसी पवित्र और उच्च आदर्श का निर्वाह उनकी सम्पूर्ण कविता

१, भारत भारती, पृष्ठ १२०।

में हुआ है। स्वयं द्विवेदी जी कविता को अलौकिक आनन्द देने वाली मानते हैं। उनका काव्यादर्श संस्कृत आचार्यों का सा है।[१]

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के समय खड़ी बोली की कविता को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की कविता को प्रोत्साहन और विकास इसी समय मिला। पर खड़ी बोली की द्विवेदी जी द्वारा प्रतिष्ठित शैली को न अपनाने वाले एक समुदाय की कविता ने खड़ी बोली का भंडार भरा है और द्विवेदी जी की स्पष्ट उपदेशात्मक, इति वृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया-स्वरूप सांकेतिक कलात्मक और कल्पनात्मक सूक्ष्म भावों को लेकर चलने वाले लोगों की रचना का प्रवाह भी वेग से बहा। ये छायावादी कवि कहलाये और प्रसाद जी इनके अग्रणी थे। इनकी शैली और विचार धारा में कुछ नवीनता थी और कुछ प्राचीन परिपाटी का विरोध भी। अत आचार्यों के आक्षेपों के उत्तर रूप तथा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए इन्हें काव्य सम्बन्धी अनेक बातों पर प्रकाश डालना पड़ा। यही कारण है कि जहाँ हमें श्री मैथिलीशरण जी के काव्यादर्श सम्बन्धी विचार उनकी काव्य-रचनाओं में यत्र तत्र आई पंक्तियों में ही प्राप्त होता है, वहाँ सवश्री जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि के अपने अथवा समुदाय के काव्यादर्श-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण करने वाले निबन्ध अथवा भूमिकायें मिलती हैं। इसका दूसरा कारण विनम्रता अथवा व्यक्तिगत स्वभाव भी हो सकता है, पर प्रधान कारण इन लेखों का यही रहा। अत इन कवियों के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विचार भी जहाँ जा मिलते हैं, बड़े ही रोचक हैं। इससे आगे के पृष्ठों में आधुनिक कालीन कवियों के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर क्या विचार हैं, इसका अध्ययन किया जायगा। इस स्थिति में हम काव्यशास्त्र के कुछ अंगों की धारणा में क्या विकास एवं परिवर्तन हुआ है, इसका अध्ययन कर चुके हैं पर अब उस सम्बन्ध में क्या धारणा है, इसका अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

---

१ सुरम्य रूपे! रसराशिरञ्जिते! विचित्र वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानन्द विधायिनी महाकवी कान्ते! कविते! अहो कहाँ? २६१॥
सुरम्यता ही रमणीय कान्ति है, अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे!
शरीर तेरा सब शब्दमात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही यही॥ २६५॥
—द्विवेदी काव्यमाला।

काव्यशास्त्र सम्बन्धी आधुनिक धारणायें

चतुर्थ अध्याय में द्वितीय खंड के अन्तगत जिन विचारों पर प्रकाश डाला गया है, वे विद्वानों के विचार हैं जिन्होंने प्राचीन काल से चले आते हुए काव्यशास्त्र के अनेक विषयों से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन कर उनका स्वरूप प्रकट करने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि इन विचारों का कुछ अंशों में वर्तमान कवि और कविता पर प्रभाव भी पड़ा है। पर काव्यशास्त्र के विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के लिए समझने के निमित्त अधिक काम के हैं, कवि की रचना और उसकी स्वच्छन्द एवं मौलिक धारणा पर प्रभाव उतना नहीं डाल पाते हैं। इसी कारण इन विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना के बाद भी हमें, कवियों की दृष्टि से काव्य का क्या स्वरूप है, उसका क्या प्रयोजन है, उसके क्या उपकरण हैं, उन उपकरणों का क्या स्वरूप है, और क्या होना चाहिए, तथा अन्य काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में कौन सत्य और असत्य है, काव्य सम्बन्धी और अनेक क्या समस्यायें हैं, काव्य की क्या प्रेरणायें हैं, आदि बातों पर विचार करना आवश्यक है।

इस अध्ययन की सामग्री और आधार, कवियों के इन विषयों पर निजी विचार, एवं उनकी काव्य-सम्बन्धी रचनायें हैं, जिनके आधार पर काव्य शास्त्र के आधुनिक स्वरूप का भवन खड़ा किया गया है। आगे की पंक्तियों में आधुनिक कवियों के विचारों का यथातथ्य समावेश, उन्हीं के दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या के साथ साथ करके, अन्त में उससे उद्भूत निष्कर्ष को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा। इन अनेक विषयों पर छायावादी, स्वच्छन्द एवं प्रगतिवादी प्रमुख कवियों का ही दृष्टिकोण दिया गया है, जो कि अपने युग और वर्ग के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। और इनमें भी जिन विचारों में नवीनता है, उन्हीं का विशेष उपयोग किया गया है। इसके लिए आवश्यक का ही सकलन हुआ है, सबका उपयोग नहीं। इस विषय में पहले हम कविता के स्वरूप पर प्राप्त विचारों का अध्ययन करेंगे।

काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप के विषय में आधुनिक कालीन लेखकों की धारणायें, लौकिक, आध्यात्मिक, रहस्यवादी, आदर्शवादी, यथार्थवादी, चमत्कारवादी, प्रगतिवादी प्रयोगवादी आदि अनेक रूपों और शैलियों में व्यक्त हुई हैं। छायावादी कवियों की धारणायें प्रायः आदर्शात्मक, रहस्यवादी और आध्यात्मिक हैं और उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वच्छन्द आधुनिक कवि

उसे यथार्थवादी और प्रगतिवादी रूप देते हैं। तथ्य तो यह है कि प्राचीन काल से लेकर अब तक काव्य का स्वरूप अनिश्चित सा चला आ रहा है। कोई काव्य के स्वरूप का निर्णय अभिव्यक्ति-सौष्ठव द्वारा करता है,[1] तो कोई भाव द्वारा,[2] कोई कल्पना और सूक्ष्म अथवा ऊहा को प्रधान मानता है[3] तो दूसरा जीवन की व्याख्या[4] और प्रेरणा को काव्य का सार बताता है। कोई संगीत और छन्द काव्य के लिए अनिवार्य मानता है, तो दूसरा स्वाभाविक,[5] आडम्बर विहीन भावपूर्ण प्रकाशन को ही काव्य का प्रधान अंग समझता है। अतः इसके लिए भी कहा जा सकता है कि "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना।" जितने ही मुँह हैं उतनी ही बातें हैं। ऐसी दशा में काव्य के स्वरूप के विषय में कोई भी निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं ठहर सकता। फिर भी यदि हम वर्तमान काव्य को देखें तो उसमें हमें काव्य-स्वरूप-विषयक, दो धारणायें ही अधिक बद्ध-मूल देखने को मिलती हैं। प्रथम तो उस समुदाय की धारणा है जिसे हम 'छायावादी' कह सकते हैं और दूसरी उस समुदाय की जिसे हम 'प्रगतिवादी' कहते हैं। छायावादी समुदाय की धारणा आध्यात्मिक, काल्पनिक और व्यक्तिगत होने के साथ-साथ अभिव्यक्ति कौशल तथा कलात्मक प्रकाशन पर ज़ोर देती है, जबकि प्रगतिवादी समुदाय काव्य को सर्वजन-सुलभ, जीवनोपयोगी और व्यावहारिक बनाना चाहता है। प्रगतिवादी समुदाय का स्वरूप अभी अपनी अन्तिम रेखा नहीं खींच सका है, उसकी धारणा और स्वरूप अभी अधपके हैं और प्रतिभावान् प्रगतिवादी कवि के अभाव में प्रगतिवादी-काव्य के लक्षण तो अधिक मिलते हैं पर उदाहरण कम। हाँ, एक बात और है कि प्रगतिवादी काव्य के उदाहरण यही स्पष्ट कहते हैं कि धीरे धीरे कविता गद्य के स्तर पर आ रही है और यह निम्न गति केवल प्रसाद गुण प्रेरित नहीं, वरन् भाव और कल्पना की हीनता के भी कारण है। उदाहरण लक्षणकारों की धारणा से कम मेल खाते हैं।

छायावादी समुदाय की धारणा को स्पष्ट करने के लिए हमें छायावाद के प्रमुख कवियों के विचारों का अध्ययन करना आवश्यक है। और इस दृष्टि से सबश्री जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, पन्त, निराला आदि के कविता-सम्बन्धी विचार महत्व के हैं।

---

१ ध्वनि तथा वक्रोक्ति सिद्धान्त को मानने वाले आचार्य।

२ रस सिद्धान्त के अनुयायी।

३ अलंकारवादी तथा छायावादी।

४ यथार्थवादी।

५ प्रगतिवादी।

साथ ही साथ यह जानना भी अभिप्रेत है कि इनकी धारणायें परस्पर कहाँ तक साम्य और कहाँ तक विषमतायें रखती हैं और प्रगतिवादी कवियों में भी पन्त, निराला, दिनकर आदि के विचार समीचीन हैं।

काव्य की परिभाषा देते हुए प्रसाद जी ने लिखा है 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प, या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।'[1] इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है "विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभयलक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" इस प्रकार जयशंकर प्रसाद के विचार से 'काव्य' सत्य की ही अनुभूति है और उनकी धारणा आध्यात्मिक धारणा है। रचयिता की दृष्टि से इसका महत्व अधिक है। हम इस परिभाषा पर अधिक विचार करें तो परिभाषा सर्वमान्य न होकर केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही स्पष्ट करती है।

पहली बात यह है कि काव्य को हम अनुभूतिमात्र ही नहीं मान सकते। हमारे साहित्य भंडार में भरा हुआ विशेषोक्ति, लक्षणा और अलंकार को लेकर चलने वाला समस्त काव्य, अनुभूति के रूप में नहीं है। इसलिए यह लक्षण केवल काव्य के एक अंग पर ही लागू होता है। "आत्मा की अनुभूति" शब्द पर भी आक्षेप किया जा सकता है। अनुभूति का सम्बन्ध शरीर या हृदय से ही हो सकता है, आत्मा की अनुभूति कैसी? आत्मा तो सदैव आनन्दमय ही है। इस शंका का समाधान हम यों कर सकते हैं कि काव्य की अनुभूति आनन्दमय ही है। साधारण अर्थ में अनुभूति, दुखमयी और सुखमयी भी होती है, पर आत्मा का अनुभव सब आनन्दमय ही है। इसलिए आत्मा की अनुभूति, आत्मिक अनुभूति का अर्थ देती है। अब रहा 'संकल्पात्मक' विशेषण। संकल्प और विकल्प ये मन के लक्षण हैं, जैसा कि प्रसाद ने स्वयं ही कहा है।[2] अनुभूति संकल्पात्मक या विकल्पात्मक नहीं हो सकती। अनुभूति संकल्पात्मक ही होती है अतः संकल्पात्मक शब्द व्यर्थ ही जान पड़ता है।

श्रेयमयी प्रेय ज्ञान धारा भी सदा ही काव्य नहीं हो सकती। श्रेयमयी प्रेय अनुभूति धारा काव्य हो सकती है। अतः इस परिभाषा की सर्वमान्यता प्रमाणित नहीं हो पाती। पर इससे यह बात स्पष्ट होती है कि प्रसाद जी की धारणा काव्य के विषय में आध्यात्मिक

---

१ देखिये काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ १७।

२ ,, ,, ,, ,,

"संस्कार का, सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है ।[1] संस्कृति, सौन्दर्य बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है ।[2] इस प्रकार संस्कारों का काव्यानुभूति से सीधा सम्बन्ध है । इसी के साथ-साथ ही प्रसाद की एक और धारणा समझ में आजाती है । विभिन्न समाजों की सभ्यता और शिष्टता में मूल रूप से कोई अन्तर नहीं है । एक ही सार्वभौम सत्य परिस्थितियों से प्रेरित और निर्मित संस्कारों के कारण विभिन्न समाज के लोगों में विभिन्न रूप में दिखाई पड़ता है । यही कारण है कि एक स्थान की या एक जाति की कविता दूसरी जाति की कविता से भिन्नता रखती है पर विचारकों के लिए सत्य का एक ही प्रकार का आधार प्राप्त है । सभ्यता का सबसे बड़ा काम हमारी सौंदर्यानुभूति को विकसित और परिष्कृत करना है । और इस प्रकार एक ही सत्य के आधार पर खड़े होकर भी हम सभ्यता के विकास द्वारा काव्य की विविधता और विकास प्राप्त करते हैं ।

प्रसादजी की काव्य-सम्बन्धी धारणा आदर्श प्रधान है । वह अभिव्यक्ति पर उतना ज़ोर नहीं देते जितना अनुभूति पर । उनके विचार से काव्य का सामयिक या व्यक्तिगत उतना महत्व नहीं जितना सर्वकालीन, सार्वभौम और सामाजिक महत्त्व है । इस कारण यद्यपि उन्होंने विभिन्न संस्कारों को विभिन्न अनुभूतियों का कारण बताया है, फिर भी आत्मा की अन्तरतम अनुभूति में व्यक्तिगत, एकदेशीय, अनुभूति नहीं वरन सामूहिक और सार्वभौम अनुभूति रहती है । काव्य का यथार्थ काम सत्य और सौंदर्य का अनुभव कर उसका प्रकाशन करना है । सौंदर्य सत्य का ही एक अंग है । प्रेय और श्रेय सत्य के दोनों पक्षों से काव्य का सम्बन्ध है । इस प्रकार काव्य आध्यात्मिक अनुभूति के नये रहस्यों के उद्घाटन में ही तल्लीन रहता है और इसी कारण से प्रसाद जी रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा मानते हैं । रहस्यवादी अनुभूति सत्य होने पर भी सब की अनुभूति नहीं है, क्योंकि सबके संस्कार भिन्न भिन्न होने से उनकी अनुभूतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं । अतः यह अनुभूति सार्वभौम और सर्वजनीन नहीं कही जा सकती ।

काव्य की उक्त प्रकार की धारणा छायावादी कवियों की विशेषता अवश्य है पर प्रसाद की सी दार्शनिक भावना अन्य कवियों की नहीं । प्रसाद ने जहाँ पर अपनी कविता-सम्बन्धी धारणा में आधार का विश्लेषण अधिक किया है वहाँ महादेवी वर्मा ने आधार के साथ साथ

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ४ ।

२ ,, ,, , पृष्ठ ५ ।

अनुभूति का। कविता का स्थान महादेवी जी के विचार से बड़ा ऊँचा है, उसका स्वरूप बड़ा कोमल है लौकिक सघर्ष क नीच कविता का उपयुक्त क्षेत्र नहीं। उसके विषय में उनका आत्मविषयक कथन सत्य जान पड़ता है अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री।" प्रसाद जी क समान महादेवी जी का भी यही विश्वास है कि काव्य का उद्देश्य सत्य को प्रकट करना है। परन्तु जहाँ वे कविता म श्रेय और प्रेय दोनों का प्रकाशन मानते हैं, वहाँ भी महादेवी जी ने सत्य को काव्य का साध्य माना है और सौन्दर्य का साधन।[1]

काव्य समाजशास्त्र राजनीति, दर्शन तथा भौतिक विज्ञानों से इस बात म भिन्न है कि य शास्त्र जहाँ पर मनुष्य और प्रकृति की बाहरी और भीतरी समस्याओं पर विचार करते हैं वहाँ पर काव्य या साहित्य का काम मनुष्य और प्रकृति के जीवन का सजीव चित्र स्थापित करना है। साहित्य द्वारा उपस्थित मनुष्य क समग्र जीवन का चित्र राजनीति से शासित, समाज शास्त्र से नियमित विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्याप्त हो चुका है।[2] इसलिए काव्य का महत्व दर्शन की भाँति न केवल विचार क्षेत्र तक ही सीमित है वरन वह जीवन-व्यापी भी है। जीवन क अव्यक्त रहस्य की भावना व्यक्त करना काव्य का मुख्य उद्देश्य है। इस कारण से किसी भी जाति और देश का एक युग-विशेष में लिखा गया काव्य भी सर्वयुगीय होता है। साहित्य का शाश्वत महत्व है, पर साहित्य के क्षेत्र में कविता का महत्व और भी विशेष है।

महादेवी जी क विचार से कविता हमें असीम सत्य की झाँकी दिखाती है जो कि साहित्य के अन्य अंगों द्वारा नहीं हो सकती। उन्हीं के शब्दों में "वास्तव म जीवन में कविता का वही महत्व है जो कठोर भित्तियों से घिरे हुए कक्ष के वायुमंडल को अनायास ही बाहर क उन्मुक्त वायुमंडल से मिला देने वाले वातायन का मिला है। जिस प्रकार वह आकाश-खंड को अपने भीतर बंदी कर लेने के लिए अपनी परिधि में नहीं बाँधता प्रत्युत हम उस सीमा रेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टि प्रसार की सुविधा देने के लिए है, उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने क लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि म बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु न उनमें सामजस्य की ऐसी परिणति होती है न आयासहीनता। जीवन की विविधिता में सामजस्य को साथ लाने क कारण ही कविता

१ आधुनिक कवि १, भूमिका पृष्ठ ३।

२ ,, ,, ,, ,,।

उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनुरूपता या रेखाओं की विषमता के सामञ्जस्य पर स्थित है।"[1]

महादेवी वर्मा के विचार से ज्ञान और भाव दोनों क्षेत्रों से ही खोज कर कविता सत्य को हमारे सामने उपस्थित करती है। कविता का सत्य, भावक्षेत्र का सत्य अधिक है। दीपशिखा की भूमिका में उन्होंने लिखा है "बहिर्जगत से अन्तर्जगत् तक फैले ज्ञान तथा भाव क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार किया होगा।"[2] और "कला सत्य को ज्ञान के सिकता विस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है।" यहाँ पर कला शब्द भारतीय ६४ कलाओं का प्रतीक नहीं वरन्, पश्चिमीय भाषाओं के 'आर्ट' का पर्यायवाची है। प्रसाद जी इसी कारण से कला की कोटि में काव्य को नहीं रखते, क्योंकि कला में केवल लाघवता तथा चमत्कार का प्रदर्शन ही है पर काव्य सत्य की खोज भी करता है।

पुनः इस विषय में थोड़ा मतवैषम्य जयशङ्कर प्रसाद और महादेवी वर्मा में और है। महादेवी वर्मा का काव्य-विषयक दृष्टिकोण यद्यपि आध्यात्मिक ही है, पर यह उनके लिए मान्य नहीं कि सर्वश्रेष्ठ काव्य रहस्यवादी ही है, जैसा कि प्रसाद का विचार है।[3] 'आधुनिक कवि' की भूमिका में उन्होंने लिखा है "न वही काव्य हेय है जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थूल और व्यक्त जगत पर आश्रित है और न वही जो अपनी सप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव में दोनों ही मनुष्य के मानसिक जगत की मूल और बाह्य जगत की अमूर्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्य-कला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती, तब उसका कारण विषयविशेष न होकर कवि की असमर्थता ही रहती है।[4]

इतना होते हुए भी प्रसाद और महादेवी का दृष्टिकोण अध्यात्मवाद की दृष्टि से बहुत अधिक मिलता है। प्रारम्भ से लेकर अब तक रहस्यवादी कवितायें होती रही हैं

---

१ आधुनिक कवि, १ की भूमिका पृष्ठ ४।

२ दीपशिखा की भूमिका पृष्ठ २—१४, १५ पक्तियाँ।

३ काव्य और कला तथा अन्य निबंध पृ० ३१,
 काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"

४ आधुनिक कवि, १, पृ० १०।

इसमें ज्ञान के आधार पर कवि उस पूर्ण पुरुष में मग्न होना चाहता है, फिर भी उसे उस अनुभव का प्रकाशन लौकिक रूपकों में ही करना पड़ता है, क्योंकि अन्यथा कोई और उपाय नहीं। हम अपने आसपास आदर्श की सृष्टि करना चाहते हैं। यह भी हमारी आध्यात्मिक कविता का कम महत्त्व नहीं है, न रहा है और न होगा।[1]

'पन्त जी सुमित्रानन्दन जी का दृष्टिकोण अधिक स्थूल एवं विकासवादी कहा गया है। वे सौंदर्यमय और कल्याणकारी भावों के स्वच्छन्द प्रकाशन को कविता में महत्व-पूर्ण स्थान देते हैं। सत्य का शिव य और सौंदर्यत्व से मुक्त कथन कवि कर्तव्य के भीतर नहीं है। उनका विश्वास है कि "सत्य शिव में स्वयं निहित है जिस प्रकार फूल में रूप तथा रंग है। फल में जीवनादायनी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के निर्माण द्वारा ही होती है उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिव में सत्य द्वारा ही होती है।"[2] अत सत्य, सुन्दर और शिव के साथ अपने आप ही आ जाता है। पन्त जी की कविता को दृष्टि में रख कर यही निष्कर्ष निकलता है कि कविता का प्राण सौन्दर्य ही है शिवत्व उतना नहीं। क्योंकि पन्त की वे रचनायें, जिनमें सौन्दर्य का स्वच्छन्द वर्णन है, अधिक कवित्व-पूर्ण हैं और जिनमें शिवत्व का वर्णन है व उतनी कवित्व पूर्ण नहीं। उदाहरणार्थ उनकी "आँसू से कविता की नीचे लिखी पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं ,—

मेरा पावस ऋतु सा जीवन
मानस सा उमड़ा अपार मन
गहरे धुँधले धुले साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन।

इन्द्र धनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर
कभी कुहर से धूमिल घोर
दीखती भावी चारों ओर।

तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर।

---

१ दीपशिखा भूमिका पृ० १०। पैरा ६, ७।

२ आधुनिक कवि, २, पृ ६, (प न)

गुरु गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सौन्दर्य की प्रेरणा के कारण कला और भाव, काव्य के दोनों पक्षों का सामंजस्य देखने को मिलता है पर नीचे की पंक्तियों में, जिनमें सौन्दर्य नहीं, वरन् शिवत्व प्रेरक है उतना काव्यगत सौन्दर्य नहीं —

'मुक्त करो नारी को मानव मुक्त करो नारी को।
युग युग की बर्बर कारा से जननि सखी प्यारी को।"

तथा

"मानव के पशु के प्रति हो उदार नव संस्कृति।
मानव के पशु के प्रति मध्य वर्ग की हो रति।'

इसी प्रकार की युगवाणी और युगान्त की कुछ रचनायें हैं। पन्त जी प्राचीनता के विरोधी हैं और कविता में भी क्या छन्द, क्या शब्द-चयन, क्या भाव, क्या अलंकार सब में नवीनता को लेकर चलना चाहते हैं। प्रसाद और महादेवी की भाँति प्राचीन संस्कृत साहित्य और शास्त्र पन्त जी को पृष्ठ भूमि नहीं दे सके पर अंग्रेजी के 'रोमांटिक कवि सम्प्रदाय तथा बंगला के टैगोर का प्रभाव इन पर पड़ा है अतः इन कवियों की कवितायें तथा प्रकृति की खुली आँखों निरीक्षण ही पन्त को कविता को मधुर और सुन्दर बनाने में सहयोग दे सका है। इसलिए पन्त में कला का स्वाभाविक स्वरूप है परम्परागत और सांस्कृतिक स्वरूप नहीं है जो हमें प्रसाद और महादेवी में देखने को मिलता है। पन्त जी कला के अलंकार आदि प्राचीन सिद्धांतों की रूढ़ि का विरोध करते हैं यद्यपि इनका अभाव उनकी कविता में नहीं है। युग-वाणी की 'नव दृष्टि' शीर्षक कविता में वे स्वयं लिखते हैं :—

'खुल गये छन्द के बंध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त
औ, युग वाणी बहती अयास।

---

१ आधुनिक कवि, २, पृ० ७०।

बन गये कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम
जीवन, संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम
सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित भाव मात्र
बन गये स्थूल
जग जीवन से हो एक प्राण
मानव स्वभाव ही
बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण
असुन्दर को सुन्दर

—(युग वाणी ।)

इन पंक्तियों में पन्त पर 'प्रगतिवाद' का प्रभाव है जिसमें कि काल्पनिक एवं आध्यात्मिक जगत के चित्रण को महत्व न देकर युग की समस्याओं और मानव जीवन के स्वच्छन्द और स्वाभाविक चित्रण पर जोर दिया जाता है। ये उद्गार हिन्दी के प्राचीन छन्द, अलंकार इत्यादि काव्य के कलापक्ष सम्बन्धी कड़े नियमों की प्रतिक्रिया स्वरूप हैं, क्योंकि यद्यपि इसमें छन्द के बन्ध खुल जाने और अनुप्रास के पाश से मुक्त हो जाने की घोषणा है फिर भी कवि इनसे मुक्त नहीं है क्योंकि कविता के ये गुण हैं। हाँ इनका प्रयोग अब अधिक स्वाभाविकता के साथ है। भाषा और भाव के अनुकूल छन्दों और अलंकारों का प्रयोग है।

फिर कवि का आदर्श किसी समय जीवन-संघर्ष से दूर, कल्पना के देश में रहना ही समझा जाता था, पर अब पन्त जी की विकासवादी दृष्टि यही है कि जीवन संघर्षण देता सुख, लगता ललाम। यह मानों पन्त जी का अपने आप से ही समझौता करने का प्रयत्न है। जीवन से दूर प्रकृति की सौंदर्यमयी क्रीड़ा-स्थली में विचरण करने वाला कवि इस प्रकार की भावना अपनाता है, परिस्थिति और प्रभाववश। इस प्रकार हमें काव्य के स्वरूप में परिवर्तन लक्षित होता है। यहाँ पर कवि की वाणी (कविता) स्वाभाविक एवं विकासशील है, रूढ़िग्रस्त नहीं। कविता के बाह्य रूप के सम्बन्ध में पन्त जी का आदर्श ऊपर के पद्य-खण्ड से स्पष्ट हो गया। आन्तरिक रूप का आदर्श भी

उनकी, 'वाणी'-शीर्षक कविता से स्पष्ट है जिसमें वे वाणी को अलंकार हीन और सब समाज को अपना संदेश देने के लिए उपयुक्त बनने का आदेश देते हैं।

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी, मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?

चिद् शून्य, आज जग नव निनाद से हो गुंजित
मन जड़ उसमें मर्मस्थितियाँ के गुण हों जागृत
तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार।
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार।

युगकर्म शब्द, युगरूप शब्द युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार।
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार।
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार?

इस प्रकार कवि ने संदेश भरी अलंकार के पीछे न चलने वाली और जागृति फैलाने वाली वाणी को ही कविता का आदर्श माना है। यथार्थ में यही वर्तमान कविता का नवीनतम आदर्श है जिसे हम प्रगतिवादी आदर्श कहते हैं। ऐसी कविता हमारे जीवन से सम्बन्ध रखने वाली होती है और कला के चक्कर में न पड़कर, सुबोध सवजन सुलभ भाषा में प्रभावपूर्ण ढंग से जीवन की व्याख्या और यथार्थ जीवन के चित्रण का आदर्श रखती है। पन्त जी का यह भाव जितना प्रगतिवादी है यथार्थ में उनकी कविता इतनी प्रगति शाली नहीं हो सकी, क्योंकि वह अलंकारों को छोड़ वास्तविक जीवन को चित्रण करने और युग को संदेश देने में अधिक समर्थ नहीं।

निराला जी छायावाद के कलाकार और स्वच्छन्दता-प्रिय कवि हैं। काव्य के विषय में इनकी धारणा नवीन छन्दों और नवीन गीतों के आविष्कार में स्पष्ट होती है। कविता को ये बहुत सूक्ष्म कला मानते हैं जिसके चित्र पूरे और अर्थ गहरे हों। पर निराला भाव का ही कविता में प्राधान्य चाहते हैं। सूक्ति और उपदेश को कविता में ये कोई स्थान नहीं देते। अपने निबन्ध "मेरे गीत और कला" में इन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

"सूक्तियाँ, उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं प्राय नहीं केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।"[१] निराला जी मुक्त छन्द और मुक्त गीतों के पक्षपाती हैं, पर वे कविता के शब्दों म भाव और कला दोनों का ही होना आवश्यक समझते हैं। इस कला का रूप यह आवश्यक नहीं कि प्राचीन ही हो। वह जितनी भी नवीनता धारण कर सके उतना ही अच्छा। निराला जी छायावाद के कलाविद् कवि हैं तथा छायावाद और प्रगतिवादी दृष्टिकोणों के बीच की कड़ी हैं। कविता के प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अभी तक कोई बहुत बड़ा कवि नहीं मिला। प्रगतिवाद में कविता के और अधिक स्वाभाविक प्रभावशील और सरल स्वरूप की कल्पना की गई है, किन्तु बहुत से प्रगतिवादी कवितायें लिखने वाले कवि भी विश्वासतः छायावादी हैं।[२] अतः प्रगतिवाद क नाम पर सामयिक कवितायें ही आती रही हैं, स्थायी सवजनीन और कला पूर्ण कवितायें बहुत कम हैं।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण छायावादी धारणा के विरोध और प्रतिक्रिया की प्रेरणा से प्राप्त हुआ है पर इसका यह अथ नहीं कि कविता प्रगतिवादी कवियों की ही है छाया वादियों की नहीं। प्रगतिवाद का साम्प्रदायिक और सकीर्ण दृष्टिकोण बड़ी सरल, विशेषतया प्रभाव तथा कला से हीन कवितायें दे रहा है। यथार्थ में कवि किसी भी सम्प्रदाय म फँसने वाला प्राणी नहीं। वह अपने विश्वासों और अपने भावों का मुखर प्राणी है। प्रचार के झोंके उसे डिगा नहीं सकते। इन सब बातों का स्पष्टीकरण वतमान कवियों में प्रमुख श्री रामधारी सिंह दिनकर' के 'रसवन्ती' की भूमिका में लिखे विचारों से हो जाता है। वे लिखते हैं —

सम्भव है, अपने अर्थ म मुझे प्रगतिवादी समझने वाले कुछ पाठक 'रसवन्ती' से निराश भी हों। उनक आश्वासन् क लिए मैं निवेदन करूँगा कि दिन भर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ क हृदय म भी चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बाँसुरी का सा कोई अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती को फोड़कर किसी जलधारा के बह जाने की व्याकुलता का नाद है। .. ..

इसके सिवा प्रगति का जो अथ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसक दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित-चवर्ण,

---

१ प्रबन्ध प्रतिमा—मेरे गीत और कला लेख पृ० २८४।

२ 'दिनकर' कृत रसवन्ती की भूमिका।

पुरातन-विजृम्भन और गतानुगतिकता के खिलाफ हैं। वे सभी लेखक प्रगतिशील हैं जो अनुकरणशील नहीं कहे जा सकते। प्रगति का प्रतिलोम युग विमुखता नहीं, बल्कि गति-विमुखता अथवा अगति है।

सार्थक साहित्य हमेशा प्रगतिगामी हो हुआ करता है। साहित्य में प्राचीन शैलियों की आवृत्ति किसी भी युग में आदर नहीं पा सकी और अनुकरण कर्ताओं को कभी भी स्रष्टा का पद नहीं मिला। साहित्य की यात्रा में सदैव वे ही पूजनीय माने गये हैं जिनका पन्थ प्राचीन अथवा समकालीन यात्रियों से किंचित् भिन्न, कुछ नवीन अत प्रगति की ओर था।' [१]

'दिनकर' के इन विचारों में कविता की यथार्थ प्रेरणा काम करती है। प्रगतिवाद निषेधात्मक रूप में ही अपना उद्देश्य रखता तो ठीक है, पर आदेशात्मक प्रेरणा कवि को कवि या कविता से ही अधिक मिला करती हैं। काव्य के आलोचकों में मस्तिष्क के साथ साथ उससे अधिक हृदय की आवश्यकता है। प्रगतिवाद, छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में आया था। प्रतिक्रिया या विरोध के रूप में आये हुए वाद बहुत अधिक स्थायी महत्व के नहीं होते। पर इधर वर्तमान हिन्दी काव्य में कुछ दिनों से वादों का ही बोलबाला है। प्रतिक्रिया के रूप में आये प्रगतिवाद ने भी बहुत ही आशाजनक पथ प्रदर्शन नहीं किया। इसकी भावना भी हमें दिनकर की 'रसवन्ती' की भूमिका में मिलती है। वे लिखते हैं —

"जिन्होंने धरती के क्रन्दन से बचने के लिए कभी आकाश की शरण ली थी वे ही आज झोपड़ियों के पास बैठकर रो रहे हैं। एक दिन जिन स्वप्नों की रक्षा के लिए पृथ्वी का तिरस्कार किया गया था आज वे ही स्वप्न आहुतियों के रूप में अग्नि को समर्पित किये जा रहे हैं। तब जो साहित्य तैयार हुआ था उसमें चिन्तना की कमी है। एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले ही कहला ले, लेकिन समय के बिना वह दीर्घायु नहीं हो सकता है।"[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता का स्वरूप किस प्रकार परिवर्तित हुआ है। बाह्य रूप से भी परिवर्तन हुआ है, जिसका विशेष अध्ययन छंद अलंकार आदि के प्रकरण में किया जायगा पर आभ्यंतर परिवर्तन हम इन पृष्ठों में देख चुके हैं। छायावाद

१ रसवन्ती की भूमिका, पृ २, ३।
२ ,, ,, ,, १२।

और प्रगतिवाद के दृष्टिकोणों में पिछले रूप के प्रति विरोध भावना है, बस यहीं त्रुटि आ उपस्थित होती है। इसे हम परिवर्तन कह सकते हैं। विकास वहाँ होता है जहाँ पर हम पिछले स्वरूप, पिछले सिद्धान्त का भी सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं, पर उसके जिस अंश को त्रुटिपूर्ण या अविकसित पाते हैं उसे छोड़ अन्य सभी अंगों को अपनाते हुए उस विशेष अंश का परिवर्तन और सम्वर्धन करते हैं। काव्य यदि यथार्थ काव्य है तो उसका किसी भी युग में नाश नहीं हो सकता है। विकसित रूप में वह रहेगा अवश्य। पर खेद की बात है कि काव्य-स्वरूप के विकास की योग्यता के स्थान में विदेशीयता का अपनाव या नवीनता की सनक अधिक देखने को मिल रही है। प्रगतिवाद का उद्देश्य बड़ा ऊँचा हो सकता है पर उसके भीतर वह कवि-प्रतिभा नहीं लक्षित होती है जिससे कि एक युग भर तक इसकी धूम मच जाय और हम यह न कह पावें कि इससे अच्छी कविता तो ठीक इसके पहले ही होती थी। इसके लिए आवश्यकता है कवि को जीवन के साथ घुल मिल जाने की, अपने उच्च आदर्श की लगन की और साधना की, जीवन की स्वच्छता की, निर्भीकता और विश्वास-दृढ़ता की। हम कवियों में इन बातों का अभाव ही पाते हैं, इसीलिए प्रगतिवाद इतना पवित्र सिद्धान्त होते हुए भी अधिक प्रभावशाली साहित्य की सृष्टि नहीं कर सका।

इसके बाद 'प्रयोगवाद' आया। प्रयोगवाद, छायावाद की नूतन अभिव्यंजना पद्धति का ही एक रूप है। छायावाद ने जहाँ भाव और सौन्दर्य चित्रण की स्वच्छन्द मार्मिक व्यंजना को अपना लक्ष्य बनाया, वहाँ प्रयोगवाद विलक्षण अप्रस्तुत योजना में ही दत्तचित्त है। इस पर विशेष प्रभाव अंग्रेजी कवियों—प्रमुखतया टी० एस० इलियट—का पड़ा है। इस वाद से भी महान काव्य की आशा व्यर्थ है। हाँ कुछ प्रयोग अवश्य सराहनीय हैं।

कविता और कला

कविता और कला का क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न भी आजकल के कवियों के दृष्टिकोण से विचारणीय है। कला अपने व्यापक अर्थ में बहुत विस्तृत है और इस दृष्टि से कविता की भी कला हो सकती है, पर क्या सम्पूर्ण कविता, कला के क्षेत्र के ही अन्तर्गत है, इस विषय पर भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में भेद है। पाश्चात्य मत से ललित कलाओं में कविता का स्थान है। यह सर्वश्रेष्ठ ललित कला है पर कविता केवल कला नहीं है। वह कला के अतिरिक्त और कुछ है, क्योंकि कविता की कला मात्र से अभिज्ञ व्यक्ति निश्चय श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकता। उसका कला पक्ष अवश्य है पर वह एक पक्ष-मात्र है। अतः या तो हम कला के अर्थ को अधिक व्यापक दृष्टि से देखें अथवा कविता की

सीमा को संकीर्ण करें तभी यह सम्बन्ध निभ सकता है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कुछ महत्वपूर्ण आधुनिक कवियों के विचारों का अध्ययन करेंगे।

जयशंकर 'प्रसाद' कविता को कला के अन्तर्गत नहीं मानते। उनके विचार से कविता विद्या है, जबकि कला उपविद्या है। कला का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से रहता है। कविता का अभिव्यक्ति-सम्बन्धी स्वरूप उसका बाह्य रूप है, जिसके भीतर भावों का आवेग है। जिसे कुछ सुन्दर और कल्याणकारी भाव प्रकट करना है, उसकी अभिव्यक्ति भी रमणीय होती है। अतः दोनों आन्तरिक और बाह्य पक्षों का महत्वपूर्ण स्थान है पर कला के भीतर बाह्य पक्ष ही आता है। अभिव्यक्ति और भाव के सम्बन्ध में भी अनेक सिद्धान्त हैं। कुछ लोग अभिव्यक्ति को ही प्रमुख मानते हैं पर जयशंकर प्रसाद कविता में भाव प्राधान्य के समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि 'व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं-परिणाम है।'[1] यही एक कारण है जिससे बहुत से विद्वान् अभिव्यक्ति-कला के अनेक अंगों का ज्ञान रखते हुए भी कवि नहीं हो पाते। जब भाव तीव्र होते हैं तब उनकी अभिव्यक्ति भी सुन्दर होती है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'प्रसाद' जी एक उदाहरण लेते हैं। वात्सल्य वर्णन में सूर तुलसी से आगे बढ़ जाते हैं। इस पर कोई यह निष्कर्ष निकाले कि सूर अभिव्यक्ति कौशल में तुलसी से बढ़कर हैं और तुलसी कला की दृष्टि से और यदि कला को ही कविता मानें तो कविता की उत्कृष्टता में सूर से पीछे हैं। पर क्या यह सत्य है ? तुलसी की कलात्मक अभिव्यक्ति अन्य स्थलों पर सूर से भी बढ़कर है। तो इससे जयशंकर प्रसाद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिस भाव की तन्मयता जिस कवि में अधिक गंभीर जिस स्थल पर होती है वहीं वह अपनी अभिव्यक्ति में दूसरों से बढ़ा है। अतः अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता का भाव की तीव्रता से ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कविता को कला के भीतर वर्गीकरण करने का चलन पश्चिमीय विचारों का प्रभाव है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जयशंकर प्रसाद की दृष्टि से यह बात समीचीन नहीं। काव्य की गणना विद्या में और कला की गणना उपविद्या में हुई है और उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित ६४ कलाओं के अन्तर्गत 'समस्या-पूर्ति' भी एक कला है। 'श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीड़ार्थम् वादाय च'। इस प्रकार समस्या-पूर्ति मनोरंजन के लिए थी किन्तु उसका आदर्श बहुत ऊँचा नहीं है। वह भी

१, कविता और कला तथा अन्य निबंध पृ २१।

एक प्रकार का हुनर या किन्तु पश्चिम म कला का यह भाव नहीं है। वहाँ पर कला का बहुत व्यापक अर्थ म प्रयाग हुआ है। यहाँ तक कि उसक भीतर कविता का समावेश भी हो गया।

उपकरण सामग्री और उपयोगिता क विचार से कला का विभाजन उपयोगी और ललित कलाओं म हुआ है। ललित कलाओं के अतगत वास्तु कला, मूर्ति कला, चित्र कला, सगीत और काव्य हैं। इनमें स एक दूसरे की उत्कृष्टता, उपकरण और सामग्री की सूक्ष्मता पर निधारित है। मूर्ति-कला के भीतर प थर का प्रयोग किया जाता है, चित्रकला में रग, कूची, कागज आदि का प्रयाग होता है, सगीत म बाजे का प्रयोग होता है। इस प्रकार से यह सभी कविता से निम्न श्रेणी की कलायें हैं क्योंकि कविता में प्रयुक्त सामग्री बहुत सूक्ष्म है। जयशंकर प्रसाद इस प्रकार के भद के आधार पर आपत्ति करते हैं क्योंकि कविता की सामग्री वण और छद उसी प्रकार स्थूल हैं जैसे चित्रकला और सगीत की सामग्री। और इस प्रकार से उपकरण की सूक्ष्मता क आधार पर कविता को अन्य ललित कलाओं से उत्कृष्ट बनाना हास्यास्पद है। कविता को उत्कृष्ट[1] बनाने वाली उसकी अन्य विशेषतायें हैं।

जयशंकर प्रसाद का विचार है कि सगीत क भीतर का य का वर्गीकरण, जैसा कि 'प्लेटो' ने किया है, सम्भवत इनकी आकारहीनता क कारण किया गया है। किन्तु प्लेटो का ढग और भी विचित्र है। वह सगीत और व्यायाम उपयोगी कलाओं क अन्तगत रखता है, क्योंकि जिस प्रकार से व्यायाम क द्वारा शरीर का विकास होता है उसी प्रकार से सगीत के द्वारा मनोरंजन। अरिस्टॉटिल कविता का अनुकरण कहता है। इस प्रकार से हम सहज ही देख सकते हैं कि का य विषयक पश्चिमीय दृष्टिकोण अधिक स्थूल है, अधिक भौतिक है और आध्यात्मिक नहीं। उसम का य के भीतर लोकोत्तरानद का अनुभव कम अभिव्यक्त हुआ है। जयशकर प्रसाद का काव्य विषयक, पश्चिमीय वर्गीकरण का व विवेचन बहुत सरस है। 'बेकन' क निब धों में एक वाक्य है जिसका अर्थ है कि इतिहास मनुष्यों को बुद्धिमान बनाता है, कविता प्रत्युत्पन्न-बुद्धि, प्राकृतिक दशन गम्भीर और तकशास्त्र वाद विवाद के योग्य बनाते हैं।[2] इससे कविता का महत्व स्पष्ट है। कविता का तुरन्त बुद्धि से सम्ब ध यह सिद्ध करता है कि उसका महत्व इन विचारकों की दृष्टि

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १० और ११

२ Hi t es make men w e poet witty n tu al p l sophy l vp a l logic a l to t nd —Bac n—E sa s d s.

म अधिक गम्भीर नहीं है। भारतीय और पश्चिमीय दृष्टि में इस विभेद का कारण परम्परा और संस्कृति है, जैसा कि प्रसाद जी का विश्वास है।[१]

हमारे यहाँ काव्य के विषय में दूसरी ही धारणा है। जयशंकर प्रसाद का विचार है कि कवि और ऋषि शब्द वैदिक साहित्य में समानार्थी थे।[२] इस पक्ष के प्रमाण स्वरूप उपनिषदों से वे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं जैसे —

'तदेतत् सत्यम् मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेतायाम बहुधा सेततानि।'

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ।' कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू ।' इत्यादि।

इस प्रकार से कवि के काव्य में केवल कला ही नहीं वरन जीवन का यथार्थ रहस्य उद्घाटन भी था। ऊपर की पंक्तियों म कवि शब्द का प्रयोग दार्शनिक या द्रष्टा के अर्थ में किया गया है।

जयशंकर प्रसाद काव्य को इसी अर्थ म प्रयुक्त कवि की कृति के रूप में लेते हैं। इस प्रकार उनके विचार से काव्य में आध्यात्मिक भाव ही प्रधान है। यद्यपि कुछ अंशों में हिन्दी काव्य के सम्बन्ध में यह धारणा ठीक है पर यह हमें मानना पड़ेगा कि इसमें भी एक समय ऐसा आया[३] जब कि कविता में कला का प्रदर्शन ही अधिक महत्व का हुआ और कवि एक कलाकार ही के रूप में परिगणित हुआ, अध्यात्मवादी द्रष्टा के रूप में नहीं क्योंकि आध्यात्मिक पक्ष कविता के क्षेत्र से उठकर दर्शन के क्षेत्र में चला गया।[४] अलंकारों के द्वारा प्रभावित कवि अधिकांश कलाकार ही रहे। आध्यात्मिक सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न उन्होंने बहुत कम किया, पर प्रधान रूप से काव्य का आध्यात्मिक महत्व रहा अवश्य।

आचार्य दण्डी ने नृत्य और संगीत को कला कहा है। अभिनय गुप्त ने भी कला का सम्बन्ध गाने-बजाने से ही रक्खा। आचार्य भामह ने काव्य को चार कोटियों में देव

---

१ संस्कृति का सामूहिक चेतना से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है।" काव्य और कला', पृ ४।
संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है। 'काव्य और कला' पृ० ५।

२ काव्य और कला पृ १२।

३ १७वीं शताब्दी इसवी।

४ काव्य और कला प ६३।

चरित्रशुद्धि, उत्साह, कलाश्रय और शास्त्राश्रय भेदों को रक्खा है और इस प्रकार से कला को प्रधानता देने वाली कविता काव्य की एक कोटि विशेष मानी गयी है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि कविता कला के अन्तर्गत नहीं। कला-पूर्ण कविता हो सकती है और कविता की कला भी, किन्तु कविता कला से उत्कृष्ट वस्तु है। काव्य, सभी प्रकार की रचनात्मक कृतियों के लिए प्रयुक्त शब्द है। कविता शब्द का प्रयोग हम कलापूर्ण काव्य के लिए कर सकते हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा का दृष्टिकोण काव्य और कला के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद के दृष्टिकोण से भिन्न है। प्रसाद की भाँति वे कला को केवल हुनर या चतुराई के अर्थ में नहीं लेतीं, वरन् उन्होंने कला शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। दोनों का ही उद्देश्य बताती हुई वे कहती हैं कि काव्य और कला दोनों ही सत्य को प्रकाशित करने का उद्देश्य रखती हैं पर काव्य और कला-द्वारा निरूपित और उद्‌घाटित सत्य, वैज्ञानिक के द्वारा निश्चित सत्य से भिन्न होता है। वैज्ञानिक द्वारा उद्‌घाटित सत्य के अन्तर्गत कला का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं, पर कविता में सत्य कला का आवरण लेकर उतरता है। काव्य में कला की उत्कृष्टता है। उनका विचार है —

"काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे विन्दु तक पहुँच गया है जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीमती वर्मा का भी विश्वास यही है कि काव्य केवल कला ही नहीं, विद्या भी है। सत्य के प्रकाशन की विधि को और स्पष्ट करती हुई वे कहती हैं कि काव्य और कलाओं में प्रधान तत्व, सौन्दर्य तत्व है और इसी के द्वारा सत्य के उद्‌घाटन का प्रयत्न, काव्य करता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि वस्तु का बाह्य सौन्दर्य ही कवि या कलाकार के काम का हो। कवि जीवन के सत्य को सौन्दर्य मय ढंग पर प्रकाशित करना चाहता है, अतः दर्शनीयता या बाह्य-सौन्दर्य ही केवल उसके काम का नहीं, जीवन के भीतर का असुन्दर और कठोर अंश भी जीवन-व्यापी सत्य को सौन्दर्यपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए आवश्यक है। इस विषय में उनका कथन है "सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलायें जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूप-रेखा पर नहीं - गुलाब के रंग और नवीनता की कोमलता में कंकाल छिपाये हुये रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियों में

---

१ दीपशिखा चिन्तन के क्षण पृ ३।

जीवन का विज्ञान लिए हुये वृद्ध भी कम आकर्षण नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता संघर्ष जय पराजय सब मूल्यवान हैं पर अन्तर्जगत् की कल्पना स्वप्न भावना आदि भी कम अनमोल नहीं।" इस प्रकार कविता के सौन्दर्यतत्व को रमणीयता कहना अधिक उपयुक्त होगा। कवि और कलाकार जगत् और जीवन का चित्र उपस्थित करते हैं। ये जगत् और जीवन के चित्र, अनुभव में आने वाले जगत् और जीवन के यथार्थ चित्र होते हुए भी उससे अधिक रमणीय हैं। यथार्थ जगत् के जीवन में पीड़ा का अनुभव काँटा चुभने पर होता है, किन्तु कवि उसी पीड़ा का भावात्मक अनुभव काँटा लगने के यथार्थ अनुभव के बिना ही, हमें देता है और वह अनुभव कष्टकर नहीं वरन् आनन्दमय अनुभव है। इसी भावात्मक अनुभूति के गुण से विपन्न होने के कारण, समाज-सुधारक के रूखे उपदेश प्रभावहीन होते हैं किन्तु कवि जीवन की किसी कहानी के साथ जिन उपदेशों को रखता है उनका प्रभाव हृदय पर पड़ता है। यहाँ पर हम इस बात का सहज अनुभव कर सकते हैं कि भारतीय पौराणिक साहित्य का क्या महत्त्व है। उपदेश से वास्तविक प्रभाव डालने के लिए अनेक ऐतिहासिक कथानक पुराणों में समाविष्ट होकर ही उस साहित्य को इतना रोचक बना सके हैं।

जयशंकर प्रसाद की भाँति महादेवी वर्मा भी काव्यानन्द को आध्यात्मिक मानती हैं। उनके विचार से सौन्दर्यानुभूति रहस्यात्मक है, क्योंकि यदि वह सौन्दर्य का एक कण हमारे सामने सर्वव्यापी और अखण्ड अन्तर्जगत के सौन्दर्य को नहीं खोल सकता तो वह प्रभावहीन है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अपने आकर्षण के गुण के सहित हमारे हृदय के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। जिस सामंजस्य की ओर सौन्दर्य-स्वीकृति या अपनाव के लिए संकेत करता है, इसी सामंजस्य की ओर असौन्दर्य और कुरूपता अस्वीकृति या घृणा के लिए प्रेरणा देते हैं। इसलिए सौन्दर्यानुभूति व्यापक सौन्दर्य की अनुभूति है और घृणा का भाव उसकी विरुद्ध भावना है। हम सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं इससे यह स्पष्ट है कि इस भावना का वास हमारे अन्तर्जगत में है और असौन्दर्य की भावना विजातीय है। जगत के पदार्थों का व्यक्तिगत सौन्दर्य भी महादेवी वर्मा की दृष्टि में उसी प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित है जैसे समुद्र की एक लहर समुद्र की असंख्य लहरों से।[1] इस प्रकार काव्यानुभूति भी व्यापक और आध्यात्मिक अनुभूति है।

किन्तु यहाँ यह तात्पर्य कदापि नहीं कि महादेवी वर्मा का दृष्टिकोण कलाकार को एक

---

१ दीपशिखा चिन्तन के क्षण, पृष्ठ २।
२ " , " १ १६।

विचित्र अनुभूतियों का व्यक्ति बना देता है क्योंकि वह उपर्युक्त प्रकार का अनुभव लेकर आता है। तत्त्वतः सत्य यही है कि हम अपने आत्मिक अनुभवों में बहुत कुछ एक हैं। अतः कलाकार की कृति या उसका स्थान विलक्षण न रह कर महत्वपूर्ण और पथ प्रदर्शक सा होता है। वह हमारे भावों से परिचित अपने सगे व्यक्ति की भाँति है। इस प्रकार के भाव महादेवी जी ने 'दीप शिखा' की भूमिका 'चिन्तन के क्षण' में व्यक्त किये हैं —

"कवि, कलाकार, साहित्यकार, सब समष्टिगत विशेषताओं को नव नव रूपों में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सके तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायेंगे। महान् से महान कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचय भरा अपनापन ही जगायेगा, क्योंकि वह धूमकेतु सा आकस्मिक और विचित्र नहीं, किन्तु ध्रुव सा निश्चित और परिचित रहकर ही हम मार्ग दिखाने में समर्थ है।"[1]

महादेवी वर्मा के विचारों में कला का अर्थ चित्रकला के रूप में ही अधिक है। जयशंकर प्रसाद के समय कला शब्द का प्रयोग, 'आर्ट' के स्थान पर प्रारम्भ हुआ था, अतः उन्हें इसकी आवश्यकता जान पड़ी कि इस पश्चिमीय 'आर्ट' और भारतीय कला का विभेद स्पष्ट कर दिया जाय, पर उसके बाद कला का आज का प्रयोग, आर्ट के अर्थ में लगभग स्थापित हो चुका है और इसी स्थापित अर्थ को ही महादेवी वर्मा तथा अन्य लोगों ने लिया है।

कला के सम्बन्ध में निराला जी का मत प्रचलित, परम्परागत और बाह्य रूप पर विचार करने वाला है। कला उनके मत में वह सौन्दर्य है जो काव्य के अनेक गुणों से उत्पन्न होता है। उन अनेक गुणों में एक पर विचार करना कला को पूर्ण स्पष्ट न करना है। जैसे खट्टा, मीठा आदि अनेक विशिष्ट स्वाद अलग अलग जो अनुभूति देते हैं उससे नितान्त भिन्न वह अनुभूति है जो इनके एक में मिश्रण द्वारा प्राप्त होती है। इसी प्रकार काव्य का सौन्दर्य है, जिसे निराला जी 'कला' कहते हैं। उनका कथन है:—

'कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है। पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह देह की चौगुना दीनता में तरल की-सी उतरती चढ़ती हुई

१ दीपशिखा चिन्तन के क्षण, पृ० १५।

भिन्न वर्णों की रुनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर लीन होती हुई—जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से, न डाल से, न पौदे से जड़ से लेकर तना, डाल से पल्लव और फूल के रंग रेणु गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए ज़रूरी है वैसी ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण"[1]।

ऊपर के कथन पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निराला जी की कला विषयक धारणा प्रसाद और महादेवी की धारणा से भिन्न है। वे काव्य-सौन्दर्य को कला कहते हैं। सौन्दर्य लाने की कुशलता को कला नहीं। पूरी काव्यकला के अन्तर्गत उनके विचार से वर्ण सौन्दर्य, शब्द-सौन्दर्य, छन्द, अनुप्रास, अलंकार रस, ध्वनि आदि सभी आजाने चाहिए। इस प्रकार काव्य सौष्ठव ही उनके विचार से कला है। यहाँ पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो दोनों में भेद है। काव्य सौष्ठव, काव्य कला नहीं हो सकता है। कला, सौष्ठव या सौन्दर्य को प्राप्त करने या उपस्थित करने का प्रयत्न और चतुराई है। इस प्रकार कला साधन हुआ और सौन्दर्य साध्य या परिणाम। अब दोनों में अन्तर अवश्य है, किन्तु बाह्य रूप से यह भेद उतना नहीं जान पड़ता। काव्य का सौन्दर्य काव्य की कला ही जान पड़ता है। ऊपर के उद्धरण में निराला जी ने और सब बातें जो कला के लिए लीं वे ठीक हैं पर रस को भी काव्य कला कहना ठीक नहीं जान पड़ता है, क्योंकि और सभी बातें साधन और रस साध्य है। इस प्रकार ऊपर के कथन में यह भ्रम स्पष्टतया विद्यमान है। हाँ, निराला जी का यह विचार कि सभी उपकरण मिलकर कला को पूर्ण करते हैं, एक उपकरण अकेला नहीं, वे कला के अंगमात्र हैं पूर्ण कला नहीं, अवश्य समीचीन है।[2]

कला के विषय में निराला जी ने अपने "शान्ति का फूल अपने ही वृन्त पर" शीर्षक निबन्ध में और अधिक लिखा है, पर उसमें कोई विचार की स्पष्टता नहीं है। कला की प्रशंसा में ही कुछ शब्द हैं। किन्तु कला के विषय में विचार करते हुए निराला जी का यह निश्चित मत है कि कला के विकास के साथ-साथ साहित्य में नई भाषा भी विकसित होती है। वे कहते हैं कि हरा फेंटदार मजबूत गठन ही इसकी नवीन कला को चाहिए।[3] यही कारण है कि निराला जी ने भाषा और छन्दों के परिवर्तन की दिशा में इतना मार्ग तय किया है।

---

१ देखिये प्रबन्ध प्रतिमा "मेरे गीत और कला" शीर्षक लेख, पृ० २७२।

२ "मैं लिख चुका हूँ कि केवल रस, अलंकार या ध्वनि कला नहीं। अगर है तो कला के यथार्थ में, पूर्णता में नहीं।" प्रबन्ध प्रतिमा।

३ प्रबन्ध पद्म, पृ० १७२।

पन्त जी का कला के सम्बन्ध में विचार बहुत कुछ निराला जी से मिलता जुलता है। वे कला को किसी बंधन में नहीं बाँधना चाहते हैं। चाहे भाषा का बंधन हो, अथवा छंद का। कोई भी बन्धन उन्हें पसन्द नहीं है। वे भाव प्रकाशन के लिए नवीन ढंग के प्रेमी हैं। भाव और शैली के लिए हम अपने प्राचीन कवियों को न देखें। वर्तमान समय के अथवा अन्य भाषाओं के कवियों से जो चाहें ले लें। यह बात निराला जी के लेख "पन्त जी और पल्लव" से भी प्रकट है। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में यद्यपि ब्रजभाषा और उसके काव्य के विषय में बहुत कुछ कहा है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा का सा लालित्य भरने वाले पन्त जी ही हैं। उन्हें काव्य के सौन्दर्य की परख है और पकड़ है। खड़ी बोली के खड़ेपन को उन्होंने इसी शक्ति द्वारा लचकदार और मधुर बनाया है। कला सम्बन्धी इस सूझ के उदाहरण स्वरूप उनके कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं। खड़ी बोली की कविता में क्रियायें काफी बाधा डालती हैं। उनके विषय में पंत जी कहते हैं—

'खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलता पूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर (Expression) शिथिल पड़ जाता है, और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। "है" को तो जहाँ तक हो सके निकाल देना चाहिए। इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है। इस दो सींग वाले हरिण को "आश्रम मृग" समझ कर, इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं लगता। यह "कनक मृग" है इसे कविता की पंचवटी के पास फटकने देना अच्छा नहीं लगता। समास का काम तो व्यर्थ बढ़कर इधर उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काँट छाँटकर उन्हें सुन्दर आकार प्रकार देने तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुए भावों के पुष्पों को व्यक्त-भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठ तथा श्रीहीन हो जाती है।'[१]

इस प्रकार कला की सूक्ष्म अनुभूति रखते हुए भी पन्त जी ने कला पर सूक्ष्म दृष्टि तथा व्यापक और सार्वभौम रूप पर विचार प्रकट नहीं किया है। भाव को सहज रूप में व्यक्त करना कला का काम है, पर कला के रूपों और उपकरणों का अनुकरण, युग की आवश्यकतानुसार काव्य पुष्टि और उसके प्रभाव में घातक होता है। अतः कला का युग युग में जितना ही स्वच्छन्द स्वरूप बन सके उतना ही अच्छा है। ऐसा पन्त जी का मत है।

---

१ पल्लव का प्रवेश पृ० ५६।

अन्तिम विचार प्रगतिवादी लेखकों के दृष्टिकोण से भी मेल खाता है। प्रगतिवादी कवि कला को अधिक स्वाभाविक और सरल बनाना चाहते हैं। कला ऐसी हो जो कृति को प्रभावशाली बना दे। ऐसा न हो कि विद्वानों और विशेषज्ञों के मस्तिष्क ही उसमें उलझे रहें। यह कविता की उपयोगिता से सम्बन्धित करने के विचार का ही एक पक्ष है। उपयोगी कविता उद्देश्य-पूर्ण है, जीवन पर प्रभाव डालने वाली है अत उसमें सूक्ष्म कला पर उतना जोर नहीं दिया जा सकता जितना स्वाभाविक प्रकाशन पर, जो कि युग के अनुरूप बदलता रहता है। "पूँजीवाद, समाजवाद और कविता" शीर्षक लेख में भी प्रकाशचन्द गुप्त ने प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रकट करते हुए कहा है —

'कला का मनुष्य से सीधा सम्बन्ध है और जैसे मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदलेंगे, कला नए सम्बन्धों को व्यक्त करेगी। प्रेम और प्राकृतिक सौन्दर्य को हम नई दृष्टि से देखेंगे और हमारे कवि, मनुष्य और प्रकृति के प्रति अपने बदलते भावों को वेग और शक्ति से स्वर देंगे।"[1]

कला के अन्तर्गत वेग और शक्ति आवश्यक है, ऐसी कला की सूक्ष्मता जिसमें वेग और शक्ति न हो व्यर्थ ही होती है, क्योंकि उसका प्रभाव नहीं पड़ता और प्रगतिशील क्या, सभी व्यक्ति इस बात को मानते हैं कि जो रचना साहित्यिक और उच्च होने पर भी जितनी अधिक पढ़ी जाय वह उतनी ही सुरल है। केवल विद्वानों द्वारा ही समादृत होना उत्तम कसौटी नहीं है। अतः कला सूक्ष्म चाहे उतनी न हो उसका व्यापक और प्रभावकारी होना आवश्यक है। इस विषय में 'दिनकर' जी का मत है —

"जो बात मौलिकता के विषय में है वही कला की सूक्ष्मता के सम्बन्ध में भी। कला की विशेषता काव्य द्रव्य को भली भाँति प्रकट करने में है और जहाँ द्रव्य है वहाँ शैली की भी शोभा है। कुछ नहीं, कहने का ढंग कभी भी आकर्षक नहीं हो सकता। सूक्ष्मता की उपासना के प्रयास में कविता जैसी अप्रखर होती जा रही है वह साहित्य के लिए दुर्भाग्य की बात है, श्रोताओं की काफी बड़ी संख्या के बिना कोई भी काव्य शायद ही जीवित रह सकता है। और आज के साहित्य में कवियों और पाठकों के बीच एक खाई सी बनती जा रही है। - इस अशोभनीय अवस्था का बहुत बड़ा दायित्व काव्यकला के विशिष्टीकरण के प्रयास पर है।"[2]

---

१ 'पूँजीवाद, समाजवाद और कविता' लेख, हंस का कविता अंक पृ० १०, वर्ष १२।
२ रसवंती की भूमिका 'दिनकर'।

इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य का व्याकरण उतना आवश्यक नहीं जितना काव्य का स्वाभाविक उल्लास और जीवन के प्रति स्वस्थ ध्येय। कहने के लिए कुछ होता है तो कहने की कला अपने आप ही आ जाती है और कहने के लिए कुछ नहीं है तो केवल कला का ज्ञान व्यर्थ है। काव्य के सम्बन्ध में तो कम से कम यह कहा ही जा सकता है। आस पास के जीवन का ज्ञान और अनुभव, भावुकता और भाषा पर अधिकार की प्राप्ति कवि को सदैव कविता की स्वाभाविक कला से सम्पन्न बनाती रहती है।

कविता के तत्व और उपकरण

कविता के तत्व

कविता के तत्वों में हम उन वस्तुओं को ले सकते हैं जो कि कविता का बीज रूप अथवा उसकी उत्पत्ति का कारण होती हैं जिनकी उपस्थिति के बिना कोई लेख कविता नहीं हो सकता। विद्वानों ने रस, ध्वनि, रीति वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है, पर इनसे कविता की उत्पत्ति नहीं होती है, कविता के प्रणयन में इनसे सहायता नहीं मिलती, ये कविता के सौंदर्य हैं, निर्माण तत्व नहीं। शरीर के तत्व पंचभूत हैं, पर मानव शरीर की शोभा या गुण ये नहीं शोभा या गुणों के अन्तर्गत, सुशीलता शौर्य, दया, उदारता, छवि आदि बातें आती हैं। ऐसे ही कविता के तत्व भी काव्य सौन्दर्य के उपकरणों से भिन्न हैं। कविता के तत्व दो हैं —

१ कल्पना और २ भाव। इन दोनों की उपस्थिति कविता की सृष्टि करती है। वे बीज रूप हैं जो साधनों और उपकरणों से संयुक्त होकर कविता को अंकुरित एवं पल्लवित करते हैं।

कल्पना-तत्व को हम अधिकांश कविता में पाते हैं, जहाँ भाव का प्रभाव नहीं, वहाँ भी कल्पना का आकर्षण रहता है। कल्पना-तत्व को हम दो रूपों में पाते हैं। एक तो सूझ के रूप में और दूसरे स्मृति के रूप में। इसको हम प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित प्रतिभा के रूप में भी ले सकते हैं। सूझ के रूप में कल्पना, नवीन उद्भावना, रूप योजना चित्रण और अलंकार उपस्थित करती है और स्मृति के रूप में कल्पना हमारे देखे-सुने दृश्यों को सामने लाती है जिनमें अधिकांश के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध रहता है। जो हमारे देखे दृश्य हैं उन्हीं को जब कवि हमारे सामने उपस्थित करता है, तो हमें बड़ा ही आनन्द मिलता है। दोनों प्रकार की कल्पनाओं का आनन्द भिन्न भिन्न होता है। कविता में हम कल्पना तत्व की उपस्थिति दोनों रूपों में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, महादेवी वर्मा के नीचे के गीत में हम सूझ अधिक देखते हैं।

विहगम, मधुर स्वर तेरे मदिर हर तार है मेरा।
रही लय रूप छलकाती, चली सुधि रंग ढुलकाती,
तुझे पथ स्वर्ण रेखा, चित्रमय संसार है मेरा।
गगन का तू अमर किन्नर, धरा का अजर गायक, उर,
मुखर है शून्य तुझसे, क्षय भरा यह क्षार है मेरा।
तुझे पा बज उठे कण कण, मुझे छू लासमय क्षण क्षण,
किरण तेरा मिला झंकार सा अभिसार है मेरा।
उषा तू छन्द बरसाता, चला मन स्वप्न बिखराता,
अमिट छवि की परिधि तेरा अचल रस पार है मेरा।
धरा से व्योम का अन्तर, रहे हम स्पन्दनों से भर,
निकट तृण नीड़ तेरा धूलि का आगार है मेरा।
पिघी नभ में कथा भीनी घुली भू में व्यथा भीनी
सजिल उपहार तेरा बादलों सा प्यार है मेरा।
न कलरव मूल्य तू लेता, हृदय सांसें लुटा देता,
सजा तू लहर सा राग, दीप सा शृंगार है मेरा।
चुने तूने विरल तिनके गिने मैंने तरल मन के
तुझे व्यवसाय गति है, प्राण का व्यापार है मेरा॥[१]

ऊपर के गीत में पूरा साम्य सूझ के बल पर ही चलता है। खग के जीवन से अपने जीवन का साम्य अनेक बातों में दिखाना सूझ का ही काम है। शब्द-साम्य, भाव-साम्य के साथ दोनों का चित्र उपस्थित किया गया है। ऐसी कविता में अलंकारों का आधिक्य रहता है।

इसके विपरीत नीचे के छन्द में 'स्मृति' का प्राधान्य है —

"आँखों में ही घूमा करता, वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो गया, जवानी में ही मारा।
बिका दिया घर द्वार महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह, कुर्क हुई बरधों की जोड़ी।
उजरी उसके सिवा किसे कब, पास दुहाने आने देती,
वह आँखों में नाचा करती, उजड़ गई जो सुख की खेती।

---

१ दीपशिखा, ११ वाँ गीत।

बिना दया दरपन के गृहिनी स्वर्ग चली आँखें आती भर,
देख रन के बिना हुपुहुदी, बिटिया दो दिन बाद गई मर।

पिछले सुख की स्मृति आँखों में क्षण भर एक चमक है लाती,
तुरत शून्य म गड़ यह चितवन तीखी नोक सदृश बन जाती।[१]

ऊपर की रचना में भाव और स्मृति दोनों ही एक साथ चलते हैं किन्तु स्मृति अधिक व्यापक है। आँखों के सामने इस प्रकार के दृश्य आ जाते हैं। आजकल की अनेक कवितायें इसी ढंग पर हैं।

कल्पना के इन दोनों तत्वों से संयुक्त होकर कविता अपना प्रभाव डालती है। कवि के भीतर कविता जाग्रत होती है, पाठक के भीतर भी कल्पना का आनन्द जगाती है। अत कल्पना-तत्व कविता का एक प्रधान और बलशाली तत्व है।

"भाव' कल्पना से भी प्रबल तत्व है। भावावेश की दशा में प्रत्येक वाक्य कविता होता है और प्रत्येक शब्द प्रभावपूर्ण। भाव की दशा पूर्ण स्पन्दन की दशा है, एक ज्योति की दशा है, सजगता की दशा है हिलोर और आनन्द की दशा है, 'भाव' का प्रकाशन मधुर लगता है और भावपूर्ण अवस्था में मौन भी कम मधुर नहीं। प्रकाशन के साथ ही भाव की तीव्रता और बढ़ती है और जब तक उसका आवेश रहता है, बराबर बनी रहती है। भाव की प्रबलता को ध्यान में रखते हुए ही पंडितवर विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्यं काव्यम्' कहा है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि भाव कविता का तत्व है और रस उसका गुण है। भाव कविता का बीज है और रस उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त पूर्ण आनन्द या शोभा। रस कार्य है, भाव कारण है। इसलिए कविता का तत्व रस नहीं वरन भाव ही हो सकता है। इन दोनों तत्वों को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि आजकल का कवि कल्पना पर अधिक निर्भर रहता है, भाव तत्व का बहुत कुछ अभाव ही रहता है।

कविता के उपकरण

कविता के उपकरणों में भाषा, छन्द और अलंकार हैं। भाषा तो कविता का अनिवार्य अंग है, पर काव्य के उपकरण के रूप में भाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए, यह प्रश्न वर्तमान दृष्टिकोण से विचारणीय है। छन्द और अलंकार कविता के अनिवार्य

---

१ हंस का 'कविता अंक', अक्टूबर १९३१, में पन्त की 'वे आँखें' शीर्षक कविता।

अंग नहीं हैं फिर भी कविता के लिए आवश्यक अवश्य हैं। दोनों ही यदि कविता के तत्वों के साथ सामंजस्य रखते हुये आते हैं तो बड़े ही महत्व के हैं। इनमें से प्रत्येक पर वर्तमान कवियों के नवीन विचार मिलते हैं। आगे की पंक्तियों में प्रत्येक पर अलग अलग विचार किया जायेगा।

भाषा

भाषा कविता का शरीर है। बिना भाषा के भाव निराकार है और उनका व्यापक प्रभाव नहीं है। मनुष्य को भाषा की विशेषता ने ही अन्य प्राणियों से अधिक भावुक, सभ्य और ज्ञानवान् बनाया है। किसी भी प्रकार के विचार या भाव के प्रकाशन के लिए भाषा आवश्यक है। भाषा भावों को प्रकट करने वाली भी होती है और भावों का जगाने और उत्तेजित करने वाली भी। किसी भाव में भरे बैठे रहो तो कुछ नहीं, पर जैसे ही उसको भाव से प्रकट करने का प्रयत्न करो कि भाव पूरी सबलता के साथ जग पड़ता है।

कविता का प्राण भाव है अवश्य, पर कला की देह भाषा ही है। अतः कविता में भाषा का महत्व है। यह उसका प्रमुख उपकरण है और अंग भी। आज कल कविता की भाषा के सम्बंध में विचारणीय प्रश्न यह है कि कविता की भाषा कैसी हो। इस प्रश्न पर मतभेद है। कुछ लोग कविता की भाषा को जन-साधारण की भाषा से भिन्न मानते हैं। कुछ लोग उसकी भाषा बोलचाल की और सरल बनाना चाहते हैं तो कुछ उसे क्लिष्ट और संस्कृत शब्दावली प्रधान। परन्तु भाव के सम्बंध में सरलता और कठिनाई का प्रश्न नहीं उठता। निश्चय रूप से यदि पूछा जाय तो उचित यही है कि भाषा भाव को पूर्ण रीति से व्यक्त करने वाली हो। भावानुकूल उसमें मधुरता और व्यापकता होनी चाहिए। भाषा की सर्वजन-सुलभता एक ऐसी विशेषता है जो कविता को अधिक सर्वप्रिय बना देती है। तुलसी के अनुसार भणिति, सुरसरि के समान सबका हित करने वाली होनी चाहिए। सर्व हितकारी वस्तु के लिए सभी के द्वारा सहज-ग्राह्यता का गुण भी आवश्यक है। किन्तु कवि का यह प्रयत्न अपेक्षित नहीं कि वह भाषा को अवश्य सरल बनावे। अनुभूत भावों को स्पष्टता और मिठास के साथ प्रकट करने के प्रयत्न में भाषा अपने आप ही अनुकूल हो जाती है। सरल या क्लिष्ट बनाने का प्रयत्न भाषा को अस्वाभाविक बना देता है। 'निराला' जी का मत भाषा की व्यापकता के विषय में इस प्रकार व्यक्त हुआ है —

"गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना। उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। ब्रजभाषा, साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। उसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गये हैं जिससे अधिक कोमलता आ नहीं सकती। ब्रजभाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दाक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के कायल हैं। बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में उसकी छाप मिलती है।"[1]

'निराला' ब्रजभाषा को साहित्य की मान्य भाषा मानते हैं। और ऐसी ही साधना खड़ी बोली के लिए भी करने की सम्मति देते हैं पर ब्रजभाषा को साहित्य सुलभ बनाने के लिए विशद और व्यापक भाव भरने के अतिरिक्त उसे मधुर बनाने का भी प्रयत्न किया गया है, वैसे तो वह स्वभाव से मधुर है ही। केवल व्यापक भाव भरने से भाषा सवजन सुलभ न होगी। मधुरता के लिए प्रयत्न अवश्य करना पड़ेगा। मधुरता भाषा को काव्य का रूप देती है। मधुरता उसे ग्राह्य और रुचिकर बनाती है। मधुरता, रस के अनुकूल होती है। वीर में ओज गुण भाषा को मधुरता और रोचकता दान करता है और करुणा में मृदुलता, कोमलता भाषा को भावानुकूल बनाती है अतः दोनों प्रकार प्रयत्न आवश्यक हैं। इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता के लिए भाव और भाषा का सामंजस्य होना आवश्यक है।

भाव और भाषा का सामंजस्य, यदि उसमें कोई भी भाव है, तो वह रमणीय कविता का उद्गम है। पन्त जी ने भाव और भाषा के सामंजस्य पर अधिक ज़ोर दिया है। उनका कथन है कि जहाँ भाव और भाषा की मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु समुदाय' ही दादुरों की तरह इधर उधर कूदते, तथा साम्ध्वनि करते हुए सुनाई देते हैं।[2] इसी भाव और भाषा के सामंजस्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वे कवि की भाषा के लिए चित्र भाषा होना आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है:—

'कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों। सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने

---

१ देखिये निराला जी का 'प्रबन्ध पद्म' पृष्ठ १८।

२ पल्लव का प्रवेश, पृष्ठ २७।

चित्रित कर सकें जो प्रकार में चित्र चित्र में प्रकार हों, जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सूँघते ही सांसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जावे, ... ।"[1]

भाव और भाषा का सामंजस्य जिन कवियों की कविता में अधिक मिलता है उनकी ही कविता की ख्याति अधिक होती है। भाव और भाषा के सामंजस्य की विशेषता के साथ यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भाव की अनुभूति जो कवि को होती है उसे ही पूर्णतया स्पष्ट करने की सामर्थ्य काव्य भाषा की विशेषता है। अब भाव और भाषा के सामंजस्य के साथ भाषा का समर्थ होना भी आवश्यक है। समर्थ शब्द पर विचार करके देखें तो वह भी इसी सामंजस्य की ओर संकेत करता है। सम्यक् अर्थ जिसमें है वही समर्थ भाषा है। अब भाषा भावानुकूल समर्थ और मधुर होनी चाहिए।

अन्त में हमें भाषा के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा सदैव एक ही नहीं रहती है। उसकी शैलियाँ, उसका शब्द-भण्डार निरन्तर विकास को प्राप्त हुआ करते हैं। जिस प्रकार युग-युग में भाव बदलते हैं उसी प्रकार भाषा और शैली भी। फिर भी उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे बरबस बदलने का प्रयत्न किया जाय। भाषा के लिए स्वाभाविकता का गुण उसका प्रमुख सौन्दर्य है। कृत्रिमता, भाषा के सौंदर्य को भोंडा और अग्राह्य कर देती है।

छन्द

जिस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में कुछ लोगों का यह विचार है कि कविता की भी भाषा जनसाधारण की भाषा होनी चाहिए उसी प्रकार उनका यह भी विचार है कि छन्द कविता के लिए आवश्यक नहीं है। छन्द और गति से स्वतन्त्र होकर कविता अधिक स्वाभाविक होगी। बहुतेरे यह भी समझते हैं कि कवि को छन्द के नियम-बद्ध होकर, स्वाभाविकता-पूर्ण सहज भाव प्रकाशन में बाधा और कठिनाई पड़ती है। अतः उसे छन्द की पूर्ति के लिए कुछ शब्द भरती के लाने पड़ते हैं जिससे कि कविता अस्वाभाविक हो जाती है और इस प्रकार गद्य और पद्य की भाषा में छन्द की दृष्टि से भी कोई भेद नहीं होना चाहिए।

ऐसे प्रयत्न भी किये गए हैं जिनमें कविता को बिल्कुल गद्य के समान ही व्यक्त किया गया है। पर उनमें भी गति है, नियम है, छन्द है, बन्धन है, हाँ, वह वैसा दृढ़तर नहीं

---

१ पल्लव का प्रवेश, पृ० २९।

जैसा पुराने छन्दों का। हम उन कविताओं को ध्यान से देखें तो उनमें शब्द-क्रम गद्य के शब्द क्रम से भिन्न हैं, कुछ वाक्य अधूरे हैं, इसीलिए कि उनमें भी गति है, नियम है और उस नियम के कारण हमें क्रम बदलना पड़ता है। छन्द का जीवन उन कविताओं से पूर्णतया बहिष्कृत नहीं हो सका। हाँ, मार्के की बात तो यह है कि प्रत्येक भाषा के अपने उपयुक्त छन्द होते हैं और समय और परिस्थितियों के अनुसार भी पुराने छन्द बदलते रहते हैं और नवीन छन्दों का प्रचार भी होता है। भावों के परिवर्तन के अनुसार ही भाषा और छन्दों में भी परिवर्तन उपस्थित होता है। अतः हिन्दी के पुराने छन्द, पुरानी गति, पुरानी तुक आजकल के लिए उपयुक्त भले ही न हों, वे आजकल अस्वाभाविक हों, पर इसका यह निष्कर्ष नहीं हो सकता कि कविता बिना छन्द, बिना गति और बिना नियम के ही पनप सकेगी। वर्तमान भावना का यही तात्पर्य है कि हिन्दी के लिए नवीन उपयुक्त छन्दों की आवश्यकता है और उनका आविष्कार कविगण ही भावानुकूल करेंगे। किन्तु यह मूल सत्य कि कविता के लिए छन्द और गति की आवश्यकता है, अब भी निर्विकार और अपरिवर्तित एवं सिद्ध है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने पल्लव के 'प्रवेश' लेख में छन्द और कविता का सम्बन्ध स्पष्ट किया है। वे छन्दों के नियमों में परिवर्तन चाहते हैं पर छन्दों की कविता में आवश्यकता भी समझते हैं। उनका कथन है :—

'कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। ... ये लौह शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोह-चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (magnetic field) तैयार कर लेते हैं''[1] इस विश्वास के साथ साथ भी पन्त जी मुक्त काव्य एवं मुक्त छन्द के पक्षपाती हैं। वे छन्दों को भावों के अनुकूल बनाना चाहते हैं। उनका कथन है कि मुक्त छन्दों में भाव तथा भाषा का सामञ्जस्य, पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है।[2] प्राचीन छन्द जहाँ पर भाषा के विकास

---

१ पल्लव का प्रवेश पृष्ठ ३० ३१।

२ „ „ „ ४८।

एवं स्पष्टता में बाधा डालते हैं वहाँ पर जो स्वाभाविक छन्द हो उसका प्रयोग किया जा सकता है। पन्त ने पल्लव में ऐसा किया भी है। 'उच्छ्वास', 'परिवर्तन' आदि उनकी अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें एक छन्द में कुछ पंक्तियाँ चलकर फिर भाव-परिवर्तन के अनुकूल कुछ पंक्तियों की मात्राएँ बदल जाती हैं। जैसे—

"घस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल
यों जलद यान में विचर विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल।
वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर।

उच्छ्वास से (पल्लव)

प्रथम चार पंक्तियों में १६ मात्रायें हैं पर अन्त की पंक्तियों में, जहाँ कवि भाव को विराम देना चाहता है, २४ मात्राओं की पंक्ति रखी गई है। इसी प्रकार—

एक वीणा की मृदु झंकार
कहाँ है सुन्दरता का भार
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमार
दिखाऊँ मैं साकार—आँसू से (पल्लव)

में प्रथम तीन में १६ मात्रायें हैं और भाव को मोड़ने के अवसर पर अन्तिम १२ मात्राओं की पंक्ति है। अतः छन्दों को भावानुकूल बनाना ही कवि का कर्तव्य है। भाव और छन्द का जहाँ पर मेल खा जाये वहीं पर स्वाभाविकता रहती है। और जहाँ पर बरबस एक छन्द लेकर उसमें भाव भरने की दक्षता दिखाई जाय वहाँ पर स्वाभाविकता आ सकती है। अंग्रेज़ी के लिए अंग्रेज़ी के ही छन्द उपयुक्त हैं और यों तो उसमें भी दोहे और सोरठे लिखे जा सकते हैं, पर वह खिलवाड़ है कविता नहीं हो सकती। जयशंकर प्रसाद ने भी कविता का छन्द और संगीत से आवश्यक सम्बन्ध माना है। संगीत आनन्ददायी है और कविता का भाव संगीतमय शब्दों का सहारा पाकर और भी बढ़ जाता है। किन्तु वे भी भावानुकूल ही छन्द का प्रयोग उत्तम मानते हैं।

निराला जी स्वच्छन्द और मुक्त छन्दों तथा मुक्त गीतों के प्रचारक हैं। पर वे भी इस बात को नहीं मानते कि कविता छन्द से विहीन हो सकती है। उनके सम्पूर्ण प्रयोग

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (प्रसाद) पृष्ठ २०, २१।

नवीन छन्दों और स्वाभाविक वृत्तों की खोज के लिए हैं, छन्दविहीन कविता की स्थापना के लिए नहीं। अपने मुक्त छन्दों के प्रयास के विषय में उन्होंने लिखा है— भावों की मुक्ति, छन्द की भी मुक्ति चाहती है, यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतन्त्र हैं। इसका फल जीवन में कब्रा होता है, हिन्दी में समझदार होते तो अब तक व्यापक रूप से मालूम कर चुके होते मैंने पढ़ने और गाने, दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं। पहला वर्णवृत्त में है दूसरा मात्रा वृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप छन्द जा नहीं सकता।"[1] अत स्पष्ट है कि उनके मुक्त छन्द भी छन्द ही हैं। छन्दों से कविता की मुक्ति नहीं हैं। वे और लिखते हैं—

"हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णन वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहा जा सकती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। परिमल' के तीसरे खंड में इस तरह की रचनायें हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रा वृत्तवाली रचनायें 'परिमल' के दूसरे खंड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गाई जा सकती हैं। पर संगीत अंग्रेजी ढंग का है। इस गति को मैं "मुक्त गीत" कहता हूँ। 'बादल राग" शीर्षक से छ रचनायें इसी मुक्त गीत में हैं।"[2] इस प्रकार निराला जी के प्रयत्न ने एक स्वच्छन्द छन्द की दिशा खोल दी, यह ठीक है। वह छन्द अधिक बन्धनयुक्त नहीं, पर हैं वे छन्द ही। छन्द कविता का आवश्यक उपकरण है, यह सर्वथा सिद्ध है।

अलंकार

भाषा और छन्द की भाँति अलंकार कविता का अनिवार्य उपकरण नहीं है। इसका उद्देश्य काव्य की शोभा बढ़ाना ही है जैसा कि आचार्य दंडी ने लिखा है 'काव्य-शोभाकरान् धर्मान अलंकारान् प्रचक्षते," किन्तु भाषा और छन्दों का विकास जिस प्रकार युग-युग में आवश्यक होता है इसी प्रकार अलंकारों के प्रयोग में भी परिवर्तन और नवीनता कविता के लिए उत्तम होती है। अलंकार कथन की रोचक सुन्दर और प्रभाव पूर्ण प्रणाली है। और इस दृष्टि से अलंकारों का प्रयोग केवल अलंकारों के अर्थ न होकर भाव के अर्थ होते हैं। अत भावोत्कर्ष में अथवा भावप्रकाशन में सहायक होकर

---

१ मेरे गीत और कला, 'प्रबन्ध प्रतिमा' पृष्ठ २७० ।

२ ,, ,, , (निराला) पृष्ठ २६९ ।

जो अलंकार आते हैं उन्हीं का कविता के साथ शाश्वत् सम्बन्ध है। अन्य जो केवल रूढ़िवश या यशवश प्रयुक्त किये जाते हैं उनका महत्व नहीं रह जाता। आजकल, जब कि कविता के अन्तर्गत स्वाभाविकता पर सबसे अधिक ज़ोर दिया जा रहा है, भाषा और छन्द भी स्वाभाविकता को छोड़ कर कविता में शोभा नहीं पाते, तब अलंकार भी स्वाभाविक रीति से ही कविता को सुशोभित कर सकते हैं। वर्तमान कविता में अलंकारों का केवल चमत्कार या अलंकार-सम्बन्धी ज्ञान प्रदर्शन के लिये कोई स्थान नहीं रह गया है, पर स्वाभाविक रीति से कविता में कुछ अलंकार भावानुसार औरों से अधिक प्रयुक्त किये जाते हैं। उन अलंकारों का निर्देश आगे किया जायगा।

जयशंकर प्रसाद ने अलंकार अथवा कथन-चमत्कार का महत्व भाव पर ही आधारित किया है। उनका कहना है कि अनुभूति की तीव्रता तन्मयता और आनन्द की मात्रा के अनुसार ही कथन का सौष्ठव भी होता है। अलंकार, अभिव्यंजना, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का समावेश भावानुभूति के अनुपात से ही रहता है।[1] अतः भाव से सामञ्जस्य स्थापित करना अलंकारों का ध्येय होना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान भावना इसी बात पर इतनी जान पड़ती है कि अलंकार की भरमार कविता में न हो वरन् उनका प्रयोग स्वाभाविक ढंग पर ही किया जावे। केशव की भाँति वे यह विश्वास नहीं करते कि 'भूषण बिना न सोहई कविता, बनिता, मित्त' कविता और बनिता दोनों के ही अनलंकृत और स्वाभाविक सौन्दर्य की वृद्धि पर ही आजकल सभी का लक्ष्य जान पड़ता है। अलंकारों के अस्वाभाविक प्रयोग की निन्दा और स्वाभाविक प्रयोग की प्रशंसा करते हुए अलंकारों का महत्व पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट किया है—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। ... वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिये बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[2] आगे चलकर उन्होंने इसी भाव को और अधिक

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ २५।

२ पल्लव का प्रवेश पृ० २२।

स्पष्ट किया है। जहाँ अलंकार भाव के लिए न आकर अलंकार के लिए आते हैं, जहाँ उपमा के लिए, अनुप्रास के लिए, श्लेष, गूढ़ोक्ति आदि अपने अपने लिए आते हैं और साधन न रहकर साध्य हो जाते हैं वहाँ पर अराजकता फैल जाती है और कविता अलंकारों से बोझिल हो भावहीन होकर स्वाभाविक सौंदर्य खो देती है।[१] इस प्रकार अलंकारों के विषय में यही मत है कि उनका प्रयोग स्वाभाविकता के साथ भाव के अनुसार होना चाहिए। आजकल की विकासशील कविता में सभी अलंकारों का प्रयोग हो भी नहीं रहा है। यमक अनुप्रास आदि तो बहुत कम हो गये हैं, परिसंख्या, श्लेष आदि की भी धूम नहीं है। हाँ, कुछ अलंकार कविता में विशेष स्थान और विकास पाते हुए दिखलाई देते हैं। उसका कारण यह है कि उनका भाव प्रकाशन की स्वाभाविक अथवा परिस्थितिजन्य प्रणाली से सीधा सम्बन्ध है। कुछ के नाम ये हैं—अन्योक्ति, विरोधाभास, रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, सन्देह, उल्लेख। अनुप्रासों का प्रयोग स्वाभाविक ध्वनि के अनुकरण निमित्त विशेष रूप से हुआ है, जैसा कि कुछ ध्वनि या शब्द संगीत के निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट है —

"मेरों झरररर, झरर दमा में,
घोर नकारों की है घोष।
कड़ कड़ कड़ सन सन् बन्दूकें
अररर अररर अररर तोप।
धूम धूम है भीम रणस्थल
शत शत ज्वालामुखियाँ घोर।
आग उगलतीं दहक दहक दह।
काँप रहे भू नभ के छोर।" अनामिका, (निराला),

इसी प्रकार का ध्वनि सौंदर्य परिमल के बादल राग में भी हम मिलता है। यहाँ पर भाव और दृश्य के अनुकूल शब्द हैं। ध्वनि के अनुकरण में वर्णों का प्रयोग है, अलंकारों की शौक में नहीं। उल्लास, अलंकार का प्रयोग भी ऐसे स्थलों में, जहाँ पर कवि किसी की प्रशंसा में उसे सबोधन करके अथवा वैसे ही उसका वर्णन करता है, अधिक हुआ है। प्रकृति के पदार्थों के भी किसी की प्रशंसा में उसे सम्बोधन करके, उत्प्रेक्षा-पूर्ण वर्णनों में इसका आभास है। 'अनामिका' के 'ज्येष्ठ' और पल्लव की 'छाया' के छन्द इन दो प्रकारों के उदाहरण हैं। अन्योक्ति का प्रयोग तो, आध्यात्मिक, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक,

---

१ पल्लव का प्रवेश पृष्ठ २६।

सभी प्रकार के जीवन के चित्रण को लेकर किया गया है। निराला के 'रन बना' ठूँठ' तथा अनेक छायावादी गीत महादेवी वर्मा के 'क्रीर का प्रिय आज पिञ्जर खोल दो' अथवा अन्य अनेक गीतों में इसकी लहर है। सन्देह अलकार भी कल्पनात्मक वर्णनों में बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक कवि ने इसका उपयोग किया है। एक उदाहरण देखिए :—

'अश्रु—छवि

कैसे कहूँ आसुओं की छवि? इन पल्लव के फूल कहूँ।
प्रेम वारुणी भरे दृगों के कहो छलकते फूल कहूँ।
क्या आँखों के अन्तरिक्ष से सजल टपकते इन्दु कहूँ?
या पलकों की पल्लवियों पर तरल तुहिनि के बिन्दु कहूँ?

अतः हम कह सकते हैं कि उपयुक्त अलकारों का प्रयोग ही आधुनिक कविता में विशेष रूप से हुआ है। महादेवी वर्मा में अलकार का बड़ा विकास पाया जाता है। पर आजकल सबसे अधिक प्रयुक्त अलकार है 'विरोधाभास'। विरोधाभास का प्रभाव पड़ता है। उसे लोग स्मरण करते हैं क्योंकि विरोध दीखते हुए भी उसमें सत्यता होती है। विरोधाभास का अधिक प्रयोग नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा —

१ 'दे रही हूँ अलख अविकल को सजीला रूप तिल तिल।
आज वर दो मुक्ति आवे, बन्धनों की कामना ले।

—महादेवी वर्मा

२ शून्य मेरा जन्म था, अवसान है मुझको सवेरा॥ ६०॥ दीप०॥

—(महादेवी वर्मा)

लक्षणा के आधार पर विरोधाभास देखिए —

३ नासिका रन्ध्र ही देख सके जिसको ऐसा है धूम्र चीर।"

—मिट्टी और फूल (नरेन्द्र)

४ कल बूंदा चाँदी से भीगी, सोंधी सुगंध वाली धरती मेरे नीचे।
ऊपर सकुमार शाखियों से भी चँवर डुलाता नीम, और मैं लेटा हूँ नीचे।

—नरेन्द्र

५ "सान्त वीथों में जगी नभ की समाधि अनत,
मन गये प्रहरी पहन आलोक तिमिर, दिगन्त ॥ ४ ॥

—(महादेवी वर्मा)

६ कर प्रकाश बन्दी, दीपक म तम में तुमने किया उजाला।
जैसे घन को वैसे मन का फिर ईश्वर भी खोज निकाला।
सूत्रनहार के सूत्रनहार तुम हो प्रतिपालक बन्दी ॥

—प्रभात फेरी, (नरेन्द्र) ॥

७ विश्व का उपहार मेरा।
पा जिन्हें धनपति अकिंचन
खो जिन्हे सम्राट निधन
भावनाओं से भरा है आज भी भंडार मेरा (विश्व)

—(बच्चन)

इसी विवेचन से स्पष्ट है कि कविता के तत्त्व, साधन एवं उपकरण जो प्राचीन काल से ही चले आते हैं आजकल भी वैसे ही हैं और अधिक स्पष्ट हो गये हैं। उनमें से जो अधिक स्वाभाविक हैं उनको ही अपनाया गया है और जो जटिल और पांडित्य प्रदर्शन मात्र कर सकते हैं उनको त्याग दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजकल की कविता में काव्यशास्त्र सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन और विकास देखने को अवश्य मिलता है। यह परिवर्तन काव्यशास्त्र के अंगों में इस प्रकार देख सकते हैं। एक समय था जब कि अलंकार ही काव्य का मुख्य अंग समझा जाता था। धीरे धीरे उसका स्थान वक्रोक्ति ने लिया। किसी वस्तु का वर्णन एक विशेष ढंग पर करना ही कविता की सफलता थी। संस्कृत के आचार्यों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के रीति काल में भी काव्य की मुख्य धारणा यही रही। केशव और उनके अनुयायी किसी वस्तु का साधारण और यथातथ्य वर्णन कविता के अन्तर्गत नहीं मानते थे। वरन् कवि की कल्पना-द्वारा जो उस वस्तु का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता और जो सब साधारण की सामान्य दृष्टि में न आ सकता वही कविता समझी जाती थी। केशव की यह धारणा उनकी रामचन्द्रिका के 'देखे मुख भावै अनदेखे ही कमल चन्द ताते मुख मुखै सखी कमलौ न चन्द री।" से प्रकट होती है। इसमें वे संसार की वस्तुओं के साधारण रूप में कोई सौन्दर्य नहीं देखते, वरन कल्पना गत रूप ही उनके विचार में सुन्दर है।

इसके पश्चात् रस-सिद्धान्त का जोर बढ़ा। भाव-व्यंजना और रस-निरूपण काव्य के मुख्य अंग समझे गये और उसी के साथ-साथ ध्वनि का भी पूरी धूम रही। किसी समय कविता में विभाव, अनुभाव, संचारी भावों द्वारा स्थायी का प्रस्फुटन आवश्यक समझा गया। पर इसके पश्चात् इन सभी काव्यशास्त्रीय प्रणालियों से मुक्त होकर कविता चली यह नहीं कहा जा सकता कि कविता किसी भी समय, अलंकार, रस, वक्रोक्ति आदि से रहित हो सकती है वरन विचारणीय बात यह है कि कवि या काव्य-रसिक उसमें किस बात का समावेश चाहते हैं अथवा क्या खोजते हैं। इस दृष्टि से स्वच्छन्द कविता के अन्तर्गत भाव-व्यंजना और कर्तव्य-निरूपण को भी कुछ दिनों स्थान मिला। उपदेशात्मकता, कर्तव्य, देश प्रेम, प्राचीन गौरव गान आदि आदि विषयों को लेकर चलने वाली कविता में भाव का ही बोलबाला रहा और हम कह सकते हैं कि यह भी रस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही है। चमत्कार और विशेषकर वस्तु चमत्कार का आदर न रह गया। अतः इस समय यह कहा जा सकता है कि कवि या पाठक कविता में केवल भाव प्रकाशन चाहता था, दूर की कौड़ी खोजना नहीं। विशेषोक्ति का वहीं तक आदर था जहाँ तक वह हमारी वासना या भाव को उकसाने में सहायक हो।

उसके पश्चात् 'छायावाद का मलयानिल' बहने पर काव्य का वातावरण बहुत प्रभावित हुआ। यह विशेषोक्ति और व्यंजना का नवजागरण अवश्य था, पर इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत कविता के भीतर मुख्य वस्तु आत्मविश्लेषण रही। कवि की जीवन के सम्बन्ध में और जगत् की वस्तुओं के सम्बन्ध में जो अनुभूति हुई उसी का प्रकाशन कविता में आवश्यक बन गया। प्रायः निराशा, वेदना या अशान्ति की भावना प्रधान रही। सुन्दर वस्तुओं को विशेष दुलार मिला। और जड़ प्रकृति की मनोहारी वस्तुओं को अधिक गौरवान्वित करके उन्हीं के माध्यम द्वारा कवि ने अपने आनन्द या सौन्दर्य के आदर्श का प्रकाशन किया। कवि का मुख्य कर्म सौन्दर्य-दर्शन था और उसे वह अपनी निजी अनुभूति और मानसिक आत्म-विश्लेषण-द्वारा प्रकट करता था। वस्तु-वर्णन का यथातथ्य रूप न आकर काल्पनिक रूप आया जो चमत्कारवादी कवियों के सिद्धान्त से इस बात में भिन्नता रखता था कि इनका वर्णन बहुत कुछ अलंकारों पर आधारित न रहकर काल्पनिक अनुभूति के रूप में था। काल्पनिक अनुभूति छायावादी कविता की विशेषता है। इसमें वक्रोक्ति या अलंकारवाद के समान प्रकाशन का बाँकपन नहीं है, वरन् अनुभूति की ही असामान्यता है। कल्पना अनुभूति की हो है, वस्तु की नहीं। अतः इस कल्पनात्मक अनुभूति का अधिक प्रश्रय होने का कारण उसमें सूक्ष्मता और अस्पष्टता अधिक रही। स्थूल सौन्दर्य, साकारता पर प्रकाशन का बाँकपन जहाँ पर हमारे काव्य

शास्त्र का उद्देश्य था वहाँ पर अब आकार और भाव की अस्पष्टता के साथ-साथ प्रकाशन का ढीलापन इसकी विशेषता रही। अत इस प्रकार के कवि को विशेष अभ्यास की आवश्यकता न रही और सभी कवि बनने लगे। कवि के लिए प्रौढ़ता जैसी कोई वस्तु आवश्यक न समझी गई, क्योंकि जब विचार और भावों में स्पष्टता नहीं, प्रकाशन के लिए को॰ विशेष प्रयत्न या अभ्यास अपेक्षित नहीं, तब तो एक बालक भी कविता प्रारम्भ कर सकता है, वही हुआ।

यह स्वच्छन्दता आगे और आगे बढ़ी और धीरे धीरे छन्दों का बन्धन भी छूट गया, क्योंकि अभ्यासी और अप्रौढ़ कवि को छन्दों की गति विधि का ठीक रखने के लिए कुछ सीखने की आवश्यकता होती है। अत यह अड़चन भी दूर हो गई। अत अब कविता की कोई गहरी अपील, व्यापक और स्थायी प्रभाव तथा उसके लिए एक तीव्र तृष्णा और ललक न रह गई। ऐसी दशा में कविता की मृत्यु सम्भव थी। अत समय पर प्रगतिवादी आन्दोलन आया, जिसने उसके प्रभाव को फिर से जाग्रत करना चाहा। उद्देश्य उपयुक्त होने पर भी साधन और साधना प्रगतिवाद की ठीक न हो पायी। गद्य प्रकाशन का माध्यम होने पर, वैज्ञानिक, शास्त्रीय, राजनैतिक तथ्य कविता के क्षेत्र से हटे ही हैं। अत जीवन के यथातथ्य चित्रण को कविता में स्थान मिला।

पर इस कार्य के लिए कहानी अधिक उपयुक्त और स्वच्छन्द है। अतः काव्यान्तगत यथातथ्य चित्रण जो छन्दों से स्वच्छन्द और विशेषोक्ति से हीन हैं, कोई विशेष आकर्षण नहीं रख पा रहा है। इसलिए प्रगतिवाद फिर धीरे धीरे रसवाद की ओर आया है, जिसमें भावों का प्रभावपूर्ण निरूपण काव्य की सरलता समझी गई। हाँ, ये भाव चाहे नव रसों के अन्तर्गत न रहकर अपने अन्य नये नाम धारण करें। छन्दों से स्वतन्त्रता प्राप्त कर भी कविता ने उससे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा क्योंकि इस प्रकार यदि उसके सभी अंग घुल गये तो कविता का स्थान गद्य साहित्य ही ले लेगा, और धीरे-धीरे उनका भेद मिट सा ही रहा है। अत अलङ्कार शब्द-योजना, छन्द, भावव्यञ्जना, विशेषोक्ति सदा से ही कविता के अंग रही हैं और जब तक कविता नाम की कोई वस्तु रहेगी, तब तक बराबर रहेंगी। आज का प्रयोगवाद फिर विशेषोक्ति और वैलक्षण्य को अपना रहा है, पर उसमें औचित्य और सुरुचि के विवेक की कहीं कहीं कमी दृष्टिगत होती है। वैसे नवीन प्रयोगों में कहीं-कहीं बड़ी ताजगी और मार्मिकता भरी है और वे नूतन चेतना जगाने और नवीन संस्कार बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

६

१. काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्यायें

पिछले अध्यायों में हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास और उसकी वर्तमान स्थिति के अध्ययन के उपरान्त अब हम काव्य शास्त्र-सम्बन्धी आधुनिक समस्याओं की ओर संकेत करते हुए, इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि आजकल प्रचलित साहित्यिकवाद कहाँ तक काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं, और उनका अपना स्वरूप क्या है। इसके साथ ही साथ इस बात पर भी थोड़ा-बहुत विचार उपस्थित करना आवश्यक है कि काव्यशास्त्र की, काव्य की प्रगति में क्या और किस रूप में आवश्यकता है, और उसके न होने से काव्य का क्या हानि-लाभ हुआ करते हैं? ये सभी बातें प्रस्तुत निबन्ध के उपसंहार के रूप में आवश्यक जान पड़ती हैं।

आवश्यकता

आजकल सामान्य धारणा यह हो चुकी है कि काव्यशास्त्र के विकास ने कविता को हानि पहुँचाई है। अतः कवि को काव्यशास्त्र से दूर रहकर ही कविता करना चाहिए। उसके ज्ञान से कविता की प्रगति को हानि होने की सम्भावना है और काव्य-शास्त्र को लेकर चलने वाला कवि मौलिक और नवीन पथ निर्माण नहीं कर सकता है। पर यदि विचार कर देखें तो यह धारणा कथ भ्रमपूर्ण तथा असत्य जान पड़ती है। काव्यशास्त्र का विकास कविता के विकास को रोकने वाला नहीं है। उसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा। कविता और जनरुचि दोनों ही इसके विकास से पनपती हैं। कविता के अन्तर्गत दोषहीनता, कला प्रभाव तथा जीवन का सफल चित्रण, काव्य शास्त्र के सम्यक ज्ञान से ही आते हैं और काव्यशास्त्र के प्रचार से कविता का मर्म भी

समझा जा सकता है। हानि तो तभी होती है, जब उसका यथार्थ विकास और प्रचार नहीं होता। अथवा उसका अधूरा ज्ञान और रूढ़िगत प्रयोग होता है। जिस प्रकार हम अन्य सामाजिक शास्त्रों का ज्ञान समाज के विकास, और समृद्धि के लिए आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार काव्य की उन्नति के लिए काव्य शास्त्र की आवश्यकता है। काव्य शास्त्र को समझने के उपरान्त ही हम काव्य की उपयोगी और समर्थ शैलियाँ निकाल सकते हैं। अतः इसके यथार्थ ज्ञान और प्रचार से कभी भी काव्य को हानि नहीं हो सकती। हाँ, जब कवि या लेखक स्वयं काव्य-शास्त्र का यथार्थ अध्ययन या ज्ञान न करके केवल पारिभाषिक शब्दों, वादों, सम्प्रदायों या रूढ़ियों के चक्कर में फँस जाते हैं और जीवन का यथार्थ ज्ञान छोड़कर अस्वाभाविक रीति से उनके पीछे चलते हैं, जब उन्हें जीवन और समाज के लिए कुछ कहना नहीं होता, अथवा कहने की सामर्थ्य नहीं होती तभी कवि और कविता का सम्मान घटता है, काव्य शास्त्र के कारण नहीं। काव्य शास्त्र तो कविता की रचना और उसके आस्वादन दोनों ही को गंभीर और मधुर बनाता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की अवश्य रहती है कि जीवन और समाज की परिवर्तित प्रवृत्तियों अथवा आवश्यक आदर्शों के अनुसार कवि और शास्त्रकार उसको अपनावें और उसी के अनुकूल उसकी व्याख्या करें। समयानुसार शास्त्र के नवीन विकास की भी आवश्यकता रहता है, और इसके पूर्व रूप की नवीन व्याख्या भी अभिप्रेत होती है। काव्य-शास्त्र की अवहेलना करके भी चलने वाला कवि, उसके क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकता। अलङ्कारों की निन्दा करता हुआ भी कवि अपनी कविता में अलङ्कारों का बहिष्कार नहीं कर सकता। अतः उसका सम्यक् अध्ययन और सम्यक् ज्ञान करके उसका आवश्यक उपयोग करना कवि का कर्तव्य है।

समय और परिस्थितियों के अनुसार काव्य शास्त्र की समस्यायें बदला करती हैं। पुरानी समस्यायें काव्य में भी इसी प्रकार तिरोहित होकर नवीन समस्याओं को जन्म दिया करती हैं, जैसे जीवन में। एक युग था जब काव्य में यही समस्या प्रधान थी कि काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है, और उसका समाधान भामह और दंडी के समय में अलङ्कारों को सर्वोपरि मानकर किया गया था, दूसरा युग आया जब काव्य में रस को सर्वोपरि माना गया और अलङ्कार, गुण आदि की इसी प्रकार व्याख्या की गई कि इनका रस से क्या सम्बन्ध है। इसी प्रकार हमें विचार करना है कि हमारे काव्य शास्त्र की वर्तमान क्या समस्या है। और आजकल का कवि समाज या काव्यशास्त्र उसका समाधान किस प्रकार करना चाहता है। काव्य में आये नवीन तत्व का क्या मान है, और काव्यशास्त्र के पूर्व प्राप्त तत्वों से उसका क्या सम्बन्ध है। वह कोई नवीन

तत्व है या प्राचीन ही, तथा उसकी केवल व्याख्या और रूप ही नवीन है। इन अनेक रूपों में हमें आजकल काव्य और काव्य शास्त्र की समस्याओं पर भी थोड़ा विचार करना है। काव्य की अधिकांश मूलभूत समस्यायें काव्यशास्त्र की भी समस्यायें होती है, अतः वे दोनों लगभग एक ही मानकर हम आगे चल रहे हैं।

जब हम वर्तमान काव्यशास्त्र की समस्याओं पर गहराई के साथ विचार करते हैं, तब हम विदित होता है कि हमारे सामने प्रश्न और समस्यायें लगभग वही हैं जो प्राचीन समय में थी थोड़ा बहुत परिवर्तन चाहे मिल जाय। और यह भी हम देख सके हैं कि कुछ एक-आध को छोड़ कर समस्यायें मूलतः वही रहती हैं, उनका दृष्टिकोण और सुझाव का ढंग विशेष बदला करता है। यही बात आजकल भी पाते हैं और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आजकल हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि कविता क्या है! उसका लक्षण हम जानना या बताना नहीं चाहते, पर यही समस्या इस रूप में प्रमुखतः हमारे सामने है कि कविता का तत्व क्या है! कौन सी वस्तु है जो आजकल का कवि या साहित्यसेवी कविता के लिये अनिवार्य समझता है? विद्गत युग ने कविता की आत्मा पर विचार किया है। किसी ने काव्य की आत्मा को रस, किसी ने वक्रोक्ति, किसी ने रीति और किसी ने ध्वनि माना है, पर आज का कवि काव्य की आत्मा क्या मानता है, आज कल के कवि की दृष्टि से कविता का तत्व क्या है, आजकल का पाठक कविता के भीतर क्या पाना चाहता है? यह सर्वप्रथम और मुख्य समस्या हमारे सामने है।

काव्य की आत्मा

हम कह सकते हैं कि आज का कवि कविता के अन्तर्गत अलंकार अनिवार्य नहीं मानता, वह वक्रोक्ति या ध्वनि लाने का प्रयत्न नहीं करता। इनको उद्देश्य बनाकर चलने वाले पुरानी परिपाटी के कवि ही हों, तो हों। रीति और गुण भी आज के कवि का लक्ष्य नहीं है। और हम अन्त में यह भी कह सकते हैं कि रस का वर्णन उस रूप में कवि का ध्येय नहीं रहता जिस रूप में कि रस-सम्बन्धी ग्रन्थों में उसका वर्णन किया है। वह प्रबन्ध काव्यों का-सा भी रस और भाव चित्रण नहीं करना चाहता। अतः हम कह सकते हैं कि रस को भी अपने प्रतिष्ठित रूप में आज का कवि कविता का अनिवार्य अंग नहीं मानता। तो फिर कविता का अनिवार्य अंग आज का कवि मानता क्या है? और यदि इनसे कुछ भिन्न वस्तु को वह कविता का तत्व मानता है तो हमारे प्राचीन काव्याचार्यों ने काव्य की आत्मा को ढूँढ़ने में सफलता नहीं प्राप्त की, यह बात भी विचारणीय है। आजकल की कविताओं का अध्ययन करने पर हम कवि की दृष्टि से काव्य के तत्व या

आत्मा की खोज कर सकते हैं। आजकल का कवि अनुभूति को कविता का अनिवार्य अंग मानता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि कवि की स्वानुभूति ही कविता की आत्मा है। यह स्वानुभूति उसके रूत्यानुभव का रूप है और उसे वह चाहे प्रतीक रूप में प्रकट करे, चाहे बिम्ब रूप में और चाहे अन्य प्रकार से अलकृत रूप में, उसी का वह कविता में प्रकट करना चाहता है। इतना जानने पर अब हम प्राचीन सिद्धान्त पर विचार करें, तो हम देख सकते हैं कि यह स्वानुभूति जो आजकल कविता की आत्मा है, भाव या रस सम्प्रदाय की ही वस्तु है, पर सीधे ढंग से हम उसे समर्थित नहीं कर सकते। रस सिद्धान्त में भाव चित्रण भाव आत्मानुभव के रूप में नहीं आता। उसमें तो कवि किसी दूसरे का भाव तटस्थ रूप में चित्रित करता है, पर आज का कवि तो अपने भाव को अपने ही रूप म प्रस्तुत करता है। इसीलिए हम कहते हैं कि 'स्वानुभूति' या स्वानुभूत सत्य ही कवि की कविता की आत्मा है।

कारण

अब कवि की इस 'स्वानुभूति' को जाग्रत और तीव्र करने के लिए अनेक बातों की आवश्यकता है और जाग्रत होने पर उसको सफल रूप से चित्रित करने के लिए भी कुछ उपादानों का होना अनिवार्य है। अत दूसरी समस्या यह है कि काव्य के कारण और प्रेरणायें क्या हैं? काव्य के साधन और उपकरण क्या हैं? और आज का कवि उनका कहाँ तक उपयोग करता है? कारण और प्रेरणाओं के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि कवि का जीवन म अनुभव, निरीक्षण और अध्ययन काव्य के कारण हैं—जीवन के सुख दुःख विषमतायें अत्याचार आनन्द उल्लास, सौंदर्य आदि कवि की अनुभूति और प्रतिभा से टकराकर काव्य का रूप ग्रहण करती हैं। अत अपनी अनुभूति को तीव्र करने के हेतु कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन और जगत का व्यापक और सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करे। जीवन के यथार्थ अनुभव के बिना कवि की अनुभूति सार्वजनीन और चित्रण प्रभावशाली नहीं हो सकते।

यह सब काव्य की आत्मा, स्वानुभूति को जाग्रत और तीव्र करने के कारण और साधन हुए। आत्मा कभी नग्न रूप म नहीं आती। उसके आधार के लिए देह आवरण या स्थान आवश्यक हैं। अपनी अनुभूति को आकार देने के लिए कवि जिन बातों का उपयोग करता है, वे काव्य के बाह्य अंग या उपकरण हैं और इनके अन्तगत भाषा, छन्द और अलंकार आते हैं।

उपकरण

इसके पूर्व कि हम अन्य बातों पर विचार करें, यह बता देना आवश्यक है कि काव्य की आत्मा के रूप में 'स्वानुभूत सत्य' की बात तो प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र की खोजों से कुछ भिन्नता अवश्य रखती है पर काव्य के कारण और प्रेरणा में अब भी वही मानना पड़ेगा जो प्राचीन आचार्य मानते आये हैं।[1] और जिन्हें उन्होंने शक्ति, निपुणता, व्युत्पत्ति आदि के रूप में प्रकट किया है। यह बात अवश्य है कि आजकल का कवि इन कारणरूप वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न उतना नहीं करता जितना अभिप्रेत है।

भाषा, छन्द, अलकार

काव्य की भाषा कैसी होनी चाहिए, यह आजकल की समस्या है पर काव्य-शास्त्र इस विषय में कोई भी कठोर नियम नहीं बना सकता। अपनी अनुभूति के प्रकाशन के लिए उपयुक्त भाषा कवि स्वयं चुन सकता है। साहित्यिक भाषा के रूप में जब कवि या लेखक निर्जीव रूढ़ और जीवनहीन भाषा को ग्रहण करके चलता है तब भी काव्य की बड़ी हानि होती है और जब कोई एकदम नवीनता के फेर में पड़कर साहित्य द्वारा अर्जित भाषा के भंडार को ठुकरा ही देना चाहता है तब भी बड़ी कठिनाई पड़ती है। अतः कवि के लिए परम्परा का विकास आवश्यक है। भाषा को सजीव और ज़ोरदार बनाने के लिए आवश्यकतानुसार नवीन शब्दों मुहाविरों प्रयोगों, और लोकोक्तियों का निर्माण कभी भी बन्द नहीं होना चाहिए। पर, हमें प्राचीन प्रयोगों को भी एकदम तिलांजलि न देना चाहिए क्योंकि उनके अन्तर्गत हमें भाषा की मँजी हुई और परिष्कृत सामग्री मिलती है। भाषा के दो पक्ष होते हैं, एक तो शब्द का, दूसरा वाक्य या मुहाविरों का। हमारे आधुनिक कवियों ने शब्दों के प्रयोग पर तो काफी ध्यान दिया है, पर क्रिया-पदों मुहाविरों और वाक्यों के प्रयोग में वे सफलता नहीं प्राप्त कर सके। इस पक्ष में उनका कार्य नगण्य है। यह बात ठीक नहीं है। बिना क्रिया पद के शब्द खिलता नहीं है, अतः क्रिया-पद के नवीन प्रयोग, उसमें लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों का भरने का प्रयत्न

---

१ "पूर्वमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह,
शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ १॥ ३॥

—मम्मटकृत काव्यप्रकाश।

बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यक है। भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन हिन्दी कविता ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। उसमें ऐसे-ऐसे ललित और भावव्यंजक शब्द मिलते हैं और ऐसे ऐसे प्रयोग और मुहाविरे कि मन यही चाहता है कि पद को केवल शब्द और मुहाविरों के लिए याद कर लिया जाय। इस स्मरण करने के आकर्षण को बढ़ाने में छन्दों का भी अपना हाथ रहता है। अत काव्य में छन्दों की आवश्यकता पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी है।

कविता की परिभाषा करना कठिन है क्योंकि कविता क स्वरूप ने सदैव लक्षणकारों को चुनौती दी है। अतः कविता विषयक, व्यक्तिगत अनुभूति और धारणा ही हम इसका स्वरूप समझने में सहायता देती है। अनेक विचारकों और विवेचकों के कथनों क अनुसार यही कहा जा सकता है कि कविता का स्थान साहित्य म सर्वोच्च रहा है। यदि विचार कर देखें तो स्मरणीयता कविता की मुख्य विशेषता है। स्मरणीय भावपूर्ण कथन कविता की कोटि को प्राप्त करते हैं। कहानी का अनुभव लोक का अनुभव होता है पर कविता का अनुभव अपना एसा अनुभव है जो लोकानुभव पर आश्रित होता हुआ भी नवीन होता है। यह नवीनता स्मरण करने की प्रेरणा और आकर्षण कविता, में भरती है और कविता क शब्द उसे स्मरण करने की सुगमता प्रदान करते हैं। इस स्मरणीयता में सहायक तत्व छन्द है, अतः छन्द का कविता क भीतर सदा महत्व रहेगा। यहाँ पर काव्य और कविता का भेद भी समझ लेना चाहिए। काव्य चाहे गद्यमय हो चाहे पद्यमय पर कविता पद्यबद्ध काव्य ही है। अत कविता के लिए छन्द की आवश्यकता अनिवार्य है।

छन्द हमारे भाव की गति को स्पष्ट करता है। छन्द का तात्पर्य यही नहीं है कि पिंगल शास्त्र के आचार्यों न जिन छन्दों को बताया है उन्हीं का प्रयोग हो। छन्द का क्षेत्र आकाश सा व्यापक और उसका रूप लहरियों सा जटिल है, उसक किसी भी रूप का प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक कविता में जहाँ हम छन्द-मुक्त कविता करने का दावा करते हैं, वहाँ पर वास्तव म छन्द क स्वाभाविक और नवीन रूप का ही प्रयोग है। इन नवीन छन्दों के लक्षण, लक्षणकारों को तैयार करने हैं। जहाँ भी कविता की गति बँधती है, वहाँ पर छन्द अवश्य होता है। गति कविता का प्राण है, अत कविता छन्द को छोड़ नहीं सकती। कविता की स्मरणीयता सम्बन्धी विशेषता क विषय म इतना और कहा जा सकता है कि लक्षण ग्रन्थों में आये और पूर्ववर्ती कविता म प्रयुक्त छन्दों में आजकल नवीन छन्दों की अपेक्षा स्मरणीयता का गुण अधिक है।

कविता की गति और छन्द

स्मरणीयता कविता की विशेषता है और प्रभाव उसका गुण, और ये दोनों ही बातें कविता की गति पर अवलम्बित हैं। गति की सुगमता और स्मरणीयता शब्दों के चुनाव और उनके क्रम पर निर्भर है। शब्द जितने ही भाव के अनुकूल और उच्चारण में उपयुक्त होंगे, उतनी ही गति सुगम होगी, और क्रम जितना ही अर्थ को ओजस्वी, विशद और स्मरणीय बनाने वाला तथा नाद-सौंदर्य को भरने वाला होगा, उतनी ही मात्रा में उसकी रोचकता और स्मरणीयता बढ़ेगी। यदि हम कविता के अन्तर्गत आने वाले वर्णों या शब्दों के क्रम तथा गद्य में आने वाले वर्णों या शब्दों के क्रम का विश्लेषण करके देखें तो हमें पता चलता है कि गद्य में आने वाला शब्द-क्रम नितान्त साधारण है और उसके प्रयोग और व्यवहार में प्रत्येक सामान्य व्यक्ति भी समर्थ होता है पर कविता के अन्तर्गत आने वाला वर्णों या शब्दों का क्रम असाधारण है। वह रोचक, प्रभावशाली और स्मरणीय है, पर प्रयोग में सर्वजन-सुलभ नहीं। उसके प्रयोग के लिए एक विशेष प्रतिभा की या विशेष स्फूर्ति की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रतिभा, उन्मेष या स्फूर्ति के होने पर व्यक्ति कविता करने में समर्थ होता है। शब्दों के क्रम की यही विशेषता ही कविता को गति प्रदान करती है। यह गति प्राचीन रूप छन्दों में बद्ध कविता में ही हो ऐसी बात नहीं है। आजकल की स्वच्छन्द और मुक्त-छन्द कविता में भी यही गति है, क्योंकि उसमें पद या शब्द-क्रम की असाधारणता विद्यमान है। उदाहरण के लिए हम निराला का एक मुक्त-छन्द लेते हैं:—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,

—संध्या सुन्दरी।[1]

इसका साधारण क्रम यों होगा "दिवसावसान का समय (है) मेघमय आसमान से वह परी सी सन्ध्या-सुन्दरी धीरे धीरे उतर रही है।" इससे यह स्पष्ट है कि जो गति उपर्युक्त कविता में है वह इस सामान्य क्रम में नहीं। यही गति कविता का प्राण है। निराला जी के छन्द में गति की स्वच्छन्दता है अर्थात् एक गति सभी चरणों में नहीं है।

१, परिमल, पृष्ठ १३५।

प्राचीन काव्य में सभी चरणों में एक गति करके उसे अधिक संयमित और स्मरणीय कर देते थे। यही कारण है कि जितनी शीघ्र कवित्त, सवैया, चौपाई तथा आजकल के गीत आदि याद हो जाते हैं, उतनी शीघ्र निराला जी के स्वच्छन्द छन्द नहीं। अभी तक किसी के मुख से उनके पूरे के पूरे छन्द नहीं सुने गये, उस प्रभाव के साथ जैसे कि अन्य नियमित छन्द सुने जाते हैं। अतः गति का चमत्कार स्पष्ट है। ऊपर की कविता को यदि और अधिक निश्चित गतिवाला कर दिया जाय तो वह इस प्रकार की हो सकती है —

> "दिवसावसान का समय
> परी सी वह संध्या सुन्दरी,
> रही है धीरे-धीरे उतर
> मेघमय आसमान को छोड़।

इसमें प्रथम चरण को छोड़कर जिसमें १३ मात्रायें हैं, अन्य तीन चरणों में सोलह सोलह मात्राओं के कर देने से गति बँध जाती है। इससे निश्चय है कि गति का ही महत्व कविता में है और गति का संयम और नियम ही छन्द है। प्रत्येक प्रवाह में या गति में कुछ नियम अवश्य होता है। कभी नियम और प्रतिबंध अधिक कड़े होते हैं और पहले अधिक पुरानी छन्दोबद्ध कविता में गति के नियम कड़े थे, पर आजकल उतने कड़े नहीं। स्वच्छन्द छन्द में तो प्रवाह है पर नियम स्पष्ट नहीं। प्रवाह या गति के साथ छन्द का सम्बन्ध है। गति देने का कार्य छन्द का है। वैदिक कालीन काव्य में प्रवाह और गति है, अतः छन्द का भी वेदांगों में स्थान है। कविता में छन्द का स्थान सदा रहेगा। निराला ने भी परिमल की भूमिका में इसी बात को स्पष्ट किया है :—

"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खंड में जितनी कविताएँ हैं, सब इसी प्रकार की हैं। इनमें कोई नियम नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा जान पड़ता है, कहीं कहीं आठ अक्षर आप ही आप आजाते हैं। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"[१]

प्रवाह या गति ही कविता का प्राण है, यह सर्वमान्य नियम है। इस गति के नियम के अनुसार छन्दों के तीन भेद हो सकते हैं, मुक्त छन्द, मात्रिक और वर्णिक छन्द। यह नियम के आधार पर इस प्रकार है :—

---

१ परिमल की भूमिका पृष्ठ २१।

मुक्त छन्द—यह है जिसमें गति या प्रवाह ही प्रधान रहता है, और मात्रा, वर्ण या तुक का कोई नियम नहीं रहता।

मात्रिक छन्द—यह है जिसमें मात्राओं का नियम रहता है, पर सभी वर्णों के लघु, गुरु सम्बन्धी नियम नहीं।

वर्णिक छन्द—यह है जिसमें सभी वर्णों का नियम रहता है और ये छन्द गति में सबसे अधिक बद्ध रहते हैं।

मात्रिक और वर्णिक छन्द निश्चित चरणों के और अतुकांत अथवा तुकांत होते हैं। हिन्दी के मात्रिक छन्दों में प्रायः तुकान्त होने का नियम प्रचलित रहा है। मुक्त छन्द के न चरण निश्चित होते हैं, और न तुक और साथ ही प्रत्येक चरण के वर्ण या मात्रायें भी निश्चित नहीं होतीं। उसमें इनका नियम यद्यपि नहीं होता पर एक प्रवाह या गति अवश्य होती है। अत उसका कोई व्यापक नियम भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि गति-भंग का दोष मुक्त छन्दों में भी कानों में खटकता है। मुक्त छन्द का पहचानना तो सरल है, उसमें एक पंक्ति के प्रवाह और दूसरी पंक्ति के प्रवाह में बड़ा वैषम्य होता है, पर मात्रिक और वर्णिक छन्दों का देखकर सहसा पहचान नहीं होती। छन्द को देखकर अचानक यह नहीं कहा जा सकता कि यह मात्रिक है अथवा वर्णिक। उसकी पहचान के लिए नीचे लिखा लहर-चित्र सहायक होगा।

इस प्रकार के चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि छन्द मात्रिक है अथवा वर्णिक। मात्रिक छन्द में वर्ण बराबर नहीं होते, मात्रायें ही बराबर होती हैं और लहर का लहक

प्राचीन काव्य में सभी चरणों में एक गति करके उसे अधिक सयमित और स्मरणीय कर देते थे। यही कारण है कि जितनी शीघ्र कवित्त सवैया, चौपाई तथा आजकल के गीत आदि याद हो जाते हैं, उतनी शीघ्र निराला जी के स्वच्छन्द छन्द नहीं। अभी तक किसी के मुख से उनके पूरे के पूरे छन्द नहीं सुने गये, उस प्रमाद के साथ जैसे कि अन्य नियमित छन्द सुने जाते हैं। अतः गति का चमत्कार स्पष्ट है। ऊपर की कविता को यदि और अधिक निश्चित गतिवाला कर दिया जाय तो वह इस प्रकार की हो सकती है :—

> "दिवसावसान का समय
> परी सी वह सध्या सुन्दरी,
> रही है धीरे-धीरे उतर
> मेघमय आसमान को छोड़।

इसमें प्रथम चरण को छोड़कर जिसमें १३ मात्राय हैं, अन्य तीन चरणों में सोलह सोलह मात्राओं के कर देने से गति बँध जाती है। इससे निश्चय है कि गति का ही महत्व कविता में है और गति का सयम और नियम ही छन्द है। प्रत्येक प्रवाह में या गति में कुछ नियम अवश्य होता है। कभी नियम और प्रतिबन्ध अधिक कड़े होते हैं और पहले अधिक पुरानी छन्दोबद्ध कविता में गति के नियम कड़े थे, पर आजकल उतने कड़े नहीं। स्वच्छन्द छन्द में तो प्रवाह है पर नियम स्पष्ट नहीं। प्रवाह या गति के साथ छन्द का सम्बन्ध है। गति देने का काय छन्द का है। वैदिक कालीन काव्य में प्रवाह और गति है, अतः छन्द का भी वेदांगों में स्थान है। कविता में छन्द का स्थान सदा रहेगा। निराला ने भी परिमल की भूमिका में इसी बात को स्पष्ट किया है :—

"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खंड में जितनी कविताएँ हैं सब इसी प्रकार की हैं। इनमें कोई नियम नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा जान पड़ता है, कहीं कहीं आठ अक्षर आप ही आप आजाते हैं। मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"[1]

प्रवाह या गति ही कविता का प्राण है, यह सर्वमान्य नियम है। इस गति के नियम के अनुसार छन्दों के तीन भेद हो सकते हैं, मुक्त छन्द, मात्रिक और वर्णिक छन्द। वह नियम के आधार पर इस प्रकार है :—

---

१ परिमल की भूमिका पृष्ठ २१।

मुक्त छन्द—वह है जिसमें गति या प्रवाह ही प्रधान रहता है, और मात्रा, वर्ण या तुक का कोई नियम नहीं रहता।

मात्रिक छन्द—वह है जिसमें मात्राओं का नियम रहता है, पर सभी वर्णों के लघु, गुरु सम्बन्धी नियम नहीं।

वर्णिक छन्द—वह है जिसमें सभी वर्णों का नियम रहता है और ये छन्द गति में सबसे अधिक बंधे रहते हैं।

मात्रिक और वर्णिक छन्द निश्चित चरणों के और अतुकांत अथवा तुकांत होते हैं। हिन्दी के मात्रिक छन्दों में प्रायः तुकान्त होने का नियम प्रचलित रहा है। मुक्त छन्द के न चरण निश्चित होते हैं, और न तुक और साथ ही प्रत्येक चरण के वर्ण या मात्रायें भी निश्चित नहीं होतीं। उसमें इनका नियम यद्यपि नहीं होता पर एक प्रवाह या गति अवश्य होती है। अतः उसका कोई व्यापक नियम भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि गति भंग का दोष मुक्त छन्दों में भी कानों में खटकता है। मुक्त छन्द का पहचानना तो सरल है, उसमें एक पंक्ति के प्रवाह और दूसरी पंक्ति के प्रवाह में बड़ा वैषम्य होता है; पर मात्रिक और वर्णिक छन्दों को देखकर सहसा पहचान नहीं होती। छन्द को देखकर अचानक यह नहीं कहा जा सकता कि यह मात्रिक है अथवा वर्णिक। उसकी पहचान के लिए नीचे लिखा लहर-चित्र सहायक होगा।

इस प्रकार के चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि छन्द मात्रिक है अथवा वर्णिक। मात्रिक छन्द में वर्ण बराबर नहीं होते, मात्रायें ही बराबर होती हैं और लहर का प्रत्येक

झुकाव प्रति चरण में एक सा नहीं होता, पर वर्णिक छन्द के चरणों में गणों की गणना के कारण प्रत्येक चरण की लहर का झुकाव एकसा ही होता है। इस प्रकार लहर चित्र द्वारा मात्रिक और वर्णिक छन्दों की पहचान सहज में ही हो सकती है। इसमें ऊपर की रेखा को गुरु और नीचे की रेखा को लघु मानना चाहिए। प्रत्येक गुरु वर्ण ऊपर के कोष्ठक या झुकाव द्वारा और प्रत्येक लघु वर्ण नीचे के कोष्ठक या झुकाव द्वारा चिन्हित होता है। इन लहर चित्रों के द्वारा गणों को समझने में भी सरलता होगी। आठों गणों के लहर चित्र ये होंगे —
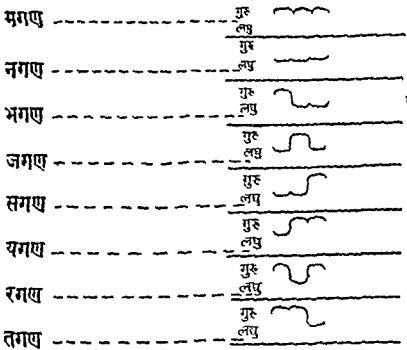
गुरु और लघु की यही लहरियाँ छन्दों की गति का निश्चय करती हैं। वर्णों के उच्चारण स्थान से जो नाद निकलता है, उसके आधार पर ही गुण, वृत्ति तथा अनुप्रास की रचना हुई है। इस प्रकार वर्णों के स्वर और व्यंजन के आधार पर बने हुये छन्द और उनकी गति का प्रभाव बड़ा विलक्षण होता है। कविता के अन्तर्गत छन्दों का स्थान आदि-काल से महत्वपूर्ण है और अनन्त काल तक चला जायेगा। छन्द चाहे मात्रिक हों, वर्णिक हों और चाहे मुक्त या स्वच्छन्द हों।

अलंकार

अब विचारणीय प्रश्न सामने यह है कि आधुनिक दृष्टि से काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है ? आधुनिक विचारों के अनुसार अलंकार काव्य में अनिवार्य नहीं है, और न काव्य के लिए अलंकार साध्य ही है। यह विचार सत्य है, पर आजकल की जो भावना अलंकारों के प्रति घृणा करने की है वह अस्वाभाविक है। किसी की कविता में यदि आपने उसके अन्तर्निष्ठ चमत्कार या सौष्ठव के विश्लेषण में उपमा, रूपक या भ्रांति अलंकार का नाम ले दिया तो कवि या रसिक समाज नाक भौं सिकोड़े यह उचित नहीं। यह मानने पर भी कि अलंकार, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं, कोई भी पूर्ण कविता अलंकारों से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकती। कारण, कि अलंकार काव्य-सौष्ठव का सुन्दर और स्वाभाविक साधन है। इतना स्थान अलंकार का मूलभूत है। अलंकार, वर्णन की सुन्दर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली है और वे हमारी भावानुभूति के प्रकाशन को उत्कर्ष प्रदान करने वाले हैं अतः अलंकार का काव्य में आदर सदैव रहा है और रहेगा। हाँ, जब किसी कवि के लिए कविता लिखने का उद्देश्य ही अलंकार लाना हो जाता है तब वह अपनी यथार्थ सीमा का उल्लंघन करता है। अलंकार साधन है, साध्य नहीं और साधन के रूप में अलंकार अनजाने ही हमारी नित्यप्रति की बोलचाल तक में आता है काव्य के लिए कुछ कहना तो दूर की बात है। काव्य तो उसका क्षेत्र ही है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं इस सम्बन्ध में आवश्यक एक बात यह है कि अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रीति पर करना चाहिए, किसी भी कविता को अलंकारों से लादना नहीं चाहिए। जिस प्रकार अलंकारों से लदी हुई स्त्री अपना स्वाभाविक सौन्दर्य भी खो देती है, उसी प्रकार बहुत अधिक अलंकारों के प्रयोग से कविता का भी अपना स्वाभाविक सौन्दर्य दब जाता है। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर और अलंकार की यथार्थ परिभाषा को हृदयंगम करके हमें अपने अलंकार-सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों का भी परिष्कार करना आवश्यक है। अलंकारों की संख्या में जो इतनी अस्वाभाविक वृद्धि हो गई है वह न आवश्यक ही है और न न्याय-संगत ही। अनेक अलंकार ग्रन्थों में कुछ तो अलंकार-बाह्य पदार्थ भी भरे हुए हैं। हम जैसा कह चुके हैं कि अलंकार किसी वर्णन के चमत्कार-पूर्ण सुन्दर ढंग को कहते हैं किसी वस्तु या भाव वर्णन को नहीं। वस्तु या भाव-वर्णन में अलंकार हो सकते हैं पर तभी जबकि उस वर्णन में कुछ चमत्कार हो। इस दृष्टि से रसवदादि अलंकार नहीं हो सकते, जो कि भाव का ही वर्णनमात्र हैं और वे अलंकार भी जो वस्तु से पृथक् नहीं, जिनमें वस्तु

स्वयं चमत्कार पूर्ण है, ढंग चमत्कार-पूर्ण नहीं अलंकार नहीं हो सकते, जैसे प्रयुक्त या प्रचलित परिभाषाओं के अनुसार असम, अधिक, तिरस्कार निश्चय, विरोध, हेतु, भ्रम अलंकार। इन अलंकारों से किसी वस्तु या भाव का केवल बोध-मात्र होता है। अलंकारों आदि का यह उद्देश्य नहीं, वे तो किसी भी वस्तु या भाव के वर्णन को उत्कर्ष और बोध को तीव्रता प्रदान करने के लिए होते हैं। जो ऐसा न कर सकें, वे अलंकार नहीं हैं। इस दृष्टिकोण से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अपन्हुति विभावना आदि अलंकार, काव्य में सदैव उचित और सम्मान्य स्थान प्राप्त करेंगे। वे काव्य की शोभा बढ़ायेंगे, उसका बोझ नहीं बनेंगे। ऐसे अलंकारों का प्रयोग कवि के लिए सदा ही आवश्यक है और आजकल की भी कोई कविता अलंकारों से हीन नहीं है।

अंत में हमारे सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य का प्रयोजन और उद्देश्य क्या है और हिंदी में काव्य के कितने रूप हैं? इनमें से हम प्रथम भाग को लेते हैं। आजकल समाज में यह एक समस्या सी है कि काव्य का, (कविता विशेष रूप से) समाज में क्या स्थान है, उसकी क्या उपयोगिता है? काव्य की उपयोगिता पर तो अधिक सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि उपन्यास इतिहास, नाटक, निबन्ध आदि का प्रचार आजकल खूब है और उससे लोगों का मनोरंजन भी होता है। समाज का, व्यक्ति का, देश का और युग का ज्ञान भी होता है तथा सुधार भी। अतः उसके लिए तो कहा जा सकता है कि इस प्रकार का काव्य जीवन का परिष्कार और सुधार करता है और मनोरंजन प्रदान करता है। परन्तु कविता का क्या उद्देश्य है क्या प्रयोजन है, यह प्रश्न अधिक विचारणीय है। यथार्थ में कविता का महत्व कला और प्रभाव दोनों की दृष्टि से उपयुक्त काव्यांगों से अधिक है। अन्य रचनाओं को पढ़ कर हम उनको भुला सकते हैं पर कविता का आघात भुलाया नहीं जा सकता। कहानी, उपन्यास आदि को हम एक बार पढ़कर तृप्ति पा जाते हैं क्योंकि उनका कथानक हमारी जिज्ञासा को शान्त कर देता है, पर कविता को एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने पर भी हम नहीं अघाते। उसे जैसा ही पढ़ें वैसा ही आनन्द आता है। पाठक की सम्पूर्ण मनोवृत्तियाँ तन्मय हो जाती हैं कविता के भाव के अनुसार उनमें विकास और उत्कर्ष भी होता है। यहाँ तक कि उत्तम कविता किसी भी व्यक्ति को अभिप्रेत कार्य के लिये प्रेरित कर सकती है। अतः कला और प्रभाव की दृष्टि से कविता का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। समाज और व्यक्ति दोनों के मनोरंजन और हित के लिए यथार्थ कविता का सृजन, पठन, पाठन और मनन आवश्यक है। इससे आदर्श बनता है, हम अधिक सहृदय होते हैं, भावनायें विकास और परिष्कार पाती

है। मन को आनन्द मिलता एव हृदय तृप्त होता है। आत्मा सबल बनती है। पर कविता करना और पढ़ना या सुनना दोनों ही काम सरल नहीं हैं। उसके लिए हमें एक विशेष वृत्ति बनानी पड़ती है। कवि को भी कविता करने के लिए विशेष परिस्थिति का निर्माण करना पड़ता है, उसे भाषा और शब्दों पर पर्याप्त अधिकार करना होता है, उसे अनुभूति को संवेदन शील और कल्पना को सूक्ष्म बनाना पड़ता है, तभी उत्तम कविता की सृष्टि सम्भव है। अतः इन दोनों के अभाव में ही आजकल कविता की ओर से हमारी आस्था हट-सी रही है। पर इसमें कविता का दोष नहीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि कविता, जीवन की समस्याओं से कुछ अधिक निश्चितता चाहती है। जिस युग या जिस समाज में कवि और समाज दोनों ही सघर्ष में पिस रहे हों, वहाँ पर कविता का पनपना कठिन है। कम से कम दक का निश्चित होना आवश्यक है। अतः कविता का प्रयोजन और उद्देश्य स्वतः सिद्ध है।

वर्गीकरण

अब हम हिन्दी काव्य के विविध रूपों या काव्य के वर्गीकरण पर विचार करेंगे। इसके पूर्व कि प्रत्येक का अलग-अलग स्वरूप स्पष्ट किया जाय, वर्गीकरण-सम्बन्धी निम्नांकित वृक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यह साहित्य वृक्ष है और हिन्दी में प्रस्तुत लगभग सभी रचनाओं के प्रकारों को इसके अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया गया है।
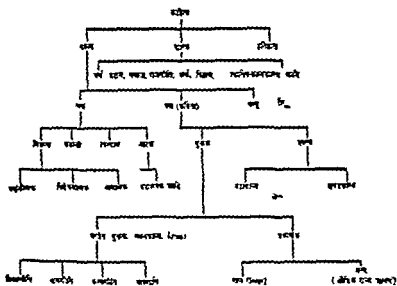
साहित्य के काव्य, इतिहास और शास्त्र तीन ही भेद आवश्यक जान पड़ते हैं क्योंकि अन्य सब इन्हीं के अन्तर्गत आ सकते हैं। भूगोल अधिकांश शास्त्र के भीतर आ जाता

है, कुछ भाग इतिहास के भीतर हो सकता है। शास्त्र के अनेक वर्ग आज कल हमारे सामने हैं जिनका विवरण देना हमारे विषय से बाहर की बात है। यहाँ काव्य के वर्गीकरण पर विचार करना ही हमारा ध्येय है।

काव्य रमणीय अर्थ प्रदान करने वाला शब्द या वाक्य, काव्य है, यह पंडितराज जगन्नाथ जी की दी हुई परिभाषा के अनुसार है जो उत्तम जान पड़ती है। विश्वनाथ की, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का भी उद्देश्य यही है। काव्य के तीन भेद हैं, गद्य, पद्य, और चम्पू।

गद्य (काव्य) वह काव्य है जिसमें छन्द-बद्ध रचना न लेकर, बोलचाल की शुद्ध व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग किया जाता है।

पद्य (काव्य) वह काव्य है जिसमे छन्द-बद्ध भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। हिन्दी मे यह पद्य काव्य ही कविता के नाम से प्रचलित है, और इसी का अधिक प्रचार रहा है। गद्य काव्य तो आधुनिक युग की देन है।

चम्पू (काव्य) जिसमे गद्य और पद्य दोनों ही मिश्रित रहते हैं। यह अधिक प्रचलित नहीं हुआ।

गद्य के चार भेद देखने मे आते हैं निबन्ध, कहानी, उपन्यास और नाटक।

निबन्ध वह गद्य है जिसमे कथानक से मुक्त होकर किसी विषय पर रोचक ढंग से शृंखला-बद्ध निजी भाव या विचार उपस्थित किये जाते हैं। इसमें शैली का विशेष स्थान होता है।

कहानी वह गद्य है जिसमें जीवन की किसी घटना या घटनाओं को लेकर रोचक ढंग से वर्णन, वार्तालाप अथवा दोनों के द्वारा, किसी चरित्र भाव या घटना की झाँकी इस प्रकार से उपस्थित की जाय कि वह पूर्ण ज्ञात हो।

उपन्यास वह गद्य काव्य है जिसमें किसी व्यक्ति के जीवन की विविध घटनाओं के सहारे, वर्णन और वार्तालाप के द्वारा व्यक्ति, वर्ग या समाज का पूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है।

नाटक वह गद्य काव्य है जिसमें एक या अधिक अंकों मे केवल अभिनय और वार्तालाप के द्वारा किसी व्यक्ति की जीवन-घटनाओं या समाज का चित्रण किया जाता है। संस्कृत मे इसे रूपक कहते हैं और इसके दस भेद किये गये हैं। पर आज कल हिन्दी में नाटक प्रहसन और एकांकी नाटक ही विशेष प्रचलित और प्रसिद्ध हैं।

कविता (पद्य काव्य) के दो भेद हैं प्रबन्ध और मुक्तक।

प्रबन्ध — वह कविता है जिसमें कोई कथानक रहता है। इसके दो प्रकार हैं —महाकाव्य और खंड काव्य।

महाकाव्य — वह प्रबन्ध काव्य है जिसमें किसी प्रसिद्ध महापुरुष का पूर्ण जीवन, आठ या अधिक सर्गों में प्राकृतिक दृश्यों और कथानक की सुशृंखलित धारा के साथ, किसी एक रस को प्रधान रूप में और अन्य रसों को गौण रूप में अपना कर, प्रायः एक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग करके वर्णित किया जाता है। यह महाकाव्य की प्राचीन धारणा है। आधुनिक काल में सर्गों की संख्या और छन्द सम्बन्धी कोई कठोर नियम नहीं है। कथानक में विविधता, विस्तार, पूर्णता और सुसंगठन होना चाहिए।

खंड काव्य — वह प्रबन्ध काव्य है जिसमें किसी भी पुरुष के जीवन का कोई अंश ही वर्णित होता है, पूरी जीवन-गाथा नहीं। इसमें महाकाव्य के सभी अंग न रह कर एकाध अंग ही रहते हैं।

मुक्तक — वह पद्य काव्य है, जिसमें कोई कथा धारा प्रवाह रूप में नहीं चलती और जिसका प्रत्येक पद स्वच्छन्द और पूर्ण होता है।

मुक्तक के दो रूप देखने को मिलते हैं, प्रगीत मुक्तक (*Lyrics*) और प्रकीर्णक।

प्रगीत — ये रचनायें हैं जिनमें गीतों या गेय पदों में अपने किसी मुख्य भाव या अनुभूति का, स्वाभाविक एवं सीधे ढंग पर तीव्र प्रभाव के साथ प्रकाशन किया जाता है। आजकल इनके चार भेद देखने में आते हैं कला गीति, ग्राम गीति, प्रेम गीति, और विनय गीति। इसका दूसरा नाम गीति काव्य भी है।

मुक्तक या प्रकीर्णक — वे रचनाएँ हैं जिनमें कवि, वस्तु-वर्णन या भाव वर्णन निजी रूप में न करके दर्शक के रूप में करता है। ये गेय भी होते हैं और केवल छन्द-बद्ध भी। छन्द-बद्ध अगेय प्रकीर्णकों का लौकिक और प्रचलित नाम कवित्त है, जिसमें सवैया, मनहरण, दोहा, छप्पय आदि सभी छन्द आते हैं। ग्राम-गीतों के भी कुछ गीत जिनमें कवि दर्शक के रूप में चित्रण उपस्थित करता है, प्रकीर्णकों के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं।

ऊपर संक्षेप में काव्य के विभिन्न भेदों का परिचय दिया गया है। ये भेद हिंदी काव्य में देखने को मिलते हैं, पर सभी भेदों का यथोचित और पूर्ण विकास जो अभी नहीं हुआ था। इस युग में यह द्रुत गति से हो रहा है।

२. काव्य में प्रचलित आधुनिकवाद और काव्य-शास्त्र

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अनेक वादों की धूम रही है, जिसका कुछ संकेत हम पीछे भी कर आये हैं। आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रगतिवाद आदि हिन्दी काव्य पर अपना अपना रंग जमा चुके हैं। इन वादों का पूर्ण विवरण उपस्थित करना साहित्य के इतिहासकारों का काम है, फिर भी इनका यहाँ संक्षेप परिचय देना इसलिए आवश्यक है कि जिससे हम इनका आवश्यक ज्ञान करके यह समझ सकें कि इनका काव्य शास्त्र से कहाँ तक सम्बन्ध है और इस दृष्टि से इनके द्वारा हिन्दी काव्य-शास्त्र को कहाँ तक विकास एवं विस्तार प्राप्त हुआ है। अतः इसका वैज्ञानिक विश्लेषण ही अधिक आवश्यक है, काव्य के भीतर आया हुआ ऐतिहासिक विवरण नहीं।

आदर्शवाद और यथार्थवाद

सबसे पहले हम आदर्शवाद और यथार्थवाद को लेते हैं। वह धारणा, जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार ऐसे चरित्र अथवा ऐसी परिस्थितियों का चित्रण करता है जो मानव समाज के लिए अनुकरणीय हैं (यह आवश्यक नहीं कि वैसे चरित्र और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप में लोक में देखी और सुनी जायँ), साहित्य में आदर्शवाद कहलाती है। और वह धारणा जिससे प्रेरित होकर साहित्यकार नित्यप्रति देखे-सुने, भले-बुरे चरित्रों और परिस्थितियों का चित्रण करता है, वह अनिवार्यतः यह ध्यान नहीं रखता कि ये चरित्र या परिस्थितियाँ मानव समाज की भलाई करेंगी या बुराई साहित्य में यथार्थवाद कहलाती हैं। एक साहित्यकार आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही हो सकता है, और सत्य बात तो यह है कि किसी भी सफल काव्यकार के लिए दोनों ही वादों को लेकर चलना आवश्यक है, क्योंकि साहित्य यदि कोरे आदर्शवाद को लेकर चलता है, तो लोक की आस्था उस पर नहीं जमती, वह केवल स्वप्न लोक या स्वर्ग की बात हो जाती है। मनुष्य उस तक पहुँचने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाता। अतः उसको छोड़ बैठता है। इसी प्रकार यदि कोई साहित्यकार कोरे यथार्थवाद का ही चित्रण करता है, तो मनुष्य के उत्कर्ष और उन्नति की प्रवृत्ति तथा सद्भावना को प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी आत्मा को संतोष नहीं प्राप्त होता और समाज की अनेक समस्याओं का सुलझाव भी नहीं होता अतः वह लोक का अधिक कल्याण नहीं कर सकता। इससे आवश्यक यही है कि साहित्य, आदर्श और यथार्थवाद दोनों ही को अपनावे। साहित्य का भवन यथार्थवाद की नींव पर खड़ा हो, पर उसके विकास, प्रसार

और ऊँचाई के लिए आदर्शवाद का विस्तृत और उन्मुक्त आकाश रहे। ऐसा साहित्य ही सर्वजनसुलभ सर्वमान्य तथा सर्वहितकारी हो सकता है।

अब हम देखें कि काव्यशास्त्र का इन वादों से कोई सम्बन्ध हो सकता है या नहीं? काव्यशास्त्र काव्य की आत्मा, उसके स्वरूप तथा काव्य के अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है यह उसका मुख्य कार्य है, अत इसके अन्तर्गत इन वादों का कोई स्थान नहीं है। हाँ कवि शिक्षा और काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करना भी इसका कार्य है, पर वह मुख्य नहीं, गौण है। इन प्रवृत्तियों के अन्तर्गत उपयुक्त वादों का अध्ययन हो सकता है, कवि शिक्षा के अन्तर्गत भी संस्कृत तथा हिन्दी के ग्रन्थों में वस्तु और चरित्रों का वर्णन कैसा होना चाहिए, यह बताया जाता है। वहाँ भी हम यथार्थवादी और आदर्शवादी दो दृष्टिकोणों का अध्ययन कर सकते हैं। पर ये काव्यशास्त्र के मुख्य और प्रधान विषय नहीं हैं। अत काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की भाँति इनका अध्ययन नहीं हो सकता।

रहस्यवाद

यह भावना, जो काव्य के अन्तर्गत, मानव और उसकी परिस्थितियों अथवा जगत् को निराकार और सर्वव्यापी ईश्वर के घनिष्ठ सम्बन्ध में चित्रित करने की प्रेरणा देती है रहस्यवाद कहलाती है। मनुष्य का व्यक्तिरूप में अथवा जगत के विभिन्न पदार्थों का ईश्वर के साथ मधुर, स्निग्ध अथवा प्रबल सम्बन्ध प्रकट करने वाले रमणीय वाक्य रहस्यवादी काव्य का नाम ग्रहण करते हैं। अतः रहस्यवाद भी जीवन की एक प्रवृत्ति, दृष्टिकोण अथवा धारणा है, जिस प्रकार कि यथार्थवाद या आदर्शवाद। यथार्थवाद या आदर्शवाद जहाँ पर लोक जीवन के सामान्य अनुभव को लेकर चलते हैं, वहाँ रहस्यवाद असाधारण आध्यात्मिक अनुभव को ग्रहण करता है। रहस्यवादी भावना के भीतर ईश्वर का साकार रूप उतना नहीं बन पड़ता, जितना निराकार रूप। अत निराकार या निर्गुण के उपासक जितने भी कवि हैं उनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावना के दर्शन हमें स्वभावत होते हैं। हिन्दी काव्य में यह भावना बहुत प्राचीन है। प्राचीन हिन्दी के अन्तर्गत सिद्धों का साहित्य रहस्यवाद से पूर्ण है। इसी प्रकार हिन्दी के प्रारम्भिक युग में कबीर, दादू आदि तथा प्रेममार्गी, सूफी जायसी, कुतुबन, मझन आदि की कविता में रहस्यवादी भावना का ही प्रमुख सौन्दर्य और स्थायी विशेषता है। रहस्य भावना बड़ी मधुर और उच्च भावना है। इसके साथ ऐसी दृष्टि प्राप्ति होती है जिसके द्वारा सभी

जीव ईश्वर के सम्बन्ध में ही देख पड़ते हैं। ईश्वर भी हमें अपना सगा जान पड़ता है। कभी वह हमारे प्रेम-पात्र के रूप में आता है और कभी पति के रूप में। कभी सब शक्तिमान के रूप में और कभी अणु अणु में व्याप्त मानव-सुलभ भावों के द्वारा व्यक्त किन्तु सर्वान्तर्यामी के रूप में। इन सभी रूपों में द्रष्टा से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है अतः रहस्य-भावना आनन्द की भावना है और बड़ी साधना के बाद प्राप्त होती है। जिस प्रकार तुलसी, काव्य का साफल्य राम के गुण-गान में ही मानते हैं, उसी प्रकार जयशंकर प्रसाद, काव्य की प्रधान धारा को रहस्यवादी ही मानते हैं। इसका पूरा विवरण उन्होंने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में 'रहस्यवाद' शीर्षक के अन्तर्गत दिया है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रसाद के विचार से 'रहस्यवाद' ही काव्य की मुख्य प्रवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु यह सर्वमान्य और यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं है। यह आदर्शवादी विचार है, क्योंकि हमें विश्व के काव्य का अधिकांश रहस्यवादी प्रवृत्ति से इतर प्रवृत्तियों का चित्रण करता हुआ दिखलाई देता है। अतः रहस्यवाद काव्य का अनिवार्य अंग या सभी काव्यों में पाया जाने वाला अंग, या अधिकांश में पाया जाने वाला तत्व नहीं कहा जा सकता। इसलिए हम ध्वनि, रस, रीति, अलंकार आदि की भाँति इसे काव्यशास्त्र का प्रमुख अंग नहीं मान सकते। रहस्यवाद को एक प्रकार की प्रवृत्ति विशेष ही मानना आवश्यक और समीचीन है।

छायावाद

छायावाद की भी आधुनिक हिन्दी कविता में बड़ी धूम रही है। हिन्दी में प्रारम्भ में छायावाद और रहस्यवाद एक ही समझे गये। पर धीरे धीरे उनका अन्तर स्पष्ट हो गया। आधुनिक कविताओं के देखने से ज्ञात होता है कि रहस्यवाद एक भावना या प्रवृत्ति है। इसका सम्बन्ध विषय से है और आन्तरिक भावना से, परन्तु छायावाद शैली ही अधिक है आंतरिक प्रवृत्ति नहीं। इसका सम्बन्ध आन्तरिक भावना से अधिक नहीं है, वरन् अभिव्यक्ति के ढंग से है। आन्तरिक भावना से छायावाद में थोड़ा बहुत सम्बन्ध जो दीख पड़ता है, वह रहस्यवाद के सम्पर्क के कारण। उसके कारण इसमें दो विशेषतायें आ गई हैं, एक तो जगत् को प्राणमय और अनुभूति-मय समझना और उसके भीतर अपने भावों को व्यक्त देखना, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करना, और अपने अन्तस् की सूक्ष्म अनुभूतियों अथवा काल्पनिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना। इन दोनों को अपनाकर चलने के कारण आधुनिक रहस्यवादी कविताओं में भी छाया वादी शैली देखने को मिलती है, और कुछ छायावादी कवितायें भी ऐसी जान पड़ती हैं

जैसे रहस्यवादी है। छायावाद की अपनी व्यक्तिगत विशेषता दो रूपों में व्यक्त हुई है। प्रथम, सूक्ष्म और काल्पनिक अनुभूति के प्रकाशन में, द्वितीय, लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली के प्रयोग में। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की वह शैली है जिसमें सूक्ष्म अथवा काल्पनिक स्वानुभूति को लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक ढंग पर प्रकाशित करते हैं। उसमें आलम्बन प्रायः अस्पष्ट रहता है।

जन-साधारण में कुछ समय तो छायावाद, अस्पष्टवाद के रूप में प्रसिद्ध रहा। जिसमें कवि के स्वयं विचार स्पष्ट न हों और जो अस्पष्ट और अपूर्ण वाक्यों में कही गयी हो। ऐसी ही कविता छायावाद के नाम से प्रख्यात थी। यह अस्पष्टता, छायावादी कविताओं में सूक्ष्म अनुभूति और शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग के कारण ही आई थी। पर यह कहा जा सकता है कि कुछ नौसिखुये कवियों ने यह यथार्थ ही विश्वास को सत्य सिद्ध करती थी। जयशंकर प्रसाद[1] का विचार है कि रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से, जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी, इस प्रकार की कविता में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा, बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के प्रकाशन में व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। अतः आभ्यन्तर सूक्ष्म भावनाओं को छायामयी शैली में प्रकाशन प्राप्त हुआ। यही प्रसाद जी के विचार से छायावाद है। वे छाया को अभिव्यक्ति की विशेषता या कथन-सौष्ठव के रूप में लेते हैं। छाया, अनुभूति या अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। उनके ही शब्दों में 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद अनुभूति या अभिव्यक्ति भंगिमा को लेता है और प्रकाशन-सौष्ठव से उसका सम्बन्ध है। यह कविता की आत्मा को सूक्ष्म स्वानुभूति और अभिव्यक्ति-सौष्ठव के अन्तर्गत मानकर चलता है। अब काव्यशास्त्र से इसका

---

१ शुक्ल जी के छायावाद पर विचार हम पीछे दे चुके हैं।

२ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १४८।

सम्बन्ध है। यह काव्य की आत्मा और स्वरूप दोनों पर प्रकाश डालता है। सूक्ष्म अनुभूति, काव्य की आत्मा है और उसकी आभामय अभिव्यक्ति काव्य का रूप है। ये मान्यतायें काव्यशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। अब देखना यह है कि इनमें कोई नवीनता है, या प्राचीन सिद्धांत ही नये रूप में उपस्थित किये गये हैं। छायावाद को काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण स्थान न मिल सका। इसका एक कारण तो यह है कि छायावाद की मान्यताओं को लेकर किसी विद्वान् ने काव्यशास्त्रीय ढंग पर इसकी व्याख्या और विवेचना उपस्थित नहीं की, और इसको नवीन सिद्धांत का रूप नहीं दिया गया। दूसरा कारण यह है कि विचार करने पर इसमें नवीन सिद्धांत के योग्य कोई नवीन मान्यता भी नहीं है। अतः काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने की योग्यता रखते हुये भी उसमें इसे स्थान नहीं मिला। आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टिकोणों से छायावाद काव्यशास्त्र के प्राचीन सिद्धांतों को ही अपनाये हैं। प्रथम तो छायावाद सूक्ष्म स्वानुभूति पर जोर देता है, अनुभूति का प्रकाशन, रस सिद्धांत के अन्तर्गत आ जाता है, यह चाहे स्वानुभूति हो चाहे परानुभूति। हाँ स्वानुभूति पर ज़ोर देना इसकी विशेषता अवश्य है, पर इस पर अंग्रेजी के गीति काव्य (Lyrics) का प्रभाव पड़ा है। अभिव्यक्ति सौष्ठव, स्पष्टतया ध्वनि वक्रोक्ति और अलंकार सिद्धांतों के अन्तर्गत हैं जिनके बिना काव्य के अन्तर्गत अभिव्यक्ति सौष्ठव आ ही नहीं सकता। अतः छायावाद इस युग की नवीन शैली होते हुए भी प्राचीन सिद्धांतों के बल पर ही खड़ा है।

छायावाद का विकास अधिक नहीं हुआ। इसका प्रारम्भ भी स्वस्थ वायुमंडल में नहीं हुआ। और प्रारम्भ के समय इस 'वाद' का स्पष्टीकरण भी नहीं हो पाया अतः जन साधारण और पाठकों की सहानुभूति तथा विद्वानों का सहयोग भी इसे नहीं मिला। इसी कारण से काव्य-सिद्धांतों की उत्कृष्ट बातें अपनाता हुआ भी छायावाद छाया का ही पौधा रहा, जो पूर्णतया पनप न सका। अनुभूति के रूप में रस को अपनाकर तथा अभिव्यक्ति के रूप में ध्वनि ग्रहण करके छायावाद के पनपने में कोई सन्देह न था पर लेखकों की स्वयं अस्पष्टता और सकीर्णता के कारण उसका पूर्ण उपयोग न हो सका। अन्यथा छायावाद हिन्दी कविता को और अधिक उत्कृष्ट वस्तुयें प्रदान करने में सक्षम था। फिर भी इस प्रवृत्ति की आधुनिक काव्य को सर्वश्रेष्ठ देन है।

अभिव्यञ्जनावाद

अभिव्यंजनावाद को छायावाद का ही एक रूप और इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए। यों तो अभिव्यंजनावाद का सिद्धांत काव्य का एक स्वतन्त्र सिद्धांत है जिसके अन्तर्गत अभिव्यंजना को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अभिव्यंजना, भावोद्दीपन

और भावप्रकाशन दोनों में ही समर्थ होती है। इसे वक्रोक्ति सिद्धान्त के ही समकक्ष विद्वानों ने समझा है, पर हिन्दी में अभिव्यञ्जनावाद स्वतन्त्र रूप में नहीं आया। यह छायावाद के अन्तर्गत अपना विस्तार और प्रभाव दिखलाता रहा है। कम से कम उसकी व्याख्या उसी के अन्तर्गत की जा सकी है, अतः इसकी तो चर्चा ही चर्चा रही। यह नितान्त पश्चिमीय सिद्धान्त है और नाम भी वहीं से लिया गया है। क्रोचे के *'अभिव्यञ्जनावाद'* की ही हमारे यहाँ भी चर्चा छिड़ी, पर उसका कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व जम नहीं पाया। अतः उस पर अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है।

प्रगतिवाद

छायावाद की प्रतिक्रिया और समाजवाद के प्रभाव ने प्रगतिवाद को जन्म दिया है। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों की प्रेरणाओं में अन्तर यह है कि छायावाद को कवियों और कलाकारों ने जन्म दिया है। छायावादी कविता प्रथम प्रचुर मात्रा में हुई और उसके छायावाद नाम एवं विशेषतायें बाद को निर्धारित हुए, जबकि प्रगतिवाद कविता के अन्तर्गत प्रथम नहीं आया, वरन् प्रचारकों की जिह्वा और लेखनी में अधिक रहा। छायावादी रचनाओं से असन्तुष्ट और समाजवाद से प्रभावित साहित्यिक समुदाय में प्रगतिवाद की चर्चा जागी और अपने राजनीतिक आदर्शों को साहित्यिक माध्यम में प्रकट करने का प्रयत्न हुआ। इस प्रकार प्रगतिवाद एक 'वाद' के रूप में आया। 'वाद' और सम्प्रदाय के रूप में साहित्य के लिए सभी वाद बुरे हैं, क्योंकि वे रचना को रूढ़ और कवि को संकीर्ण कर देते हैं अतः किसी भी 'वाद' को लिए बिना ही विद्वानों और रसिकों को प्रचलित कविता की स्वच्छ और सत्य आलोचना करनी चाहिए। यह बात अच्छी नहीं है कि यदि किसी एक सम्प्रदाय का व्यक्ति, किसी वाद' विशेष पर आस्था रखने वाला व्यक्ति जो भी लिखे, ठीक है और अन्य लेखक दोषी और प्रतिभाहीन। यह बात सदा ही वादों और सम्प्रदायों के साथ न केवल साहित्य में वरन् धर्म, राजनीति और समाज में भी चला करती है और यथार्थ प्रगति में बाधा पहुँचाती है। अतः 'वाद' के रूप में प्रगति चाहने वालों को अभीप्सित परिणाम प्राप्त होना कठिन है। इस विषय में 'अज्ञेय' जी ने 'संक्रान्तिकाल की कुछ साहित्यिक समस्यायें' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

"इस साहित्य से प्रगति पैदा हुई, इसलिए यह प्रगति शील साहित्य है, यह कहना एक बात है और यह प्रगति शील साहित्य है इसलिए प्रगति पैदा करेगा, यह बिल्कुल दूसरी। परिणाम को परख कर उसकी चेष्टा का आरोप बीज पर कर देना भूल है। प्रगतिशीलता, साहित्य पर निर्णय करने बैठकर स्वयं एक नैतिक विधान बन जाती है,

प्रगति का 'वाद' बन कर स्वयं एक रूढ़ि हो जाती है। साहित्य के लिए तैयार किये गये बन्धनों में यह स्वयं बँध जाती है।"[1]

अतः यह मानना पड़ेगा कि 'वाद' के फेर में पड़कर प्रगतिशीलता का यथार्थ उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है, और वह स्वयं उन्हीं वादों का एक अंग हो जाती है जिनके विरोध में वह खड़ी हुई है। प्रगतिवाद, साहित्यकार या कवि का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता। वह एक कार्य यह कर सकता है कि सच्चे आलोचक पैदा करे जो कि कुरुचि पूर्ण, दोष-भरे और संकीर्ण साहित्य का विरोध और सुन्दर, सत्साहित्य को प्रोत्साहन प्रदान करें।

विचार-पूर्वक देखें तो प्रगतिवाद का उद्देश्य बड़ा ही भला, ऊँचा और उपयोगी है। उसका उद्देश्य है कि साहित्यकार ऐसा साहित्य उत्पन्न करे जो मानव-जीवन और समाज को प्रगति दे सके तथा उसे पतन की ओर न ले जावे, साथ ही साथ वह सर्वजन सुलभ हो सरल भाषा में लिखा हुआ हो और यथार्थ जीवन को लेकर चलने वाला हो। संक्षेप में प्रगतिवाद के मूल में यही बातें हैं। यह बातें हमारी साहित्यिक गति में परिवर्तन उपस्थित करने के लिए हैं, साहित्य के लिए एकदम नई बातें नहीं हैं, क्योंकि हमारी साहित्यिक धारा में पहले भी इस प्रकार का उद्देश्य देखने को मिलता है। तुलसीदास जी ने काव्य की, प्रगतिवाद के अनुकूल ही व्याख्या की है जब उन्होंने कहा है कि—

"सरल कवित कीरति विमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु जो सुनि करहिं बखान॥"

—रामचरितमानस, बाल कांड।

अतः प्रगतिशीलता काव्य के लिए कोई नई वस्तु नहीं। प्रगतिशीलता युग युग में बदल भी सकती है। एक युग के लिए जो प्रगतिशीलता है दूसरे युग के लिये वही अगति हो सकती है, जैसा कि किसी समय राजनीतिक क्षेत्र में 'राजतंत्रवाद' (एकछत्रत्व) राष्ट्र-संगठन के लिए आवश्यक हो सकता है और दूसरे शांतिमय युग में प्रजातन्त्रवाद। किसी युग में जब जनता अशिक्षित है, सरल भाषा में, सीधे ढंग पर काव्य लिखना आवश्यक है, पर दूसरे युग में जब सभी शिक्षित, काव्यरसिक और विद्वान् हों, तब भाषा और भाव का सारल्य काव्य का गुण नहीं, वरन् अवगुण होगा जैसा कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में हम देख सकते हैं। अतः प्रगतिशीलता विचार और प्रकाशन

---

१ त्रिशंकु (लेखक 'अज्ञेय') पृ० ७७।

को स्वच्छन्दता पर भी निर्भर करती है। जब लेखक और पाठक दोनों की बुद्धि विकसित और मस्तिष्क खुला हो, तभी प्रगतिशीलता आ सकती है।

इस प्रकार प्रगतिवाद काव्य के उद्देश्य की ओर संकेत करता है यह कवि शिक्षा के अन्तर्गत अपना स्थान रख सकता है पर काव्यशास्त्र के लिए नवीन सिद्धांत उपस्थित नहीं करता। प्रगतिवाद, इस धारणा का प्रचारक है कि काव्य या साहित्य को सर्वजन सुलभ, उपयोगी और उन्नति के पथ पर ले जाने वाला होना चाहिए। अतः इसके अन्तर्गत जो बातें हैं, वे हमारे काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के प्रयोजन में पहले से ही व्यक्त हो चुकी हैं और वे उसके उद्देश्य की ही ओर संकेत करती हैं। इस कारण से इस काव्य का कोई नवीन सिद्धांत नहीं माना जा सकता और काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इसका कोई महत्वपूर्ण या आवश्यक स्थान नहीं हो सकता है।

प्रयोगवाद

छायावाद की कलात्मक विशेषता जो प्रगतिवाद के आने से कुछ बाधित हो गई थी, अब फिर नवीन रूप में प्रयोगवाद के रूप में प्रकट हो रही है। इसमें नवीनता, *विलक्षणता और चमत्कारवाद की दृष्टि प्रधान है। इस पर युरोपीय और विशेषकर* अंग्रेज़ी काव्य की नवीन प्रवृत्ति का प्रभाव है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवि और आलोचक टी० एस० इलियट प्रयोगवाद के प्रमुख प्रेरक हैं। इसमें आज की नवीन बौद्धिक चेतना, नवीन जीवनदृष्टि को नवीन प्रतीकों, उपमानों और अप्रस्तुतों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयास देखने को मिलता है। इस प्रयोगवाद में आधुनिक हिन्दी काव्य के दो वर्गों को अलग अलग ढंग से प्रभावित किया है। जहाँ इस वाद ने गीत और सहज भावों को प्रकट करने वाले कवि को काव्य में नव्य उपमान सहज वर्णन, प्राकृतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने में सहायता पहुँचायी है वहाँ दूसरी ओर इसने कविता की सहज प्रतिमा से हीन कुछ व्यक्तियों की रचनाओं को नितान्त गद्य रूप में लिखने की एक भूमि भी प्रदान की है। कहीं कहीं तो चमत्कारवादिता और नवीनता प्राचीन अवर कोटि के चित्र-काव्य की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती हुई जान पड़ती है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इस नवीन वाद ने कुछ सुन्दर रचनाओं की सृष्टि में सहायता की है। गीतों और प्रगीतों में आने वाली एकस्वरता और पुनरुक्ति को समाप्त कर उन्हें एक नूतन *वाणी से संपन्न कर दिया है। इसके सहज प्रयोगों में अनुभूति और अभिव्यक्ति का भेद* मिट गया है और अनुभूति को अपनी सहज और प्राञ्जल अभिव्यक्ति मिल गई है, यद्यपि कुछ प्रयोगवादी अनुभूति को पूर्णतया काव्य से बहिष्कृत करने के प्रयास भी कर रहे हैं।

काव्यशास्त्र के दृष्टिकोण से यह अधिकांश प्रतीकवाद और बिम्बवाद को ही पुष्ट करता है। इसमें भी प्रतीक का योग कम परन्तु बिम्बात्मकता का प्रचुर मात्रा में व्यवहार हो रहा है। इसे एक वाद या प्रवृत्ति ही समझना चाहिए। इसके सहज और भावुक रूप से आधुनिक काव्य काफी आशान्वित है।

उपसंहार

ऊपर देख चुके हैं कि आधुनिक युग में जो अनेक साहित्यिक वाद फैले हुए हैं, उनका काव्यशास्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है, और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि इन 'वादों' में कोई भी वाद आधुनिक काव्य के लिए आवश्यक या उपयोगी नवीन सिद्धांत प्रदान करने में समर्थ नहीं है। इनके अन्तर्गत काव्य की पूर्ण व्यवस्था भी नहीं है अतः ये काव्यशास्त्र का स्थान नहीं ले सकते। हम भ्रमवश ही यह विश्वास सा करते रहे हैं कि ये काव्य सिद्धान्त हैं और आधुनिक काव्य का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। पर इस भ्रम को हमें अब दूर करके हिन्दी काव्य के लिए उपयोगी ऐसे शास्त्र का निर्माण करना आवश्यक है जो हिन्दी कविता और साहित्य को यथार्थ में प्रोत्साहन और सुगति प्रदान कर सके, और जिससे प्रेरणा पाकर कवि ऐसी कविता रचे कि सुनने वाला या पढ़ने वाला यथार्थ आनन्द पावे और अपने जीवन के वे क्षण उपयोगी और कृत कार्य समझे, जिनमें उसे इस प्रकार का आनन्द प्राप्त हुआ। यह शास्त्र साधारण पाठक और समालोचक के हाथ में ऐसा मापदंड दे सके जिससे कि कविता के भीतर का दूध और पानी अलग अलग किया जा सके। इसके परिणामस्वरूप ही सत्काव्य को प्रोत्साहन तथा दोषपूर्ण एवं कुरुचि-युक्त काव्य का निराकार हो सकेगा। तभी ऐसा काव्य भी रचा जायेगा जिसकी रचना से कवि को सन्तोष हो, समाज और देश को गौरव हो और जो पाठक के लिये भी अमूल्य निधि बन सके।

उपर्युक्त काव्यादर्शों के लिए दो बातें विचार्य हैं—प्रथम तो यह कि क्या कोई ऐसे नवीन सिद्धांत ढूँढे जा सकते हैं, जो आधुनिक काव्य को नवीन मूल्य प्रदान कर सकें। दूसरी बात यह है कि नवीन सिद्धांतों के अभाव में क्या प्राचीन काव्य-सिद्धांत उपयोगी नहीं हैं? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि विचार पूर्वक देखने से सिद्धांत एकदम नवीन कभी नहीं निकला करते। जो नवीन सिद्धांतों के रूप में युग-युग में हमारे सामने उपस्थित हुआ करते हैं, वे यथार्थतः प्राचीन सत्सिद्धांतों की युग के अनुकूल आवश्यक और नवीन व्याख्यायें हैं। इस दृष्टि से हम काव्य के पथ-प्रदर्शन के लिए जिस काव्य-शास्त्र का निर्माण करें उसमें यह आवश्यक है कि उपयोगी प्राचीन

काव्यादर्शों का व्यवहार करते हुए उनकी हम नवीन दृष्टिकोण से आधुनिक युग के लिए उपयोगी व्याख्या उपस्थित करें। इस प्रकार हम न केवल काव्य के लिये आदर्श रख सकेंगे, वरन् हम प्राचीन सिद्धांतों को भी एक कदम और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, उनका भी परिष्कार करेंगे। परम्परा से घृणा, उसका बहिष्कार या त्याग कभी भी जीवन के लिए आवश्यक नहीं, आवश्यक है उसका विकास और परिवर्तन। इसी विचार को सामने रख कर हमें काव्यशास्त्र के आवश्यक सिद्धांतों की नवीन व्याख्या उपस्थित करनी चाहिये जिससे उनका युगोपयोगी विकास हो सके।

इतना कर लेने के बाद हम कहेंगे कि आधुनिक काव्य की उन्हीं नवीन सिद्धांतों के अनुसार खरी व्याख्या होनी चाहिये। कवि स्वतंत्र होता है, यह हम मानते हैं। पर उसकी स्वतंत्रता और मौलिकता, उसकी ऊँचाई और सार्थकता में ही होती है, पतन और अवनति में नहीं। अधोगमन के लिये कवि को भी स्वतंत्रता नहीं देना चाहिये। इसके लिये आवश्यकता है, जनता की साहित्यिक शिक्षा की। प्रत्येक व्यक्ति को सत्काव्य का पारखी होना चाहिए। दूषित वस्तु को सहन करना जनता की रुचि के प्रतिकूल होना चाहिए। यदि हमारा काव्यशास्त्र ऐसा कर सके तो उसकी भारी सफलता है। साहित्य की एक एक पंक्ति, एक एक शब्द की जाँच होनी चाहिए और जहाँ भी दोष या गुण हो उनका दिग्दर्शन समालोचक का या काव्यशास्त्री का कर्तव्य है।

जहाँ हम जनता को इस प्रकार शिक्षित करने की बात कहते हैं वहाँ पर कवि की भी शिक्षा का प्रश्न आता है। कवि भी जनता का ही एक अंग है। उसमें भी अनभिज्ञता, अशिक्षा और सुरुचि के अभाव में बुराई आ सकती है। अतः उसकी स्वतंत्रता का ध्यान रखते हुए भी 'कवि शिक्षा' की बातों को निर्धारित करना आवश्यक है। ये बातें हम प्रचलित और सुरुचि पूर्ण साहित्य के भीतर से ही खोज कर निकाल सकते हैं। कवि को, विषय और वर्णन-शैली का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसके अन्तर्गत शब्द-चयन और भाव प्रकाशन की सामर्थ्य होनी चाहिए। बिना लोक का ज्ञान या प्रमाण आदि के कवि की प्रतिभा विकसित नहीं हो सकती। कवि की वर्णन-शैली के विविध ढंगों का निदर्शन काव्यशास्त्र के अन्तर्गत 'कवि शिक्षा' में होना चाहिए। कवि स्वयं जो कुछ कहे या लिखे उसका उसे स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। अपने विषय के प्रति उसकी स्पष्ट धारणा हो। भूलभुलैयाँ उपस्थित करना कवि का काम नहीं। उसे स्मरणीय उपयोगी तथ्यपूर्ण साहित्य की रचना करके लोक के बीच प्रतिष्ठित और सम्मान्य स्थान स्वयं बनाना चाहिए।

गुणों और दोषों की रूढ़ि और एकदम शास्त्रीय व्याख्या छोड़ कर नवीन व्याख्या और नवीन नाम भी आवश्यक हैं। गुणों और दोषों के ही ज्ञान से सुन्दर साहित्य विकास पाता है। अब वह दिन तो है नहीं कि जब हिन्दी में लिखने वाले ढूँढ़ने से मिलते थे। आज हिन्दी में लेखकों की कमी नहीं है, अत हमें उनके सम्मुख समय पर का आदर्श उपस्थित कर उनकी प्रतिभा के विकास में सहयोग देना चाहिए।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के ग्रन्थ जिनमें विषय विवेचन पूर्ण और नवीन ढंग पर हो, जिसमें नवीन रचनाओं को लेकर भली भाँति विचार किया गया हो, जिसमें युग परिवर्तन के साथ-साथ आवश्यक व्याख्या उपस्थित हो, साहित्य सेवी और कवि दोनों के सामने आना आवश्यक है। इस प्रकार के ग्रन्थों के अभाव में न आलोचक को कोई नियम या मापदंड मिलता है और न कवि को कोई मार्ग प्रदर्शक। यदि आलोचक पुराने सिद्धान्तों को लेकर उनके आधार पर आलोचना करता है तो उसकी खिल्ली उड़ाई जाती है और उसका रूढ़िवादी या पुरनिया कह कर अनादर किया जाता है। और यदि उन सिद्धान्तों को एकदम तिलांजलि दे दी जाय तो आलोचक की आलोचना में कोई तथ्य नहीं आ पाता। कवि भी नवीनता के फेर में पड़कर ऐसी राहों में भटकता रहता है जो निर्दिष्ट से दूर बीहड़ की ओर ले जाती है और उसकी प्रतिभा का सदुपयोग नहीं हो पाता। कभी-कभी तो 'पराई पतरी के भात' के समान हमें विराने चमकीले आदर्श इतने लुभावने लगते हैं कि उनकी चकाचौंध में चौंधिया कर हम अपनी वस्तुओं का बहिष्कार और तिरस्कार करने लगते हैं और एक समय ऐसा आता है जब कि हमें अपनी बातें भी विदेशीय विद्वानों के द्वारा पढ़नी पड़ती हैं। ऐसा अवसर बड़ा ही अमंगलकारी होता है। हमें अपने को पूर्ण रीति से पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए और अपने को पहले पहचान कर तभी दूसरे को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए।

आज वह समय फिर आया है जब हमें अपनी प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति का मूल्य फिर से आँकना है, नवीन प्रकाश में उसका तत्व समझना है और प्राचीन काव्य और शास्त्र की परम्परा को फिर से जाग्रत करना है। प्रस्तुत काव्यशास्त्र के इतिहास में सभी सूचनायें उपयोगी चाहे न हों पर उनकी जानकारी हमें आवश्यक है। उनके यथार्थ ज्ञान के बिना हम अपनी विकास सम्बन्धी आवश्यकतायें नहीं समझ सकते, अत इस ग्रन्थ की जहाँ पर इस दृष्टि से आवश्यकता थी कि हमारे प्राचीन, मध्य कालीन और अर्वाचीन काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों की सूचना सुरक्षित रहे, वहाँ दूसरी दृष्टि से भी इसका महत्व है। क्योंकि पूर्व कथित ग्रन्थों की सीमा और अपूर्णता को समझ कर ही हम आवश्यक अभाव को दूर करने का प्रयत्न कर सकेंगे।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

१ संस्कृत-ग्रन्थ

	लेखक	ग्रन्थ
१	अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द
२	अभिनव गुप्त	अभिनव भारती, ध्वन्यालोकलोचन
३	अमर देव	काव्यकल्पलतावृत्ति
४	आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक
५	कुन्तक	वक्रोक्तिजीवितम्
६	उद्भट	अलंकारसार संग्रह
७	केशव मिश्र	अलंकार शेखर
८	जयदेव	चन्द्रालोक
९	दंडी	काव्यादर्श
१०	पंडितराज जगन्नाथ	रसगंगाधर
११	भरतमुनि	नाट्यशास्त्र
१२	भानुदत्त	रस मंजरी, रस तरंगिणी
१३	भामह	काव्यालंकार
१४	भोज	सरस्वती कंठाभरण, शृंगार प्रकाश
१५	मम्मट	काव्य प्रकाश
१६	रुद्रट	शृंगार तिलक
१७	राजशेखर	काव्य मीमांसा
१८	वामन	काव्यालंकार सूत्र
१९	विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
२	व्यास	अग्निपुराण
२१	शारदातनय	भावप्रकाशनम्
२२	हेमचन्द्र	काव्यानुशासन
२३	क्षेमेन्द्र	कविकण्ठाभरण

२ हिन्दी-ग्रन्थ

	लेखक	ग्रन्थ
१	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	रसकलस
२	अर्जुनदास केडिया	भारती भूषण
३	उमाशंकर शुक्ल	नन्ददास ग्रन्थावली
४	कन्हैयालाल पोद्दार	काव्यकल्पद्रुम भाग १
५	,,	,, भाग २
६	कुलपति मिश्र	रस रहस्य
७	कृष्णबिहारी मिश्र	मतिराम ग्रन्थावली
८	कृष्णशंकर शुक्ल	केशव की काव्यकला
९	केसरी नारायण शुक्ल	आधुनिक काव्यधारा
१०	केशवदास	कविप्रिया
११	,,	रसिकप्रिया
१२	गुलाबराय	नवरस
१३	गंगाप्रसाद पाण्डेय	महादेवी का विवेचनात्मक गद्य
१४	चन्दबरदायी	पृथ्वीराज रासो
१५	चिन्तामणि त्रिपाठी	कविकुलकल्पतरु
१६	चिन्तामणि त्रिपाठी	शृंगार मंजरी
१७	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	काव्यप्रभाकर
१८	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	नायिका भेद शंकावली
१९	जयशंकर प्रसाद	कामायनी
२०	जयशंकर प्रसाद	काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध
२१	ज्योतिप्रसाद 'निर्मल'	देवयुग का काव्य-विमर्श
२२	जसवन्त सिंह	भाषा भूषण
२३	तुलसीदास	रामचरितमानस
२४	दूलह	कविकुल कण्ठाभरण
२५	देवदत्त	भावविलास, भवानीविलास रस विलास शब्द रसायन, प्रेम चन्द्रिका
२६	धीरेन्द्र वर्मा	विचार धारा
२७	नन्ददुलारे वाजपेयी	बीसवीं शताब्दी आधुनिक साहित्य

	लेखक	ग्रन्थ
२८	नागरी प्रचारिणी सभा	हिन्दी सर्च-रिपोर्ट्स
२९	पद्माकर	पद्माभरण जगद्विनोद
३०	प्रताप नारायण मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र	साहित्य पारिजात
३१	प्रतापनारायण सिंह	रसकुसुमाकर
३२	बड़थ्वाल (डा० पीताम्बर दत्त)	गोरखबाणी
३३	ब्रजरत्नदास	भारतेन्दु ग्रन्थावली
३४	बेनी (प्रवीण)	नवरस तरंग
३५	भगवती प्रसाद वाजपेयी	युगारम्भ
३६	भगवान दीन 'दीन'	अलंकार मंजूषा
३७	भिखारीदास	काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय
३८	भूषण	शिवराज भूषण
३९	महादेवी वर्मा	दीपशिखा, यामा, आधुनिक कवि भाग १
४०	महावीरप्रसाद द्विवेदी	रसज्ञ रंजन, साहित्यालाप, साहित्यसंदर्भ
४१	माताप्रसाद गुप्त (डाक्टर)	हिन्दी पुस्तक साहित्य
४२	मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु विनोद भाग १, २, ३, ४
	"	हिन्दी नवरत्न
४३	मुरारिदान	जसवन्त भूषण
४४	मोतीलाल मनारिया	डिंगल में वीर रस
	"	राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा
४५	रामकुमार वर्मा	आधुनिक कवि, भाग ३
	"	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
४६	रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि भाग १
	"	चिन्तामणि भाग २
	"	इन्दौर का भाषण
	"	जायसी ग्रन्थावली
		हिन्दी काव्य में रहस्यवाद
		हिन्दी साहित्य का इतिहास

	लेखक	ग्रन्थ
४७	रामधारीसिंह 'दिनकर'	रेणुका कुरुक्षेत्र, नीलकुसुम
	,,	हुंकार रसवन्ती
४८	रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (डाक्टर)	अलंकार पीयूष (पूर्वार्द्ध)
	रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (डाक्टर)	अलंकार पीयूष (उत्तरार्द्ध)
४९	राहुल सांकृत्यायन	हिन्दी काव्यधारा
५०	लछिराम	रावणेश्वर कल्पतरु और महेश्वर विलास
५१	लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'	काव्य में अभिव्यञ्जनावाद
	,,	जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त
५२	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (डाक्टर)	आधुनिक हिन्दी काव्य का इतिहास
५३	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	पद्माकर पञ्चामृत वाङ्मय विमर्श
५४	वेतवरिया	हिन्दी में नवरस
५५	श्यामसुन्दर दास (डाक्टर)	साहित्यालोचन
५६	श्रीकृष्णलाल (डाक्टर)	आधुनिक हिन्दी-काव्य का विकास
५७	शान्तिप्रिय द्विवेदी	युग और साहित्य, सामयिकी साहित्यिकी
५८	शिवसिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज
५९	सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'	त्रिशंकु
६०	सीताराम शास्त्री	साहित्य सिद्धान्त
६१	सुखदेव मिश्र	रसार्णव
६२	सुन्दर दास	सुन्दर विलास
६३	सुमित्रानन्दन पन्त	पल्लव, ग्राम्या युगवाणी, युगान्तर,
	,,	आधुनिक कवि भाग २
६४	सूरदास	सूर सागर
		साहित्य लहरी
६५	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	परिमल
	,,	प्रबन्ध पद्म
	,,	प्रबन्ध प्रतिमा
	,,	गीतिका, अनामिका
६६	सेनापति	कवित्त रत्नाकर
६७	हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर
६८	हरिवंश राय 'बच्चन'	निशा निमन्त्रण

३ हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ

क–'यानिक सग्रहालय' से डा० भवानीशंकर याज्ञिक के सौजन्य से प्राप्त

	लेखक	ग्रन्थ
१	अमृत कवि	चित्रविलास
२	उजियारे	रस चन्द्रिका जुगल प्रकाश
३	कालिदास	रघुविनोद
४	कृष्णभट्ट देवऋषि	शृंगाररस माधुरी
५	ग्वाल कवि	रसरंग
६	जनराज	कविता रसविनोद
७	देव	रसविलास, सुखसागर तरंग
८	नागर सहजराम	सहजराम चन्द्रिका
९	भोलानाथ	सुमन प्रकाश
१०	रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय
११	रूपसाहि	रूपविलास
१२	रंग खाँ	नायिका भेद
१३	लाल कलानिधि	वृत्त चन्द्रिका
१४	सोन कवि	नवनरस चन्द्रोदय
१५	सोमनाथ	रसपीयूषनिधि

ख–प० कृष्णबिहारी मिश्र गधौली के पुस्तकालय से श्री व्रजकिशोर मिश्र के सौजन्य से प्राप्त।

	लेखक	ग्रन्थ
१	चन्दन	काव्याभरण
२	जगतसिंह	साहित्य सुधानिधि
३	यशवन्त सिंह	शृंगारशिरोमणि
४	लछिराम	रावणेश्वर कल्पतरु
५	वैरीसाल	भाषाभरण
६	श्रीपति	काव्य सरोज

ग—'दतिया राजपुस्तकालय' से प्राप्त।

	लेखक	ग्रंथ
१	अज्ञात	कांताभूषण
२	कालिदास	वधूविनोद
३	गोप कवि	रामचन्द्र भूषण
४	चिंतामणि त्रिपाठी	शृंगार मंजरी
५	नारायण कवि	नाट्यदीपिका
६	याकूब खाँ	रसभूषण
७	रामसिंह	रसनिवास, अलंकार दर्पण
८.	शिव प्रसाद	रसभूषण
९	सुकवि प्रताप	काव्यार्थ कौमुदी
१०	सुकवि रत्नेश	अलंकार दर्पण

घ—'सवाई महेन्द्र पुस्तकालय ओरछा' (टीकमगढ़) से प्राप्त।

	लेखक	ग्रंथ
१	अज्ञात	काव्याभरण
२	उदयनाथ कवीन्द्र	रसचन्द्रोदय
३	कुमारमणि भट्ट	रसिकरसाल
४	गोप	रामचन्द्र भूषण रामचन्द्राभरण
५	दामोदर देव	अर्थालंकार मंजरी
६	देव	काव्य रसायन
७	नवलसिंह कायस्थ	रसिकरंजनी
८.	परमानन्द	रसतरंग
९	रसलीन	रसप्रबोध
१०	रामदास	कविकल्पद्रुम
११	लछिराम	महेश्वर विलास
१२	श्रीमं नृपति रणधीर सिंह	काव्य रत्नाकर
१३	सूरति	काव्यसिद्धान्त

ङ—काशी नागरी प्रचारिणी सभा-पुस्तकालय' से प्राप्त

	लेखक	ग्रंथ
१	चिन्तामणि	कविकुलकल्पतरु
६	मुरारिदान	जसवन्त जसोभूषण

लेखक	ग्रन्थ
६. लछिराम	महेश्वर विलास
२. तोष	सुधानिधि
७. मदन	रस रत्नावली
४ प्रतापसाहि	काव्य विलास
८ रामसिंह	रस शिरोमणि
३ नवान	रसतरंग
५ बलभद्र	रस विलास
११ सोमनाथ	शृंगार विलास
१० सेवादास	रसदर्पन

४—पत्र-पत्रिकायें

१ खोज रिपोर्टें, नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा सम्पादित
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका
३ ब्रज भारती
४ विशाल भारत
५ व र ादाम्दर जन चन्दाव का साताहिक
६ सरस्वती
७ साहित्य समालोचक
८ साहित्य सदन
६. साहित्य सम्मेलन पत्रिका
१० हिन्दी प्रदीप
११ हिन्दुस्तानी

५—अंग्रेजी ग्रन्थ

AESTHETICS by Benedetto Croce
A HISTORY of AESTHETICS by Bosanquet.
A HISTORY OF CRITICISM by Saintsbury
ANATOMY OF POETRY by William Ellis
A NEW STUDY OF ENGLISH POETRY by Henry New bolt
AN INTRODUCTION TO THE STUDY OF LITERATURE by W H. Hudson.
EVOLUTION OF HINDI POETICS by R S Rasal (Typed copy)
GREEK VIEW OF POETRY by E. E. Sikes.
INTRODUCTION TO SAHITRYA DARPAN by P V Kane
KAVYA PRAKASH OF MAMMAT by A. A. Gajendra Gadkar.
LOCI CRITICI by G Saintsbury
METHODS AND MATERIALS OF LITERARY CRITICISM by C M Gaylay
MODERN POETRY by Louis Macneice.
PHILOSOPHY OF FINE ART Volume IV by Hegel.
PRINCIPLES OF CRITICISM by W Worsfold
PRINCIPLES OF LITERARY CRITICISM by I A Richards
RUDIMENTS OF CRITICISM by Lamborn.
STUDIES IN THE HISTORY OF SANSKRIT POETICS by S K De.
THE CHAMBER S TUENTIETH CENTURY DICTIONARY
THE ENCYCLOPÆDIA BRITANICA.
THE INTERNATIONAL DICTIONARY by Webster
THEORY OF POETRY by L. Abercrombie.
THE OXFOFD DICTIONARY

अनुक्रमणिका

१—ग्रन्थानुक्रमणिका

ग्रन्थ	पृष्ठ
'अ'	
अंगदपद	१२८
अग्निपुराण	१५ १६० २११ ३१८
अनामिका	४००
अनुप्रास विनोद	११३
अभिनव नाट्यशास्त्र	३३७
अभिनव भारती	६
अरस्तू का काव्य सिद्धान्त	३३७
अरस्टाटिल ऑन द आर्ट आव पोएट्री	९ १०
अलबेलेलाल जू को छप्पय	१६०
अलबेले लाल जू को नखशिख	१६०
अलंकार	१६
अलंकार आभा	३८
अलंकार गंगा	३७, ११३
अलंकार-चन्द्रिका	३७ ४७
अलंकार-चन्द्रोदय	३७ ११८ ११९, १२०
अलंकार-चिन्तामणि	३८ १७०
अलंकार दर्पण	३८ १४८ १५२, १५५
अलंकार दीपक	३८ १६४
अलंकार पीयूष	२ ३८ १३८, २०७, २०८, २०९, २१० २३० २३१ ३५२
अलंकार-पंचाशिका	८१
अलंकार प्रकाश	३८, १६४ १९७, २१२
अलंकार प्रश्नोत्तरी	१९९
अलंकार भूषण	१८२
अलंकार भ्रम-भंजन	३८ १८२

ग्रन्थ	पृष्ठ
अलंकार मणि-मंजरी	३८, १४८
अलंकार माला	३७, १०७
अलंकार-मंजरी	३८, १९४, १९५, १९७, १९८, १९ २०९ २११
अलंकार मंजूषा	३८, २०४ २०५, २०६, २११ २१ २२८
अलंकार रत्नाकर	३७ ८०
अलंकार-शेखर	३५, ५३ ५४, ५८, ५९ २०३
अलंकार सर्वस्व	१६
अलंकार सार संग्रह	१६ २२ ३५
अलंकार-सूत्र	१६
अवधूत भूषण	१५२
अष्टाध्यायी	६

'आ'

आधुनिक कवि	३७२, ३७३ ३७४, ३७५
आधुनिक काव्यधारा	३५९ ३६१
आधुनिक हिन्दी साहित्य	३५६
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	३६०, ३६१
आनंद द सब्लाइम	११
आनन्द रस	४१
आमोद परिमल	७६
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत	३३७
आल्हा	२५३

'इ'

इण्ट्रोडक्शन टु काव्य प्रकाश	१२
इण्ट्रोडक्शन टु साहित्य दर्पण	८ १४, १७ २२ २ , २४
इंदौर वाला भाषण	२४८, २४९, २६०, २६१, २६२, २६ २८७, २८८, २९

'स'

ग्रन्थ | पृष्ठ

'ह'

'त्र'

२—लेखकानुक्रमणिका

लेखक	पृष्ठ
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	२२२ ३१५ ३५६ ३५७ ३५८, ३६१, ३६२
भिखारी दास	३६ ४१ ४२ १२१ १३० १३१ १३२, १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३६ १४० १४१ १४२ १४४ १८८, २०१ २०३ २२६ २३२
भूपति	३७ १२
भूषण	३७ ८१ ८४ ८५, ८६ १३१ १३२, १३३ १७६ २०६
भोगीलाल दुबे	४१
भोज	१६ २२ २४ ३५ १५४ २०३ २२२
'म'	
मतिराम	३७ ४१ ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ६१ १३२ १३३ १६१ १७६
मनीराम	१८
मम्मट	१६ १६ २१ २७ ३५ ४६ ५५ ५६ ६१ ७१ ७२ ७३ ७४, ८७ १२१ १३१ १३४ १३७ १४६, १६७ १६६, १७१ १६७ २०३ २११ २२५, ३१० ३३१ ४०६
महादेवी वर्मा	३६६, ३६८ ३७१ ३७२ ३७३ ३७५ ३८४, ३८५ ३८६ ३८७ ३९० ३४१ ४०२
महावीर प्रसाद द्विवेदी	९१, २३८, २३९ २४० २४१, २४२ २४३ २४४ २४६ २४७ २५०, २६२ ३०८, ३६२, ३६६
महिम भट्ट	१९६
माखनलाल पाठक	४१
मान कवि	१५९
मारवाड़	१२